

नयी कहानी में सामाजिक संवेदना के रूप

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध]



शोध-कर्त्री
शैलबाला सिनहा, एम० ए०



निर्देशक
डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णैय,
एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय



१. भूमिका पृष्ठ १

२. पहला अध्याय : पृष्ठभूमि

विभाजन की प्रतिक्रिया - खंखसोन्मुख मानवता तथा धृणा-विदेष की ऊंची
मीनारें - योजनाएं, सामाजिक कुंठा और टूटती हुई वास्तारं - विशृंखलित
मान्यतारं और अवसरवादिता का नया जीवन दर्शन - तथाकथित नया समाज
और नया व्यक्ति - नई राजनीतिक व्यवस्था और विम्मान्त मध्यवर्ग - मानव
चेतना का नूतन स्वरूप और दृष्टिकोण का भेद । पृष्ठ ५

३. दूसरा अध्याय : परम्परा एवं स्वरूप

नई कहानी : परिभाषा एवं संदर्भ सूत्र - नई कहानी : व्यष्टिगत चेतना और
समाष्टिगत चेतना में अन्तर्विरोध - लेखकीय दृष्टिकोण और प्रतिबद्धता -
प्रेमचन्दोत्तर कहानी और स्वातन्त्र्योत्तर नई कहानी में सामाजिक संवेदनशीलता
की टकराव और परिवर्तनशीलता - भारतीय वात्मा का अन्वेषण और
वांचलिकता का उन्मेष । पृष्ठ ४३

४. तीसरा अध्याय : राजनीतिक घरातल और विघटन की भूमिका

नए व्यक्ति की वाशा-अपेक्षारं - राजनीति के बदलते मानदण्ड - लोकतन्त्र
काम तानाशाह - भ्रष्टाचार और मृत्यों का संक्रमण - अंधकारपूर्ण मविष्य
और सामाजिक विघटन - चीनी-पाकिस्तानी आक्रमण तथा नई पीढ़ी की
निष्क्रियता - देश की अनिश्चित भुंखती तसवीर - ग्रामक एकता एवं
स्वार्थपरता का बनोहा दस्तावेज़ । पृष्ठ ८७

५. चौथा अध्याय : वार्थिक ढांचा और टूटी हुई जेसासियां

वार्थिक पुनर्निर्माण के सोसते प्रयत्न और विशृंखलता का व्यापक विस्तार -
वार्थिक विवशता एवं कुंठा की अभिनव दिशारे - मोह-मंग और नेराश्य
की रेखारे - दिशाहीन विद्रोह और पीढ़ियों का संघर्ष - महानगरों का
यांत्रिक जीवन और उलझे हुए लोग - संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन ।

पृष्ठ १८३

६. पांचवां अध्याय : समाज का प्रजातांत्रिक ढांचा और व्यक्ति स्वातंत्र्य

प्रजातन्त्र और नए सामाजिक प्रतिमान - प्रगतिवाद : एक सनी दात - मतवाद
का वागृह और मिथ्या वादरी - लेखकीय व्यक्तित्व का हास - व्यक्ति वैशिष्ट्य
का विघटन - व्यक्ति स्वातंत्र्य का वान्दोलन - व्यक्तिवाद और नई कहानी -
प्रजातांत्रिक मूल्यों का रूप - हिन्दी नवलेखन तथा मोगी गई विशिष्ट अनुभूतियों
की प्रधानता - नई कहानी में निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति - निजी
अनुभूतियां बनाम कटा हुआ व्यक्ति ।

पृष्ठ २४४

७. छठा अध्याय : नवीन भैतिक मूल्यों की सोज और दृष्टिकोण में अन्तर

वाधुनिकता और बोध की प्रक्रिया - जाणवादी जीवन दर्शन तथा उदासीनता -
केवल जीवने के लिए जीने की प्रवृत्ति - अस्तित्वबोध, मृत्यु तथा संक्रास - उत्तर-
दायित्वहीनता - यथार्थ जेतना के विविध वायाम - अनुभूति की प्रामाणिकता-
प्रतिबद्धता तथा सामाजिक दायित्व - तथाकथित विद्रोही पीढ़ी और दृष्टिकोण
में अन्तर ।

पृष्ठ २७७

८. सातवां अध्याय : सतीबों पर टंगे प्रश्न और साम्प्रतिक नई कहानी

भारतीयता और संस्कृति की उपेक्षा - सेक्सजनित दृष्टिकोण और नवीन भैतिक
मूल्यों की आवश्यकता - वादशीवादी मानदण्ड और दुरागृह का उत्कर्ष -
मानवतावादी दृष्टिकोण और जीवन का सतही स्पर्श - परम्परा का निषेध एवं

आचरण की मृष्ट मर्यादा - आत्मान्वेषण अथवा आत्म संकेन्दुण -
बौद्धिकता का बागुह और प्रहर युग-बोध - मध्ययुगीन मानसिकता अथवा
प्राच्य का मोह - नास्तिकता और टूटी हुई बेसाक्षियां । पृष्ठ ३१४

६. उपसंहार ।

पृष्ठ ३७१

१०. अनुक्रमणिका : १. सौध-प्रबंध में विवेच्य कहानी-संग्रह ।
२. सहायक ग्रन्थ ।
३. पत्र-पत्रिकाएं ।

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत गतिरोध की अवस्था में था। अचानक अवरोध टूट गया और वह बान्धोलित हो उठा। इस राष्ट्रीय बान्धोलन का मूल उद्देश्य ब्रिटेन का आर्थिक शोषण समाप्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। स्वतन्त्रता ने उसमें नई स्फूर्ति भर दी। विगत दो सौ वर्षों में भी उतना परिवर्तन नहीं हो सका था, जितना गत दो दशकियों में हुआ है।

भारत एक अरसे से पिछड़ा हुआ देश था। स्वतन्त्रता ने उसमें नयी वास्था भरी - प्रगति की अब उसमें अदम्य आकांक्षा जड़ उठी थी। प्रगति की ओर उन्मुख यह परिवर्तन कई दिशाओं में हुआ। पूर्वनिर्मित मूल्यों का विघटन तथा रुढ़ियों एवं टेक्न का विरोध हुआ। अन्तर्धैयवित्तक सम्बन्धों तथा नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों में भी आमूल परिवर्तन हुए। इस प्रकार देश के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक प्रतिमानों में तो अंतर आया ही, पर विशेष अंतर उसके दृष्टिकोण में आया। प्राचीन मूल्य तोड़े गए - नवीन मूल्यों की स्थापना हुई।

इसे एक प्रकार से बौद्धिक उन्मेष का युग कहा जा सकता है। दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो गया। लोग धर्म-निरपेक्ष समाज एवं राष्ट्र की स्थापना की इच्छा करने लगे। तटस्थता की नीति ने बौद्धिकता को जन्म दिया। इस बौद्धिकता ने व्यक्तिवाद को प्रथम दिया और व्यक्ति फिर 'अपने ही में' : अहं में घिर गया। अपनी संस्कृति मूलकर वह बुभुक्षित, बीटनीक और दिगम्बर पीढ़ियों के उदय का कारण बन बैठा। सार्वत्रिक, कामू तथा काफ़का के प्रभाव ने बुद्धिजीवियों को तीव्रता से जाणवादी दर्शन की ओर खींचा। प्रायः जीवन से लोग उदास हो गए। केवल जीने के लिए जीने की प्रवृत्ति संक्रामक रोग की भांति फैल गई। उत्तरदायित्व, देश के सही रूप और उसकी आत्मा के साथ-साथ लोग जीवन के अभिप्राय को भी भूल

संयुक्त परिवार जब व्यक्तियों में टूट गए । समाज के प्रति इन टूटे हुए व्यक्तियों का विद्रोह और अधिक उग्र हो उठा । मध्य वर्ग तो स्वयं को ही सर्वहारा महसूस कर रहा था । वह न तो निम्न वर्ग से समझौता करने को तैयार था और न ही उच्च वर्ग का दम्भ चुपचाप सह लेने को । फलतः उपेक्षित, टूटते हुए मध्य वर्ग में नेतृत्व की भावना बलवती हो उठी । समाज के प्रति उसका रुख आक्रामक हो उठा ।

कहानीकार समाज के सबसे अधिक निकट होता है, क्योंकि वह अत्यन्त संवेदनशील चिन्तक है और उसका चिन्तन सामाजिक वर्गों को ही आधार बनाकर चलता है । कहानी - व्यक्ति, समाज अथवा देश से भिन्न अलग कोई वस्तु नहीं है । हर व्यक्ति, हर समाज, हर देश अपने आप में एक कहानी है । अतः व्यक्ति, समाज अथवा देश के परिवर्तनों की मली भांति समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम कहानी का सहारा लें । कहानी जितनी सजीवता और यथार्थता से इन परिवर्तनों को अभिव्यक्त करती है, उतना सम्भवतः साहित्य का कोई अन्य विधा नहीं कर पाती । वस्तुतः सामाजिक संवेदना पुस्तक रूप में कहानी के माध्यम से ही सम्प्रेषित होती है ।

पुस्तक शोध प्रबन्ध में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज की विभिन्न परिस्थितियों पर किंचित विस्तार से विचार किया गया है ताकि सामाजिक संवेदना के विविध पक्ष स्पष्ट हो सकें । उसके बाद कहानियों का विवेचन किया गया है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि नई कहानी में उनकी अभिव्यक्ति हुई है या नहीं । सुविधा के लिए ही अध्ययन को इस प्रकार पांच-पांच वर्षों के खानों में विभाजित कर दिया गया है । इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो प्रवृत्ति आज से पांच वर्ष पूर्व थी, वह आज भी है अथवा नहीं है । हर प्रवृत्ति किसी-न-किसी रूप में हर काल में विद्यमान रहती है । यह नहीं हो सकता कि एक प्रवृत्ति किसी काल विशेष में ही सीमित हो जाए और दूसरे पांच सालों में न प्रवेश करे । या किसी एक काल के लेखक ने पांच वर्षों के दूसरे काल में लिखना बन्द कर दिया हो ।

उनकी कहानियों का विवेचन अलग-अलग अध्यायों में किया गया है। उसके पीछे मूल उद्देश्य यह था कि उस काल की मूल सामाजिक संवेदनाएं क्या थीं और हमारा कहानीकार क्या लिख रहा था। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जहां तक कहानीकारों के विश्लेषण का प्रश्न है, दृष्टि संग्रह पर नहीं, चयन पर ही अधिक केन्द्रित रही है। कहानीकारों की एक बहुत बड़ी मीढ़ हमारे मध्य उपस्थित है। उन सबको समेटना सम्भव नहीं था। वह शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य भी नहीं था। जिन कहानीकारों को नहीं लिया गया है,, उनके प्रति किसी प्रकार की अवमानना का भाव नहीं, बल्कि सीमा का ध्यान रहा है।

अभी तक नई कहानी पर जो पुस्तकें आई हैं, वे अधिकांशतः कहानीकारों की ही हैं। कहना न होगा कि उनमें तटस्थता का अभाव है। स्वतन्त्र चिन्तन या पूर्वाग्रहों से मुक्त विश्लेषण उनमें नहीं प्राप्त होता। नया कहानीकार यह दावा करता है कि उसकी प्रतिबद्धता समाज के प्रति है, मानव-मूल्यों के प्रति है, मानवीय मर्यादा के प्रति है। ऐसी स्थिति में कहानियों में अभिव्यक्त सामाजिक संवेदना का महत्व बढ़ जाता है। हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का कोई अध्ययन किया नहीं गया है और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस दिशा में पहला विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अक्षय डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय जी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है। सही अर्थों में वे मानुष सत्य हैं। उन्होंने न केवल अनेक कठिनाइयों में प्रोत्साहन ही दिया बल्कि अत्यन्त व्यस्त समय में से पर्याप्त समय निकालकर प्रबन्ध का एक-एक शब्द पढ़ा है और सत्परामर्श दिया है। इस प्रबन्ध में जो कुछ भी व्यवस्थित है, उन्हीं की देन है, उन्हीं के परिश्रम का परिणाम है। उनके प्रति मैं विनम्र भाव से अपनी श्रद्धा प्रकट करती हूं। पूजनीया श्रीमती राज वाष्णीय जी की मैं कम आभारी नहीं हूं, जिन्होंने अत्यन्त सौहार्दपूर्ण प्रेरणा दी और अनेक सुझाव दिए।

उन लेखकों एवं विद्वानों के प्रति भी आभारी हूं, जिनकी कृतियों की सहायता से

ही यह कार्य पूरा हो सका । उन सबके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक है, जिन्होंने जाने-अनजाने पुस्तकों की व्यवस्था की है या विचार विमर्श में सहायता दी है ।

श्रीधामसिंह ५.

- शेतबाला सिन्हा

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद-२

२ : पहला अध्याय : पृष्ठभूमि

- विभाजन की प्रतिक्रिया
- ध्वंसोन्मुख मानवता तथा घृणा-विदेश की ऊंची मानारें
- योजनाएं, सामाजिक कुण्ठा और टूटती हुई वास्त्याएं
- विशृंखलित मान्यताएं और अवसरवादिता का नया जीवन दर्शन
- तथाकथित नया समाज और नया व्यक्ति
- नई राजनीतिक व्यवस्था और विस्मयान्त मध्य वर्ग
- मानव चेतना का नूतन स्वरूप और दृष्टिकोण का भेद
- सांस्कृतिक टकराव और धार्मिक अस्वीकृति का नया उन्मेष
- अर्चना का अभिनव स्वरूप और 'नए' व्यक्ति का आविर्भाव

● विभाजन की प्रतिक्रिया

१९४६ में अन्तरिम सरकार बनने के साथ भारतवासियों को प्रभावशाली सभा एवं अधिकार सौंप दिए गए। अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधित्व से सरकार में एकता का अभाव उत्पन्न हुआ और पूरे देश में हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ गया। १६ अगस्त १९४६ की भीर से तीन दिन पश्चात् सुबह तक केवल कलकत्ता में छह हजार व्यक्तियों का हत्या की गई या उन्हें ज़िन्दा जला दिया गया तथा अन्य बीस हजार व्यक्तियों के ऊपर आक्रमण कर उन्हें बुरे घोंपे गए, महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार किया गया तथा उन्हें बेघरबार कर दिया गया। उनके मकान पूरी तरह जला दिए गए। बहरघण्टे तक कलकत्ता जिस प्रकार आग का लपटों में जलता रहा, चीरू और चित्लाहट के बीच घृणास्पद दृश्य जिस प्रकार घटित होते रहे और निदोष व्यक्तियों की हत्याएं होती रहीं, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि केवल लोगों का हत्या नहीं हुई, भविष्य के प्रति महान् वाशा का भी हत्या हुई। इस लूट-पाट और दंगे ने न केवल भारत का स्वरूप परिवर्तित कर दिया, वरन् इतिहास की धारा को एक नया आयाम दिया। जिस प्रकार कई दिनों तक लार्से चौरंगा तथा डलहौजी स्ववायर पर सड़ता और विगलित होती रहीं और थोड़े से कूड़ा उठाने वाले लोग जिस प्रकार उन्हें झटूटा करके सफाई कर रहे थे, उससे वे न केवल सड़ी-गली लार्से उठाते रहे, वरन् खसण्ड भारत के सारे सूत्र भी उठाकर फेंकते रहे।

गांधीजी ने विभाजन के परिणामों को भविष्यदृष्टा होने के नाते भली भांति समझ लिया था और इसीलिए वे इसका तीव्र विरोध कर रहे थे।^१ लेकिन स्वयं कांग्रेस

१. लियोनार्ड मोज़ले : द लास्ट डेज़ आफ़ द ब्रिटिश राज (१९६१) लन्दन, पृ० ११६-

"Gandhi was still vehemently proclaiming his adamant opposition to the partition of the country - 'Let it not be said that Gandhi was a party to India's vivisection'... But everyone today is impatient for Independence. Congress has practically decided to accept partition. They have been handed a wooden loaf in this new plan. If they eat it, they die of colic. If they leave it, they starve."

में उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो चली थी कि उनका विरोध प्रभावशाली न रह गया था । कांग्रेस कार्य समिति में प्रस्ताव जब उनकी अनुपस्थिति में पास हो नहीं कर दिए जाते थे, परन्तु उन्हें कतार में नहीं जाते थे । जवाहरलाल नेहरू उस समय कांग्रेस अध्यक्ष थे । जब पत्रकारों ने उनसे पूछा कि विभाजन का कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा समर्थित कर दिए जाने का अभिप्राय क्या पूर्ण स्वाकृति है, तो नेहरूजी ने फिफ्थ से कहा कि हम किसी शर्त से प्रभावित नहीं हैं और कोई परिस्थिति आने पर अपना इच्छानुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं । जब पत्रकारों ने फिर पूछा कि क्या इसका अभिप्राय यह है कि कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव सुधारा जा सकता है, तो उन्होंने कहा कि कांग्रेस अध्यक्ष होने के नाते इस प्रस्ताव को संशोधित करने का उनका पूरा हरादा है । हम अल्पसंख्यकों की समस्या का कोई समाधान सौज अवश्य लेंगे, पर किसी बाहरी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करेंगे । ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप तो कदापि नहीं ।

मार्केल ब्रेशर के अनुसार नेहरूजी के बीसवीं के सार्वजनिक जीवन का यह सर्वाधिक तेज़ और उत्तेजनात्मक भाषण था । यह उनकी भाषण शक्ति का था । प्रस्ताव को एक बार स्वीकार कर लेने और फिर संशोधन का बात ने जिन्ना को यह कहने का अवसर दे दिया कि कांग्रेस अल्पसंख्यकों के साथ विश्वासघात कर रही है और पाकिस्तान का निर्माण इन परिस्थितियों में और भी अनिवार्य है । मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि भावनावर्षों में बहकर जवाहरलाल अक्सर गर्म बातें कह जाते हैं, जिसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया होता है । उनका १९४६ का ग़ुलती की भारत की बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी । जवाहरलाल जो यह समझते थे कि अलण्ड भारत समस्या उत्पन्न करेगा, इसलिए धीरे-धीरे उन्होंने अपने विचारों में संशोधन कर लिया ।

१. मार्केल ब्रेशर : नेहरू (१९५६) वाक्सफोर्ड - पृष्ठ २१६ - " A larger

India would have constant troubles, constant disintegrating pulls. And also the fact that we saw no longer other way of getting our freedom in the near future, I mean. And so we accepted it and said, let us build up a strong India."

पर नेहरू जी के भाषण की प्रतिक्रिया बड़ी मयानक हुई। जिन्ना के कहने पर मुस्लिम लीग की २७ जुलाई १९४६ को बैठक हुई और उसने कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को दो गई स्वीकृति वापस ले ली। हिन्दू-मुस्लिम फिर अलग-अलग कैम्पों में बंट गए और घृणा तथा अविश्वास की दीवारें खड़ी हो गई। इससे बिना विभाजन के पूर्ण स्वतन्त्रता का स्वप्न सपिष्ट हो गया।

जवाहरलाल जी ने विभाजन को बुराई मानते हुए जगत्या उसे स्वीकार कर लिया। वास्तव में अब उनमें संघर्ष की कामता शेष नहीं रह गई थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।^१ वह व्यक्ति जो लम्बे समय तक अलण्ड भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करता रहा और जिन्ना तथा मुस्लिम लीग का हर बात ठुकराता रहा, वह माउन्टबेटेन को कुशुक्ता एवं लेडी माउन्टबेटेन के सौन्दर्य एवं सहानुभूति से एक महाने में ही इतना परिवर्तित हो गया कि उसने विभाजन पर अपनी स्वीकृति सहज दे दी। भारत के इतिहास का यह सर्वाधिक गम्भीर त्रासदी है। जनता के सामने जिन्ना एक सौम्य तथा संतुलित व्यक्ति के रूप में जाने जाते थे और नेहरू की कठोर बातों को अपने ढंग से सह लिया करते थे, लेकिन विभाजन की स्वीकृति से उन्हें घोर आश्चर्य हुआ। उन्होंने पाकिस्तान के लिए नेहरू और कांग्रेस से समर्थन पाने की कभी आशा न की थी। वास्तव में जो लोग उन्हें निकट से जानते थे, उनका कहना है कि उन्होंने कभी पाकिस्तान बनने की आशा मन में नहीं की थी, ऊपर से वे चाहें जो कुछ कहते रहे हों। और अब जवाहरलाल की स्वीकृति से वे सहज ही अपनी सफलता को चरम शिखर पर सँडे थे।

१. लियोनार्ड मोज़ेले : द लास्ट डेज़ आफ ब्रिटिश राज (१९६१) लन्दन -

पृष्ठ २४८ - "But Pandit Nehru came nearer the truth in a conversation with the author (Leonard Moselay) in 1960-
"The truth is that we were tired men, and we were getting on in years too. Few of us could stand the prospect of going the prison again and if we had stood out for a united India as we wished it, prison obviously awar

गांधीजी में भी अब इतनी शक्ति न रह गई थी कि वे नेहरू जी को रोक सकते और घटनाओं के प्रवाह की दिशा बदल सकते। उस समय वे बंगाल में थे। जब उन्होंने कांग्रेस द्वारा विभाजन मान लिए जाने की बात सुनी तो तुरन्त हाँ दिलाया जाए पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। वायसराय के साथ एक भेंट में गांधीजी ने पूर्ण शक्ति के साथ असफल भारत के लिए संपर्क करने की अपील की और कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को एक बार फिर बदलने का आग्रह किया। माउण्टबेटन ने अपना असमर्थता प्रकट की और कहा कि यदि वे जिन्ना को विश्वास में ले सकें, तभी कुछ हो सकता है। गांधी-जिन्ना वर्षों बाद अकेले में जिन्ना के जोरंगजेब रोड पर स्थित निवासस्थान पर ६ मई, १९४७ को मिले, पर कोई नतीजा नहीं निकला। संयुक्त बयान में कहा गया कि गांधीजी ने विभाजन का पूर्ण विरोध इस आधार पर किया कि इसके परिणाम भयंकर होंगे, जबकि मेरे विचार से पाकिस्तान बनने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। यह गांधीजी का बहुत बड़ा असफलता था।

मौलाना आज़ाद ने वायसराय से भेंट की और विभाजन की प्रतिक्रिया के प्रति उन्हें सचेत किया^१, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला। और भारत-पाकिस्तान का विभाजन हो गया।^२ जिन्ना, जो मुसलमानों के हित की रक्षा करने में अपने को

१. मौलाना आज़ाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम (१९६०) लन्दन - पृष्ठ १३५ -

"I also asked Lord Mountbatten to take into consideration the likely consequences of the partition of the country... Even without partition, there had been riots in Calcutta, Noakhali, Bihar, Bombay and the Punjab. Hindus had attacked Muslims & had attacked Hindus. If the country was divided in such an atmosphere there would be rivers of blood flowing in different parts of the country and the British would be responsible for the carnage."

२. विशेष विवरण के लिए देखिए --

- (क) रिचार्ड्स सांझ्यण्ड्स : द मेकिंग ऑफ पाकिस्तान (१९५०) लन्दन।
- (ख) सर फ्रान्सिस टूकर : व्हाइट मेमोरी सर्ज (१९५०) कैम्ब्रिज।
- (ग) ए० कैम्पबेल जानसन : मिशन विद माउण्टबेटन (१९५१) लन्दन।
- (घ) बी० पी० मेनन : द ट्रांसफर ऑफ पावर इन इण्डिया (१९५७) लन्दन।
- (च) पेण्डेरल मून : डिवाइड इण्ड विदर (१९६१) लन्दन।
- (छ) ह्यूज टिंकर : एक्सपेरिमेंट विद फ्रीडम : इण्डिया इण्ड प

अकेला समझते थे, विभाजन के सप्ताह भर पूर्व दिल्ली में एक विदाई समारोह में एक प्रश्न के उत्तर में कहा कि भारत में मुसलमानों के साथ अब क्या होगा, उसका ज़िम्मेदार उन पर नहीं है। उन्होंने दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को सबसे पहले विदाई दे दी। वे पाकिस्तान में सदर बनकर ईश्वर की भांति पूजे जाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त न तो इस्लाम के प्रति, न मुसलमानों के हितों के प्रति उन्हें कोई चिन्ता थी।

● ध्वंसोन्मुख मानवता तथा धृणा-विद्वेष की ऊंची मानार्थें

विभाजन के साथ ही जैसे मानवता का विध्वंस हो गया और मनुष्य-मनुष्य के बीच केवल धृणा-विद्वेष ही शेष रह गया। मुसलमानों ने हत्याओं और लूटपाट का जो सिलसिला प्रारम्भ किया, उसमें प्रभावशाली हिन्दू जाति अत्यधिक दबाव सहते हुए भी तटस्थ ही रही और बदला लेने के इस युद्ध में उनकी भूमिका नगण्य रही। लेकिन जब लाहौर में सिक्खों के ऊपर अमानवीय अत्याचारों की कहानियाँ पहुँचीं तो अनृतसर में मुसलमानों के प्रति बदले की कार्यवाही प्रारम्भ होने से न रह सकी। दिन-प्रतिदिन हत्याओं, बागजनी और लूटपाट बढ़ता रहा। लाहौर के उत्तर में गुजरानवाला में मुसलमानों ने असंख्य सिक्खों को मौत के घाट उतार दिया। मध्य पंजाब के हर कोनों से विनाशालीला का दहला देने वाली कहानियाँ चारों तरफ फैलने लगीं।

अगस्त १९४७ के बाद कुछ ही महीनों के अन्दर लगभग डेढ़ करोड़ हिन्दू, सिख तथा मुसलमान अपना घर छोड़ने एवं रक्तपात से बचने के लिए सुरक्षित स्थानों पर भागने के लिए बाध्य हो गए। इसी अवधि में लगभग दूह लाख व्यक्तियों का नृशंस हत्याएं

-
१. चौधरी लतीफुज्जुमा : पाथवे टू पाकिस्तान, पृष्ठ ३२१ -- "Latifur Rehman leader of the Muslim League party in Orrissa in a statement on September 25, 1947, declared : The Mussalmans of the Indian union now realise that they have committed a in supporting the movement for Pakistan."

हुई। उनकी हत्यारं साधारण नहीं थीं। यदि बच्चे थे, तो उन्हें हाथ से उठा कर दावार से टकरा-टकरा कर उनके सिर तोड़ दिए गए। लड़कियों के साथ पहले बलात्कार किया गया, फिर उन्हें माँत के घाट उतार दिया गया। गर्भवती स्त्रियों के पेट चीरकर बच्चे बाहर निकाल दिए गए। पाशविक्ता का इससे भयानक उदाहरण और कहीं प्राप्त नहीं होता।^१ समस्त भारत में असंख्य शव सड़ रहे थे और पूरा देश उनके दुर्गन्ध से डूब गया था।

इस देश में केवल गांधीजी के अनुयायी ही नहीं, ऐसे बहुत से दूसरे लोग भी हैं, जो सोचते हैं कि लार्ड माउण्टबेटेन की कुशल कूटनायकता के कारण उन्हें स्वतन्त्रता तो शायद प्राप्त हो गई, पर उसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा, जो किसी भी कल्पना से परे था। यह बर्बरता, हत्यारं और मानवता का विध्वंस किंकित धैर्य से रोका जा सकता था। पाकिस्तान को केवल एक व्यक्ति - मोहम्मद अली जिन्ना की दृढ़ता ने बनाया और पाकिस्तान बनने के एक वर्ष के अन्दर ही उनकी मृत्यु हो गई। गांधीजी का परामर्श था कि विभाजन अस्वीकार कर थोड़ा धैर्य से काम लेना चाहिए और भारतीय दृष्टिकोण से वे बहुत हद तक अपने दृष्टिकोण में उचित थे।

लेकिन नेहरू और दूसरे कांग्रेसियों के लिए, जो वर्षों से सत्ता का सुख भोगने का सपना देख रहे थे, माउण्टबेटेन इतने कुशल सेल्समैन सिद्ध हुए कि वे अपने सिद्धान्तों को ही नहीं भूल गए, भारत के भविष्य का पूर्ण उपेक्षा कर दी। विभाजन का निर्णय

१. लियोनार्ड मोज़े : द लास्ट डेज़ आफ द ब्रिटिश राज (१९६१) तन्दन -

पृष्ठ २४३ -

"It was a period in India's history when India's women in the Punjab and the united Provinces and Bihar were reminded of a useful hint handed down through heavens and women's quarter's from the time of the Moghuls that the way to avoid pregnancy as a result of being raped is to struggle; always to struggle."

एक राष्ट्रीय संस्था ने लिया, लेकिन सारी जनता इस पर दुःखी थी। यहाँ तक कि विभाजन के बाद स्वयं मुसलमान दुःखी थे, क्योंकि मुस्लिम नेताओं ने अभी तक उन्हें इस प्रश्न में रखा था कि पूरे देश में जहाँ-जहाँ उनका बहुमत है, पाकिस्तान बनेगा। लेकिन विभाजन के बाद जब जिन्ना बसे गए तो उन्हें लगा कि जिन्ना ने उन्हें धोखा दिया है और पाकिस्तान बनने से उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ है। बल्कि वे अब अल्पसंख्यक बन गए हैं और उन्होंने हिन्दुओं के मस्तिष्क में आक्रोश, घृणा एवं विद्वेष उत्पन्न कर दिया है।

इसके म्यानक परिणाम हुए। स्वतन्त्रता मिलने के ४८ घंटे के अन्दर पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब को हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने मिलकर कश्मिर बना दिया। स्वयं दिल्ली इस घृणा-विद्वेष में जल रहा था। पूरे देश में जैसे जागृता, लूटपाट और हत्या का वातावरण बन गया था। यहाँ तक कि सेना भी इससे न बच सकी। विभाजन के पूर्व सेना साम्प्रदायिकता से बर्बाद हुई थी, लेकिन घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटित हो रही थीं कि उनमें भी साम्प्रदायिकता का विष फैल गया था। दिल्ली में जो सेना थी, उनमें अविभाजित रूप से हिन्दू और सिख थे। इस लिए दक्षिण से सेना बुलानी पड़ी, जो अभी तक साम्प्रदायिकता से प्रभावित नहीं थी। कलकत्ता की हत्याओं के बाद नौवासाही में दंगे प्रारम्भ हो गए, जिसमें हिन्दुओं को ही सब कुछ सहना पड़ा। इसका बदला लेने के लिए बिहार में हिन्दुओं ने मुसलमानों को लूटना और उनकी हत्याएँ करना शुरू कर दिया, जो शीघ्र ही सारे प्रदेश में फैल गया।

इस प्रकार भारत ने अपनी एकता खोकर स्वतन्त्रता प्राप्त की। पाकिस्तान के निर्माण में मुस्लिम लीग का मुख्य हाथ था। मुस्लिम लीग का निर्माण कांग्रेस का विरोध करने के लिए हुआ था। उसमें शायद ही कोई ऐसा सदस्य हो, जिसने देश की स्वतन्त्रता के लिए कोई त्याग या संघर्ष किया हो। उन्होंने न कोई कष्ट फेला, न स्वाधीनता संग्राम के अनुशासन से ही उनका कोई सम्बन्ध था। ये सदस्य अधिकांशतः अवकाशप्राप्त सरकारी अफसर थे या वे उच्चवर्गीय लोग थे, जो ब्रिटिश संरक्षण में जबर्दस्ती राजनीति में लाए गए थे। फलतः पाकिस्तान बनने के साथ सच वहाँ ऐसे लोगों के हाथ में जाई, जिन्होंने न कोई सेवा की थी, न त्याग।

वे स्वार्थी लोग थे, जो राजनीतिक जीवन में केवल अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए जा रहे थे। यही कारण है कि वे लोग पाकिस्तान के शासन पर अपना नियंत्रण न रख सकें और शीघ्र ही सेना ने सत्ता हथिया ली।

पाकिस्तान के निर्माण ने सामुदायिकता की समस्या का समाधान करने के बजाय उसे और भी उलझा दिया और वातावरण किस प्रकार विषम हो गया है, इसे हम देख ही रहे हैं। विभाजन का आधार हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शत्रुता थी। मौलाना आज़ाद के अनुसार पाकिस्तान के निर्माण ने इस शत्रुता को स्थायी वैधानिक आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया और इसका समाधान लाभग्राही बन कर दिया है।

● योजनाएं, सामाजिक कुण्ठा और टूटती हुई आस्थाएं

स्वतन्त्रता के बाद का भारतीय समाज बहुत तेजी के साथ परिवर्तित हुआ। पिछले तीस वर्षों में उतना परिवर्तन हुआ, जितना पहले के सौ-सौ वर्षों में भी नहीं हो सका था। यह परिवर्तन सिर्फ बाहरी, स्पष्ट ही नहीं है, बल्कि इनका मुख्य क्षेत्र मानसिक है। मानसिक का तात्पर्य समाज की विभिन्न धारणाओं से है। मूल्यों का विघटन, रुढ़ियों और टेबूज का विरोध, अन्तर्बैयक्तिक संबंधों, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मूल्यों आदि में आमूल और क्रांतिकारी परिवर्तन आया। देश के आर्थिक, राजनैतिक आदि ऊपरी ढांचे में तो अंतर आया ही, पर विशेष अंतर 'बाउटल' में आया। इस दूसरे प्रकार का परिवर्तन का सही अध्ययन समाज के मनोभावों को स्पष्ट करनेवाले उपकरणों के आधार पर ही हो सकता है। आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य की दूसरी विधाओं की अपेक्षा इस परिवर्तन को ज्यादा अच्छी तरह व्यक्त करती है।

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज का सर्वतोमुखी अध्ययन और आधुनिक हिन्दी कहानी में उसकी अभिव्यक्ति है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के निरन्तर परिवर्तनशील मानस का अध्ययन और हिन्दी कहानी में यह परिवर्तन कितना अभिव्यक्त हो पाया है और कितना नहीं, यह अध्ययन ही पुस्तक का मूल भाव है।

सामाजिक जीवन का रूप आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है। आर्थिक विकास पुष्तालों का विकास ही सामाजिक संगठन तथा चेतना को नया गति देता है। उत्पादन शक्तियों का वर्गीकरण कैसा है, आर्थिक वर्गों के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं, भूमि व्यवस्था तथा उत्पादन पद्धति कैसी है, ये प्रश्न ही किसी देश की सामाजिक व्यवस्था के निर्माण तत्व होते हैं। अतः सामाजिक जीवन का अध्ययन बिना आर्थिक व्यवस्था की जानकारी के समझना वांछनीय नहीं। और आर्थिक व्यवस्था के साथ ही समस्या का अध्ययन बिना राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की सहायता के भी नहीं किया जा सकता। अतः प्रथम भारतीय समाज का अध्ययन स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के माध्यम से किया गया है तत्पश्चात् हिन्दी कहानियों में उसका अस्तित्व ढूँढा गया है।

कृषि, उद्योग-धन्ये, समाज का स्वरूप स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत ही परिवर्तित हुआ है जिनसे यह समाज अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। पहले रुढ़ि, परम्परा, रीति-रिवाज तथा धर्म के नाम पर अनेक बुराईयां समाज ने स्वीकार कर ली थीं जोकि अब आमूलतः तोड़ दी गयी हैं। यह स्वतन्त्रता का ही परिणाम है कि रुढ़ियां तोड़ने वालों को बुरा और घृणित नहीं समझा गया। वरना स्वतन्त्रता के पूर्व रुढ़िवादी तत्व इतने प्रबल थे कि परिवर्तन लाने वाले व्यक्ति विद्रोही समझे जाते थे। लोग सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता चाहते थे। वह गुलामी से अब ऊब गये थे और 'स्वतन्त्रता' के प्रति आकर्षित हुए थे। वे चाहते थे कि राजनीतिक क्षेत्र की भांति ही सामाजिक क्षेत्र में भी व्यक्ति स्वतन्त्र हो तथा उसका अस्तित्व हो।

एक ओर आर्थिक कठिनाइयां, एक ओर सामाजिक परतन्त्रता, एक ओर रुढ़ियां और एक तरफ रुढ़ियों को तोड़ने की इच्छा और न तोड़ पाने की विवशता। इस काल के मनुष्य की परिस्थितियां उसका परिवेश अत्यन्त जटिल था। इनसे उत्पन्न कुण्ठा, एकाकीपन की घुटन तथा निरुद्देश्यता मध्यमवर्गीय व्यक्ति की परिस्थितियों को मोड़ने अथवा निर्माण करने के लिए प्रेरित नहीं करती बरन् अन्तर्मुखी हो कर विषादपूर्ण मानसिक स्थिति में समाज का ही विध्वंस

के लिए आकुल रहती है। अपनी कुंठाओं, घुटन, स्काकापन, निरुद्देश्यता तथा असफलताजनित निराशा का कारण वह सामाजिक • बंधनों को ही समझने लगता है, जतः उन बंधनों के समूल विध्वंस में ही वह अपनी स्वतन्त्रता देखता है।

मनुष्य की दो प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। प्रथम भूख तथा दूसरी कामजनित सुख का कामना। प्रथम आवश्यकता ने आर्थिक व्यवस्था, राज्य निर्माण का विकास किया तथा दूसरी आवश्यकता ने समाज-रचना के लिए प्रेरित किया। सामाजिक संस्थाएँ पारिवारिक व्यवस्था तथा वैवाहिक संस्था इसी प्रेरणा तथा नियंत्रण के परिणाम हैं। स्वातंत्र्योत्तर मध्यमवर्ग का बाह्य आर्थिक विपन्नता भी अन्तर्मुखी हो गयी और अकेलेपन का अनुभूति उसे आर्थिक व्यवस्था तथा राज्य-निर्माण के लिये प्रेरित नहीं कर सकी। फलतः वह काम सुख में ही अपनी स्वतन्त्रता सोजने लगा और तभी नयी स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के अधिकांश विद्रोह रेस्त्रो के पांच फुट के क्षेत्रों के भीतर ही हुए। इसी विद्रोह, और काम-वासना के सुख में व्यक्ति ने जीवन की असफलताओं और स्वातंत्र्योत्तर मोहमग को भुला देना चाहा। जतः स्वातंत्र्योत्तर नयी पीढ़ी की भाँति ही इस युग की कहानियों के पात्र भी जितने ही विद्रोही एवं क्रांतिकारी नेताओंकेव्यों न हों भीतर से सम्पूर्णतः सोखले, कुंठित, विवश और निरीह हैं। किसी वस्तु का जयवा किन्हीं मूल्यों का निर्माण तो वह कर ही नहीं पाते, हां युगों से विकसित समाज का, परम्परा का विध्वंस उन्होंने अवश्य कर डाला।

इस युग की नारी भी सम्पूर्णतः बदल गयी। पति की दासता से मुक्त होकर समाज तथा राष्ट्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व पाने के लिये आकुल रहने लगी। जतः स्त्रियों का संघर्ष तथा समस्या का बिन्दु पति की दासता से मुक्त होने का रहा। नारी का यह भया 'बाउटलक', आत्मविश्वास निस्संदेह स्वातंत्र्योत्तर विकसित मूल्यों में से एक प्रशंसनीय मूल्य था।

मानवतावादी दृष्टिकोण से अब नारी को भी देखा गया।^१ उसे मात्र अबला और उसकी बाँसों के पाना मात्र में ही उसका अस्तित्व नहीं समझा गया। विवेकानन्द

१. राधाकमल मुखर्जी : द वे आफ ह्यूमनिज़्म (१९६८) दिल्ली,

के इस मानवतावादी दृष्टिकोण का आधार वेदान्त था । उनके अज्ञेयवाद में ईश्वर के महान होते हुए भी मानव उसका समकक्षी है । अतः उन्होंने न केवल मानव को प्रमुख माना वरन् सम्पूर्ण मानव समूहों में एक ही ईश्वर का वंश देख कर उन्हें समता की दृष्टि से देखा । उन्होंने समाज की रुढ़ियों के विरोध में आवाज़ उठायी कि विधवा की भी सार्थकता है और उसे मात्र बांसुओं में ही नहीं बह जाना चाहिए - 'मैं ऐसे धर्म तथा ईश्वर पर विश्वास नहीं करता, जो विधवा के बांसु न पोंछ सकें तथा जनाप के लिए रोटी का टुकड़ा न दे सकें ।'^१ इस प्रकार उन्होंने आह्वान किया कि सामान्य जनता और स्त्रियों की उपेक्षा ही राष्ट्रीय अपराध है तथा यही हमारे पतन का कारण है । स्वतन्त्रता के उपरान्त समाज का विघटन ही अधिक हुआ है ।

समाज की रचना में विघटन अथवा सामाजिक विघटन है और यह हमें जान लेना चाहिए । संगठित समाज में प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित स्थिति (स्टेटस) होती है और उस निश्चित स्थिति के अनुसार वह काम (रोल) करता है । जब समाज में व्यक्ति की स्थिति (स्टेटस) और काम (रोल) का मेल टूट जाता है, तब समाज असंगठित अथवा विघटित कहलाता है । 'स्थिति' तथा 'काम' में मेल न रहने की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं --

(अ) एक अवस्था यह है जब समाज में ऐसी नवीन स्थिति उत्पन्न हो जाए कि व्यक्तियों की समाज में जो निश्चित स्थिति थी वह न रहे और स्थिति न रहने की वजह से उन्हें समझ में न आए कि समाज की रंगमंच पर वे किस भूमिका में उतरें, क्या पार्ट उदा करें ? क्या कार्य करें ? अगर दुर्भिक्ष पड़ जाये, बाढ़ आ जाये, युद्ध हो जाये, लोग मूलों मरने लगे तो एकदम व्यक्ति को नई परिस्थिति का सामना करना पड़ता है । कोई इस परिस्थिति का सामना कर सकता है और कोई नहीं कर सकता । इसी प्रकार मशीन के आविष्कार से पहले घर ही उद्योग का केन्द्र था, मशीन निकलने के बाद घर के बाहर कल-कारखाने बढ़े ही गये । इस

नवीन परिस्थिति में गृह-पत्नी की पहली 'स्थिति' (स्टेटस) में परिवर्तन आ गया । वह घर से बाहर जाने का कार्य (रोल) करे या न करे, यह समस्या उसके सामने खड़ी हो गयी । बहुत अधिक व्यक्तियों के शिक्षित हो जाने से आज सैकड़ों युवकों को समाज में कोई जगह नहीं, कोई स्थान नहीं । जब परिस्थितियाँ व्यक्ति को अपनी पहले की निश्चित 'स्थिति' से हिला देती हैं, वह मानों जड़ से उलड़ जाता है, तब समाज में एक ऐसा व्यक्ति पैदा हो जाता है जिसका जीवन असंगठित हो गया । जब ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती है तभी समाज का विघटन हो जाता है और समाज असंगठित हो जाता है ।

(ब) दूसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में ऊँची 'स्थिति' तो बना रहती है परन्तु वह अपनी ऊँची स्थिति के अनुरूप कार्य (रोल) या तो स्वयं करना छोड़ देता है, या समाज की अवस्थाओं से बाधित होकर वह काम उससे बूट जाता है । ऐसी अवस्था में समाज तब तक संगठित नहीं होता जब तक 'स्थिति' नीचे गिर कर 'कार्य' के स्तर पर नहीं आ जाती । या 'कार्य' उठ कर 'स्थिति' के स्तर पर नहीं पहुँच जाता । हिन्दू समाज में ब्राह्मणों का 'स्थिति' ऊँची थी, काम नीचा हो गया । यह अवस्था समाज के 'विघटन' की अवस्था थी । यह विघटन बना रहेगा, जब तक 'स्थिति' तथा 'काम' का समन्वय नहीं होगा । जातपात के आंदोलन इस विघटन को दूर करने का ही एक प्रयत्न हैं । कर्म नीच होते हुए भी जन्म या नस्ल से किसी को ऊँचा मानना 'सामाजिक विघटन' के अन्तर्गत है । जिस व्यक्ति को नीच-कर्म के होते हुए भी जन्म के कारण ऊँचा माना जाता है उसके विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है । यह प्रतिक्रिया ही समाज में असंतोष, बेचैनी, विद्रोह पैदा करता है, और जब तक समाज में यह बेचैनी बनी रहती है तब तक समाज विघटित है । यह हो सकता है कि किसी समाज में इस प्रकार की 'स्थिति' के प्रति विद्रोह न हो, ऊँची 'स्थिति' के लोग नीच काम करते रहें, नीच स्थिति के लोग ऊँचे काम करते रहें, परन्तु पहलों को ऊँचा दूसरों को नीचा ही समझा जाता रहे, किसी के हृदय में इस अवस्था के प्रति असंतोष उत्पन्न न हो । हिन्दू-समाज में सदियों तक ऐसा ही होता रहा । अच्छा कर्म होते हुए भी जन्म के कारण किसी को अक्षत और

समझा जाता रहा । इस स्थिति के विरुद्ध किसी ने आवाज़ नहीं उठायी । ऐसी अवस्था में समाज विघटित नहीं संगठित हो कहा जायेगा । समाज के विघटित होने के लिये 'स्थिति' तथा 'कार्य' का बेमेलपन होना ही नहीं, अपितु बेमेलपन को अनुभव करना आवश्यक है । समाज जब 'स्थिति' और 'कार्य' के बेमेलपन को अनुभव कर लेता है तब इसे दूर करने का प्रयत्न करता है । सामाजिक संगठन का अर्थ ही 'स्थिति' तथा 'कार्य' की विषमता को दूर कर इन दोनों में समता का स्थापन करना है । जब तक समाज में व्यक्ति को 'स्थिति' नहीं मिलती और उस 'स्थिति' के अनुकूल 'कार्य' नहीं मिलता, तब तक वह समाज के शरीर में रगड़ पैदा करता रहता है और समाज विघटित रहता है ।

(स) तीसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' नीची हो परन्तु उसका 'कार्य' ऊँचा हो । ऐसी अवस्था तब आती है जब किसी देश में नीच कही जाने वाली जातियों को राजनैतिक क्षेत्र में विशेष अधिकार दिए जाते हैं । आज अपने देश में हरिजन कहे जाने वाले लोगों को योग्यता के आधार पर नहीं, नीची 'स्थिति' के कारण कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं, जब कभी कोई ऐसा व्यक्ति मिनिस्टर बन जाता है तब ऊँचा 'कार्य' रखते हुए भी उसकी समाज में नीची 'स्थिति' होती है । परन्तु यह अवस्था भी नहीं रहने पाती । समाज में 'स्थिति' तथा 'कार्य' को एक स्तर पर लाने की प्रक्रिया बराबर होती रहती है, और समय आता है जब ऊँचे 'कार्य' वाले को ऊँची 'स्थिति' स्वयं मिल जाती है ।

इस प्रकार समाज के बाहर का ढांचा तो व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' तथा 'कार्य' के मेल, इनके समन्वय से बना रहता है, इनके मेल के हट जाने से टूट जाता है । इसके विपरीत अंदर का ढांचा 'एकमितीता' (कान्सेंसस) से बना रहता है । 'एकमितीता' के न होने से टूट जाता है । समाज आन्तर-प्रक्रिया में जहाँ एक दिशा में सोचने के स्थान पर हर व्यक्ति ने भिन्न-भिन्न दिशा में सोचना शुरू किया, वहीं समाज के भवन में दरार पड़ जाती है और बिना मरम्मत के इसका टिकना असंभव हो जाता है । और सामाजिक विघटन के कारण समाज अराजक हो जाता है । बेकारी, बीमारी, अपराध, गरीबी, व्यभिचार, दुराचार,

न जाने क्या-क्या बढ़ जाता है ।

इस प्रकार स्वतन्त्रता के उपरान्त शुरू-शुरू में जिस प्रकार हमारे पास वाशारे^१ हो वाशारे^२ था, वह पूरी नहीं हुई और स्वातंत्र्योत्तर व्यक्ति की 'स्थिति' और 'कार्य' में भी कोई तात्त्विक नहीं बँटाया जा सका । सत्ता, और प्रभुता से सबका 'स्थितियाँ' और 'कार्य' निर्धारित हुए । फलतः समाज का विघटन आरम्भ हो जाना बहुत स्वाभाविक था । इस विघटन ने स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी को तोड़-सा दिया और बहुत ही निराश बना दिया ।

एक विद्वान् ने उचित कहा है, 'मनुष्य कुछ मुलकड़ हो गया है । लेकिन यह बहुत बड़ा दोष भी नहीं है । न भूते तो जीना ही दूभर हो जाय । मगर ऐसी बातों का मूलना जरूर बुरा है, जो उसे जीने की शक्ति देती हैं, सीधे सड़ा होने की प्रेरणा देती हैं + + + किसी दिन एक शुभ मुहूर्त में मनुष्य ने मिट्टी के दिये, रुई की बाती, चक्मक की चिनगाती और बीजों से निकलने वाले स्रोत का संयोग देखा । अंधकार को जीता जा सकता है । दिया जलाया जा सकता है । घने अंधकार में डूबी धरती को वांछित रूप में बालोकित किया जा सकता है । अंधकार से पूछने के संकल्प की जीत हुई । तब से मनुष्य ने इस दिशा में बड़ी प्रगति की है, पर वह आदिम प्रयास क्या मूलने की वाज है ? वह मनुष्य की दीर्घकालीन कातर प्रार्थना का उज्ज्वल फल था । + + + क्वर कुछ दिनों से शिथिल स्वर सुनायी देने लगे हैं । लोग कहते सुने जाते हैं - अन्धकार महाबलवान् है, उससे जूझने का संकल्प मूढ़ आदर्श मात्र है । सोचता हूँ, यह क्या संकल्पशक्ति का परामव है ? क्या मनुष्यता की अवमानना है ? + + + अंधकार के सँकड़ों परत हैं । उससे जूझना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है । जूझने का संकल्प ही महादेवता है ?'

वास्तव में संकल्पित कोई नहीं हो पाता । वस्तुएं जब नहीं मिलतीं तो उन्हें अस्वीकारना ही पड़ता है । अस्वीकार और अनिच्छा बहुत अधिक जमाव में स्वाभाविक है । बचपन से ही जो अंधकार से परिरक्षित और प्रकाश से अपरिरक्षित रहा हो, जिस

पीढ़ी ने मध्य प्रकाश के दर्शन ही न किये हों, उसे अपनी पूर्व-पीढ़ी के जितना मोह प्रकाश से हो ही नहीं सकता। पुराने लोग कविता, कहानी, साहित्य के युग में पले थे, नये लोग अकविता, अकहानी, असाहित्य के युग में। पुरानी पीढ़ी ताजे दूध और शुद्ध घी पर पली थी, नयी पीढ़ी पनीले दूध, पाऊँडर-मिल्क, वनस्पति घी, ओवल्टीन, हारलिव्स, बानीविटा और विटामिन की टेबलेट पर। हर तरफ बेइमानी, हर तरफ सत्ताधिपत्य। हर तरफ बांधती हमें बचपन से देखने की मिली। ईमानदारी और आदर्श हमें यदि बेमानी लगते हैं तो इसमें आश्चर्य क्यों? आदर्श पुराने लोगों के पास हो सकते हैं, क्योंकि वे प्रकाश, ईमानदार और आदर्शों के बीच पले हैं। यों प्रकाश, आदर्श, वास्था से नयी पीढ़ी को कोई परहेज नहीं है किन्तु पिछली पीढ़ी जैसा अति-आग्रह भी उसके पास नहीं है।

हम अंधकार से जूझ तो रहे हैं, किन्तु प्रकाश की किसी अत्यन्त जाज्वल्यमान किरण की संभावना हमारे पास नहीं है। हो भी नहीं सकती। क्षीण-सा किरण कभी मिल भी जाती है तो संशय उन्हें ग़ुस लेता है। इस घटाघोष अंधकार से मुक्ति न प्राप्त कर सकना हमारी संकल्पहीनता नहीं, हमारी विवक्षा है। अंधकार से उबरने की चाह सभी में है किन्तु किसी को प्रकाश ही उपलब्ध नहीं है। वास्था लोगों के पास है पर टुकड़ों में बिखरा हुई है। विसंगति, विपरीत परिस्थितियों और कमावों के कारण लोगों के पास उसे जोड़ने का अवसर नहीं है, और स्वयमेव वह जुड़ नहीं पाता।

अंधकार जब स्वभाव बन जाय, टूटना नियति लगने लगे, प्रकाश जब संशमित हो जाय तो स्वभावतः व्यक्ति प्रकाश से तटस्थ हो जायेगा। यह उदासीनता, यह तटस्थता, अंधकार से व्यक्ति का यह समझौता द्विज जी को अवश्य ही संस्कारहीन लौगा। किन्तु लोग कर भी क्या सकते हैं? उनके लिये वह विवक्ष है। ये उनके नूतन संस्कार हैं। जहाँ इच्छा ही न हो वहाँ संकल्प-शक्ति के परामर्श और मनुष्यता की अवमानना के प्रश्न ही नहीं उठते।^१

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नर
संदर्भ (१९६७) इलाहाबाद : पृष्ठ ४७।

● विद्रुंक्षित मान्यताएं और अवसरवादिता का नया जीवन दर्शन

जटिल युग की जटिल मनःस्थिति को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इस बात का स्मरण कर लिया जाए कि इन तेईस वर्षों के इस चरण में ही हम दो-बो युद्धों का संक्रास फेल चुके हैं। यदा-कदा 'ब्लैक-आउट' अब हमें म्यभीत नहीं करता। पहला वाक्यमण चीनियों का हुआ और दूसरा पाकिस्तानियों का। भीतर से संक्रास और बिस्तरे-बिस्तरे भी इस दौरान हम ऊपर से दुह और एक रहे। पूरी वास्था से हमने यह लड़ाइयां लड़ीं। स्वतन्त्रता, वात्म-रक्षा और वात्म-सम्मान के सुरक्षार्थ हमें मानवता की पावन कामना और अपने पवित्र वादशों को बाह्य की आग में फोंक देना पड़ा।

जीवन की अनिश्चितता, मूल्यों का हास, जीवन के प्रति अनास्था, मृत्यु और वेदना की जीवन पर प्रतिष्ठा इनका फलसफा बन जाना - इन्हां युद्धों का ही देन है। स्ट्रम, पैटर्न, जेट, मिसाइल्स, ब्लैक-आउट - हमारे चारों ओर स्तरे ही स्तरे थे - 'हम एक स्तरनाक दुनियां में रहते हैं, जिसमें स्तरे हैं, जिसमें उम्मादें हैं। आजकल के नौजवानों के और बच्चों के सामने जो जिन्दगी है, उसमें भी दोनों बातें मिली हुई हैं - उम्मादें और स्तरे।' ^१ किन्तु उम्मादें वस्तुतः बहुत धुंयली थीं और स्तरे बहुत ही स्पष्ट। स्तरे चारों ओर सरसरा रहे हों तो वास्था बड़ी मुश्किल हो जाती है। 'जय जवान, जय किसान' जैसे उत्साहवर्धक नारों के बावजूद हमारे साहित्यकार निराशा से मुक्त नहीं हो सके। दो-चार को छोड़कर कोई भी व्यत्यन्त सशक्त कृति इन जवानों और किसानों पर नहीं आई। सबों का भांति साहित्यकार भी 'नान्यः पंथाः' वाली मनःस्थिति में जीवित थे और जिसका भरपूर प्रयोग वह साहित्य में करते रहे। कुंठा से उबरने का कोई मार्ग इन्हें नहीं सूझा। विराट टैंक-युद्ध, भुसमरी से संक्रास रह कर भी उन्होंने अपना रचनाओं में इसका उल्लेख नहीं किया। कुछ रचनाएं दिखीं भी तो बहुत सतही-सी। मोगे हुए यथार्थ जैसी तीव्रता उनमें नहीं थी।

इस चरण का विकास-दिशा कफ क्या है ? इस चरण की कहानियों की विशेष उपलब्धियां कौन-सी हैं ? विगत युग के समाज और कहानियों से उसमें क्या भिन्नता है ? आज का युग-सत्य क्या है ? युग-सत्य के प्रति हमारा दृष्टि क्या है ? इस युग-सत्य को अभिव्यक्ति देने की कहानीकारों का क्षमता और सीमा क्या है ? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने हैं । गांधीवाद के अति-आदर्शवादी प्रभाव से मुक्त होकर व्यक्ति बाज ठोस यथार्थ पर खड़ा है । वह जीवन को उसकी सम्पूर्ण महत्ता, पूरी सुन्दरता और पूरी कुरूपता के साथ देखने के लिये जाग्रत-शील है । अति-आदर्शवाद और अतिभावुकता के कुहासे से वह करीब-करीब निकल आया है और मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, नैतृत्वशास्त्र एवं विज्ञान आदि के विकास के कारण उसकी दृष्टि और अधिक वैज्ञानिक हो गयी है । अधिकांशतः मनोविज्ञान को लेकर कहानियां लिखी जा रही हैं । दृष्टि अब प्रसर हुई है और वह 'बाह्य' के 'अन्तः' को उसकी समस्तता में देख सकती है । 'बाह्य' और 'अन्तः' का एक-एक कण खोजने और उसे उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने को आज का कहानीकार बड़ा उत्कट जाग्रत है ।

लेखकों ने यथाशक्ति इस युग-सत्य को अभिव्यक्ति दी है । किन्तु जीवन-सत्य की ज्यों की त्यों अभिव्यक्ति के साथ-साथ उन्होंने उबाया भी है । मानव-जीवन को गणित और विज्ञान का फामूला बना दिया है । ऐसी कहानियां आरोपित और प्राणहान लाती हैं किन्तु कुछ कहानियां अत्यन्त समर्थ हैं । इस चरमराते युग का भयंकर संक्रास उनमें पूरी गहराई के साथ चित्रित हुआ है । सच्चाई की समृद्धि इस चरण की कहानियों की विशेषता है ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले, व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभी की आकांक्षाएं एक थीं । राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं लोकतन्त्र की स्थापना जैसे उद्देश्यों पर ही ध्यान केन्द्रित होने के कारण अन्य अनेक समस्याएं दब गयी थीं । लोगों के पास अपनी-अपनी समस्याओं के लिए अवसर नहीं था । जनवादी और पूंजीवादी दोनों ही शक्तियां स्वाधीनता के मोर्चे पर एक हो गयी थीं । अंग्रेजी सरकार के अत्याचार के प्रति

असंतोष की भावना ने अपने यहां की साम्राज्यवादी एवं जनवादी दोनों ही शक्तियों को एकता के सूत्र में बांध दिया था । स्वाधीनता संग्राम में वापसी के मनस्य भूतकर यह दोनों शक्तियां कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ दे रही थीं । इनकी परस्पर समस्याएं भिन्न थीं, पर पराधीनता की जकड़ से छुटकारा प्राप्त करना एक मूल समस्या ऐसी थी जिसने इन दोनों का वापसी द्वन्द्व उस काल के लिए समाप्त कर दिया था ।

प्रेमचन्द में जो व्यापक सहानुभूति दिखाई पड़ती है वह इसी पूंजीवादी एवं जनवादी प्रवृत्तियों की एकता के कारण ही थी । अधुनातन समाज में इसकी कमी इसीलिए दिखाई पड़ती है कि स्वतन्त्रता जैसा महत् उद्देश्य सिद्ध कर लेने के पश्चात्, जब इन शक्तियों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो गये हैं । पूंजीवाद और जनवाद अब सहवस्तित्व नहीं रखते (व्यापक राष्ट्रीयता की बात भी आज व्यर्थ है । यही कारण है कि ऐतिहासिक दृष्टि से हमें आज के साहित्य में प्रेमचन्द जैसा व्यापक सहानुभूति नहीं मिलती ।

स्वतन्त्रता के उपरान्त जनवादी और पूंजीवादी शक्तियों के बीच का क्षीण सूत्र टूट गया । अपने-अपने नूतन उद्देश्यों के कारण अब अन्तर्विरोध ही सामने आये । दोनों शक्तियां अब एक दूसरे के लिये आलोच्य बन गयीं । राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी तो जनवादी शक्ति की ओर से आर्थिक सुसम्पन्नता का जायज मांग पेश की गयी । साहित्यकार एवं कलाकार अधिकांशतः इसी निम्न मध्यम वर्ग से ही अधिक आ रहे थे । अतः उन्होंने इस वैषम्य और अन्तर्विरोध को बखूबी समझा और इस वर्ग की आकांक्षाओं को मूर्त रूप दिया । किन्तु इसके विपरीत उच्च मध्यमवर्ग के साहित्यकारों ने लड़खड़ाते पूंजीवाद के हाथ में हाथ डाला और सहयोग दिया । ऐसे साहित्यकारों ने ही 'व्यक्ति-स्वाधीनता' और 'मानवता' जैसे आदर्श नारे लगाए । इन नारों की आड़ में इन दोनों शक्तियों के अन्तर्विरोध को उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकारना बाधा था ।

मध्ययुगीन सामन्तवादी नैतिकता इस चरण के व्यक्ति के काम की नहीं रह गयी थी । फलतः उसका विघटन होने लगा । नयी परिस्थितियों के अनुरूप ही नये

आदर्श, नयी जीवन-पद्धति, नयी सामाजिक पद्धति, नयी पारिवारिक पद्धति और नयी नीति, सभी कुछ में नये की मांग होने लगी । जीवन की व्याख्या व्यक्ति ने नये सिरे से करना चाही । किन्तु यह सब बहुत हद तक आर्थिक स्थिति के सुधरने पर ही हो सकता था । सो हुआ नहीं । शासक वर्ग जनसाधारण से अपना फासला बढ़ाता ही गया । इससे जनता में विद्रोह और अनास्था का जाना स्वाभाविक था । चारों ओर घूसहोरी, बेइमानी, भ्रष्टाचार, दायित्वहीनता और चारित्रिक असंयम का ही बोलबाला हो गया । इसी बीच हम यूरोप के साहित्य के सम्पर्क में आये । महायुद्ध के पश्चात् आशंका, मय, अनिश्चितता, मृत्यों का विघटन, अनास्था, मृत्यु की आकस्मिकता का संत्रास आदि ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ हममें तभी से घर कर गयी हैं ।

पश्चात्य अनुसरण की प्रवृत्ति और फेंशन के कारण फायर, युंग, सार्न, कामू, काफ़्का और गिन्सबर्ग की कृतियाँ लोगों के लिये उद्घरणाय और अनुसरणीय बन गयीं । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, इन परिस्थितियों का प्रभाव नयी हिन्दी कहानी पर भी पड़ा । साहित्यकारों के एक वर्ग ने इस दर्द, कुंठा, निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति को ही अपना लक्ष्य बना लिया । पश्चात्य साहित्यकार भी युद्ध-संत्रास, कुंठा, मय और अनास्था से भरे थे ।

● तथाकथित नया समाज और नया व्यक्ति

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् पश्चात्य साहित्य इसी निराशा, दुश्चिन्ता और बेचैनी को लेकर लिखा जा रहा था । ऐसे अस्वस्थ साहित्य से सम्पर्क और अपनी विकट परिस्थितियों के कारण हिन्दी के इस प्रथम वर्ग के ये लेखक भी ऐसे ही बिन्दु पर पहुँच सके जिसके आगे अन्धेरा, अनिश्चय और दिग्भ्रम है ।

दूसरे प्रकार के साहित्यकारों के वर्ग ने इस ह्रास और विघटन से इनकार किया । उन्होंने इसे मात्र सामयिक और पतनशील युग की दैन समझा । उन्होंने साहित्यिक

कार्य और कारण का सम्बन्ध बड़ा सुदृढता से समझा । सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि इनके पास थी और इन्होंने जीवन के लिए मृत्यु के सिलाफ, स्वास्थ्य के लिये कुंठा के सिलाफ और मानवता के लिये स्फूर्तिप्रद व्यक्तिवादिता के सिलाफ 'जिहाद' बोल दिया । विद्रोह और वास्था दोनों ही इनकी रचनाओं में मिलते हैं । नितांत भावुकता, बेतरह जोश-सरोश । मात्र निर्भीक ढांचे की भांति ही रचनाएं हुईं । अपार उत्साह, अत्यन्त आक्रोश, अतिशय भावुकता और अथाह प्रणवा, इस अति ने कहानी को स्वाभाविक नहीं रहने दिया । किन्तु बाद में इनमें से अनेक ने जीवन को घेरे और सहिष्णुता से देखा और पूरी गंभीरता से संवेदनों को स्थापित किया ।

तीसरे वर्ग के साहित्यकारों ने मात्र मानव-समाज को केन्द्र में रखा । आशंका को इन्होंने व्यर्थ माना और थक को क्षणिक । ठोस यथार्थ को इन्होंने स्वीकारा और पूर्व निर्धारित ढांचों को छोड़ कर नयी नयी विधाओं का आविष्कार किया । इन्होंने अपने चारों ओर के जीवन से सम्पर्क स्थापित किया । यथार्थ के विभिन्न स्तर और विभिन्न कोणों को देखा । अनुभवों और संवेदनों के सच्चे होने के साथ ही इस वर्ग के लेखकों ने इनके प्रामाणिक होने की शर्त भी लगा दी । प्रामाणिक अनुभवों और संवेदनों की अभिव्यक्ति ही नयी कहानी और अकहानी का विचार-भूमि है । इसी वर्ग के लेखकों ने वास्तविक नयी कहानी और अकहानी को जन्म दिया । ये लेखक ठोस यथार्थ पर खड़े हैं और जीवन की उसकी सुंदरता और कुरूपता के साथ अक्षण्ड रूप में स्वीकारते हैं ।

श्लील-अश्लील, शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर का शोर मचाने वालों को पहले आज के यथार्थ के विभिन्न रूप देखने चाहिए । आज के यथार्थ बोध को एकदम 'सेडिज़्म' कह कर नहीं नकारा जा सकता -- हमारा अधिकांश लेखक वर्ग निम्न मध्यम श्रेणी का होता है । इसी वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से सबसे अधिक अपेक्षाएं की थीं, इसलिए सबसे अधिक निराशा और विकलता इसी को हुई है । इस वर्ग की ज़िन्दगी सबसे कष्टमय है, वह आंतरिक और बाह्य संघर्षों से आक्रान्त है । इस वर्ग के लेखक सबसे अधिक अपने इसी वर्ग को जानते हैं । वे इसके साथ जीते हैं, इसकी समस्त

पीड़ा और विकलता में हिस्सेदार हैं। स्वाभाविक है कि अपने इस मध्यम वर्ग की कहानियाँ उन्होंने ज्यादा लिखीं। इस वर्ग की जिन्दगी जितने रूपों में, जितनी सच्चाई से चित्रित हुई है, उतनी किसी अन्य वर्ग की नहीं। और स्पष्ट है कि इसमें दर्द और पीड़ा, पतन और विफलता होगी ही। एक तबके का ऐसा सुविस्तृत चित्रण एक विशेष उपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं।^१

सीमा किन्तु उचित नहीं है। आज की कहानियों में इससे एकरसता और एकस्वरता आती जा रही है। वैविध्य कम होता है। मध्यवर्गीय लेखक की विवशता ही इसका एक कारण है। दूसरा कारण है कि दैनिक अनुभवों और संवेदनों के प्रति हम आज भी सर्वेण सचेत नहीं हैं। मूल्यवान् संवेदनों और अनुभवों को खोजना, उन्हें बटोरना, उनमें नये अर्थ ढूँढ़ना, गहराई से उनका विश्लेषण और उन पर विचार करना ही कहानीकार का उद्देश्य होना चाहिए। हमेशा एक से संवेदनों पर ध्यान देना अथवा नवान् अर्थान्, विविध प्रकार के संवेदनों को गोण समक लेना ही इस एकरसता और एकस्वरता के मुख्य कारण हैं। संवेदनों के निर्वाचन की पूर्वपद्धति से आज के लेखक को बचना चाहिए। प्रत्येक संवेदन को उतनी ही महत्ता देना तथा पूरी समर्थता में उसका चित्रण ही आज के कहानीकार को विशिष्ट बना सकता है।

अधिकांश कहानियाँ आज मानवीय सम्बन्धों, उनमें भी विशेषतः प्रणय और परिणय पर ही अधिक लिखी जा रही हैं। नारी के प्रति व्यक्तित्व का वास्तुक्य और कौतूहल आज भी वही है। अधिकतर रचनाओं का केन्द्र-बिन्दु नारी है। नारी को लेकर कहीं-कहीं तो लेखकों का दृष्टिकोण आज भी हायावादी हो गया है तो कहीं बिल्कुल ही शरीरी। नारी-पुरुष के हाथों की कठपुतली कभी सामंती युग में रही होगी। अब वह स्वयं अर्जित है। परिवार का मरण-पोषण करती है। उसके व्यक्तित्व के साथ मनमाना नहीं किया जा सकता। प्रेमा और प्रेमिका भी अब पहले की भाँति 'होल-टाइम प्रेमा प्रेमिका' नहीं हो सकते। नये युग की

रोशनी में नारी और पुरुष अब दोनों ही कथाओं पर नये स्वस्थ सिरे से विचार करना है ।

स्वातंत्र्योत्तर इन तेईस वर्षों के समय और इस समय की कहानियों पर अब विस्तार से विचार करना है । तावु और मौलिक परिवर्तन दोनों ही स्थानों पर हुए हैं - समाज में भी और कहानी में भी । पर हमें देखना यह है कि भारतीय समाज और नयी कहानी अथवा अकहानी के परिवर्तन समानांतर भी हैं या नहीं ? अथवा उनके परिवर्तन की गति में कहां तक असामंजस्य है ?

● नई राजनीतिक व्यवस्था और विम्बुान्त मध्यवर्ग

परिवर्तन की जिस स्थिति से हम गुजर रहे हैं वह मुख्यतया संकट की स्थिति है । ऐसे में बौद्धिक वर्ग को सबसे अधिक महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़े हैं । सन् २० से सन् ४७ तक लड़ी गयी स्वराज्य की लड़ाई लड़नेवाला संस्था दो दशकों में ही जड़-मूलसे उखड़ गयी । यह अकारण ही नहीं हुआ । स्वराज्य प्राप्ति के बाद जनता का कोई ऊंचा सपना पूरा होना तो बहुत बड़ी बात है, पेट भरने और तन ढंकने की समस्या भी हल नहीं की जा सकी । बल्कि उल्टे यह हालत हो गया कि जगह-जगह अकाल, महामारी, लूट-ससोट का नंगा नाच होने लगा । हर कहीं प्रभुत्वाचार का बाजार गर्म हुआ । रुपये का अवमूल्यन, मूल्यों में कमर-तोड़ देने की सीमा तक वृद्धि हुई । पड़े-लिते बेकारों की संख्या बढ़ती गयी । और सामान्य जनता अब भी ज्यों की त्यों अशिक्षा के बन्धेरे में पड़ी हुई है । मातृ-भाषा में शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया जा सका । उल्टे राष्ट्र-भाषा समस्या पैदा हो गयी और लोग आपस में ही लड़ने मरने लगे । स्वतन्त्रता के बाद भी जन-विरोधा तत्व यहाँ पलते रहे ।

देश का बंटवारा मानने का जन-द्रोह करके कांग्रेस ने ऐसा काम किया था कि अगर जनता में समझ होती तो तभी विद्रोह हो गया होता । कश्मीर की समस्या भी बाज देश के सोने में कैंसर की भाँति रिस रही है ।^१ अपने-अपने राजनीतिक स्वार्थ

१. अलस्टेयर लेम्ब : क्राइसिस इन कश्मीर (१९६६) लन्दन, पृष्ठ ४८ ।

सिद्ध करने के लिए साम्यदायिकता, जातीयता और विरादरीयता की बाड़ें ऊंची-ऊंची करके देश के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये। राष्ट्रीयता और भारतीयता नाम की सही चीजें देश में पैदा हो नहीं होने दी गयीं। भारतीयता के नाम पर अगर कुछ बना तो सिर्फ राज्यायता।

और बाहिर फरवरी ६७ में ऊंची हुई जनता ने अपना फेंसला दे दिया कि इस षड्यन्त्रकारों और फूटे वाश्वासन देने वाली कांग्रेस पार्टी को हम और अधिक सहन नहीं करेंगे। क्योंकि जनता को यह आशा बंधायी गयी थी कि आज़ादी के बाद औपनिवेशिक अतीत के सारे अभिशाप मिट जायें और हमारी उत्पादक शक्तियों की सारी बेड़ियां टूट जायेंगी। स्वनात्मक शक्तियां शुरू हो सकेंगी, आर्थिक पराधीनता और पिछड़ापन मिट जायगा। अभाव और गरीबी की लानत से छुटकारा मिलेगा, सम्पन्न औद्योगिक शक्ति के रूप में भारत का उदय होगा तथा जन-सामान्य की भौतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हर व्यक्ति को अवसर प्राप्त होंगे। परन्तु ऐसा अधिकांशतः नहीं हुआ। सामंती तथा अर्ध-सामन्ती जमींदारी तक नहीं मिटायी गयी। हमारी राष्ट्रीय अर्थ-नीति पर विदेशी ज़्वारेदार पूंजी लूटने वाला शिकंजा भी ज्यों का त्यों रहा। हमारे उद्योगों को पर्याप्त कच्चा माल तक नहीं मिला। हमारी कृषि की हालत भी भीतर से बदतर ही होती गयी और हमारी ज़्वारेदार कांग्रेस हुकूमत ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लिया। तथा इस बात पर राजी हो गयी कि ब्रिटिश कामन वेल्थ का जुवा इस देश पर लदा रहेगा और ब्रिटिश विधीय व्यवस्था को भारत-लूट की सुली छूट रहेगी। दूसरी तरफ सामंती राजाओं को बड़ी-बड़ी सुविधाएं, ओहदे और 'प्रिवी पर्स' दे दे कर जनता का धु धन लुटाया गया। नौकरशाहों का सारा ताम-काम ठीक वैसे का वैसे ही रहने दिया गया जैसा कि अंग्रेजों के वक़्त चल रहा था। जनता के साथ गुलामों का-सा सलूक करने वाले वही अफसर ठाट से कुरसियां सम्हाले रहे।

भारत को भारी उद्योग की आवश्यकता थी मगर 'मददगारों' ने कोई मदद नहीं की। वरन् सरकारी बजट सम्बन्धी तथा सामान्य अर्थ-नीतियां, विशेष रूप से

टैक्स सम्बन्धी कार्यवाहियां और मूल्य-नीति, मुख्यतया जन-विरोधी रहा। अप्रत्यक्ष कर-वृद्धि कर दी गयी। और वस्तुओं के मूल्य बेतरह बढ़ा दिये गये।

सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों में विदेशी पूंजी जबाब स्म से बढ़ रहा है। योजना सम्बन्धी तथा अन्य सभी बड़े-बड़े सरकारी ठेके चन्द बड़े-बड़े लोगों को हाँदिए जाते हैं। यही लोग सार्वजनिक क्षेत्र के तैयार माल का वितरण-नियन्त्रण भी करते हैं। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में विदेशी इजारेदारों तथा देशीय व निजी पूंजी आमन्त्रित करके सार्वजनिक क्षेत्र का मूल अभिप्राय ही समाप्त कर डाला गया है। अगर सार्वजनिक क्षेत्र में इस प्रकार के तत्वों का समावेश किया जाए तथा नौकरशाही का निमंत्रण बढ़ाया जाए तो राजकीय पूंजीवाद का अपना प्रगतिशील चरित्र ही गायब हो जाता है। अतः भारतीय राजकीय उद्योगों में सभी जन-विरोधी सुविधाएँ पूरी तरह मौजूद हैं। और जबकि जनतन्त्र का अर्थ जनता का हित ही था।

कांग्रेस सरकार ने ब्रिटिश तथा उसकी विदेशी पूंजी को और अधिक मात्रा में आमन्त्रित करने के उदारतापूर्वक सुविधाएँ, गारंटियाँ और नये अवसर देने के वायदे किये। तथाकथित स्व-उत्पादक अर्थनीति के निर्माण के नाम पर तथा विदेशी मुद्रा को कमी दूर करने की जाड़ में कांग्रेसी शासक ब्रिटेन, अमेरिका और पश्चिम जर्मनी तथा अन्य पाश्चात्य देशों के इजारेदारों को भारत में पूंजी लाने तथा मुनाफे कमाने की छूट दे रही है। हर साल करोड़ों रुपये मुनाफे, लाभांश, व्याज, वेतन और भत्ते, कर्मांश, बीमे और भाड़े के रूप में तथा अन्य प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष मदों में हमारे देश से बाहर लांच लिये जाते हैं। इस नीति से राष्ट्रीय अहित हो रहा है क्योंकि हमारे साधन बेरहमी से लुप्त रहे हैं, हमारी अर्थ नीति कमजोर होती चली जा रही है। इसी प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत मौलिक कृषि-सुधारों के ज़रिए अपनी कृषि को कृषक-हित में पुनर्गठित करने के बजाय भारत-सरकार एक तरफ तो विकास के नाम पर जनता पर कर-बोच लादती चली गयी तो दूसरी ओर देश को विदेशी पूंजी

१. सर परसिवल ग्रिफिथ : माडर्न इण्डिया (१९६५) - लन्दन - पृष्ठ २१२।

२. फ्रैंक मोरेस : इण्डिया टुडे (१९६०) बम्बई, पृष्ठ ६।

पर अधिकाधिक निर्भर बनाती गयी । यह सब देश के भविष्य के लिये खतरनाक है । हमें आन्तरिक तथा बाह्य दोनों मामलों में स्वाधीन नीति बरतने का कोई हक ही नहीं रहा । फलस्वरूप देश में घोर दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया जन्म लेती जा रही है जो अमरीका के साथ फौजी गठजोड़ और अमरीकी आर्थिक पराधीनता का सुलभ कर समर्थन करने लगी है । देश भर में सी० आई० ए० के भारतीय दलाजों का जाल बिछा हुआ है ।

अगर यह स्थितियां समय रहते ही समाप्त नहीं होतीं तो निकट भविष्य में भारत अमरीकी नव उपनिवेशवाद का सबसे मजबूत गढ़ बन जाएगा । अभी यह हालत तो ही ही चली है कि हम अमरीकी दबाव के कारण न तो अपने देश से सम्बद्ध किसी परराष्ट्रीय समस्या का कोई संतोषजनक समाधान कर पा रहे हैं, न ही अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले किसी अन्याय के खिलाफ सुलभ कर अपनी आवाज बुलंद कर सकते हैं । अनाज के दानों तक के लिये हमें जानसन की मेज पर हस्ताक्षरार्थ पड़ा फाशलों का खंजार करना पड़ता है । हमारे देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ अमरीका का सीधा सम्पर्क स्थापित हो चुका है । भारत की इस दुर्दशा का ही नाजायज फायदा उठा कर यहां के बुद्धिजीवी के मस्तिष्क में भी हानता, ह्रास और हताशा के दर्शन भरे जाने लगे हैं । उसे दिल्ली भी पराया शहर लगने लगा और दिल्ली की मौत के माध्यम से वह औद्योगिक और वैज्ञानिक सम्यक्ता तक का विरोध करने लगा तथा गुण्डों और बदमाशों के प्रति सहानुभूति बरतने लगा ।

आजादी के इन तेरह वर्षों में ढेरों कृषि सुधारों के बावजूद हम कृषि-विकास नहीं कर पाए । बड़े पैमाने पर अपने राष्ट्रीय उद्योग नहीं बना पाए । और हालत यह है कि हमारी कुल आबादी का अर्धसे अधिक प्रतिकृत कृषक-वर्ग कारखानों में बने माल की न्यूनतम मात्रा भी खरीद सकने में असमर्थ है । लाखों की तादाद में लोग गांव छोड़ छोड़ कर शहरों में भाग रहे हैं और श्रम के बाजार में बेकारों की बेपनाह फौज बढ़ाने पर विवश हैं । फलस्वरूप श्रम का भी मूल्य गिरता जा रहा है ।

विदेश-नीति का लेना-बोला करते समय जो मोटी-मोटी गलतियां उभरकर आती हैं वे यह हैं -- मलाया के स्वाधीनता संग्राम को दबाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों

द्वारा गुराँकों की फौजी भरती के लिए भारत भूमि पर शिविरों की स्थापना ;
 व्यक्तिनाम के विरुद्ध लड़ने की जाने वाले फ्रांसीसी विमानों को भारतीय हवाई
 अड्डों का उपयोग करने की सुविधा प्रदान करना, कोरिया में अमेरिकी फौजों
 को मदद भेजना, पाकिस्तान और चीन के साथ दुलमल युद्ध, वायस बाफ़ अमेरिका
 के साथ सौदा, अमेरिकी और ब्रिटिश हवाई कवायदें, हिन्द महासागर में अमेरिकी
 सातवें बेड़े की गश्त में प्रसार में सरकार की वास्तविक सम्मति, हिन्द महासागर
 में ही फौजी अड्डा स्थापित करने की अंग्रेज़-अमेरिकी चेष्टा पर भारत की
 वास्तविक सम्मति - इन सबने मिल कर हमारा तटस्थता और निरपेक्षता की नीति
 को लांछित किया है और फल यह हुआ कि रशिया और अफ़्रीका के देशों में भारत
 की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी है ।

साधारण लोग दिनोंदिन ब्रस्त, और दाने-दाने की मुहताज होते जा रहे हैं ।
 महानगरों के फुटपाथों पर थकी-थकी चलती लाशें और उनकी निस्तोज बाँलों में
 मरे दुःख दर्द की देखा जाये अथवा भुगगी फ़ौंपड़ियों के बीच धुं, सड़ांध और
 घुटन के बीच जीने वाले विवश लोगों से मिलता जाये तभी हम अनुभव कर सकते हैं कि
 स्वातंत्र्योत्तर भारत ने कितनी वास्तविक प्रगति की है और कितना प्रगति का ढोल
 पीटा गया है ?

वोट मांगने के समय को छोड़ कर गद्दीधारी नेता लोग कभी बदबू, सड़ांध और
 बीमारियों से भरी बस्तियों और अधीर तंग गलियों में नहीं जाते । शासन-व्यवस्था
 पर अविश्वास के कारण ही गांवों और शहरों में आराजकता बढ़ी है । लूट-मार,
 डाकाजनी और आगजनी बढ़ रही है । महंगाई बढ़ जाने के कारण तो और भी
 अभावग्रस्त लोग अपने अभाव पूरे करने के लिए हिंसा, चोरी और अनेतिकता पर उतर
 जाये हैं ।

पदलोत्पत्ता ने हमारे नेताओं को बंधा बना दिया है । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद
 वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के साथ-साथ हमारा घोर नैतिक पतन भी हो गया
 है । यह भ्रष्टाचार और बेईमानी देश नयी पीढ़ी और युवा जन कुंठा एवं निराशा
 के शिकार बन गये हैं । युवा पीढ़ी के सामने केवल बंधकार है । बंधविश्वास, मांग्यवादी
 दर्शन तथा तथाकथित अहिंसा ने उसे पहले से ही निकम्मा एवं कायर बना दिया था ।

अन्धाय को आंस मूंद कर सह लेने की आदत हो गयी थी । सामर्थ्य का हास हो गया था और लोग मेड़ों की भांति किसी भी फण्डे के पीछे चल पड़ते थे ।

आकाशवाणी जिस स्वता का दुहाई देता है, वह स्वता देश में कहाँ है ? लोग छोटी छोटी बातों, जात-पात, दान-मजहब, बोली-भाषा के भगड़ों को लेकर एक दूसरे का सिर फोड़ने की तैयार हैं । बोली भाषा के आधार पर नित नये राज्य बनते जा रहे हैं । जनता के नाम पर सभी नेता लोग हलुआ-पूड़ी खाना चाहते हैं । वैसे जनता जाये चूल्हे-माड़ में । देश में 'सफेद हाथियों' की फाँव बढ़ती जा रही है और कमठ तथा इमानदार व्यक्ति दो-बार हाँ होंगे । जब कोई आक्रमण हमारे ऊपर चढ़ बैठता है तभी जान बचाने के लिये हमारे शरीर में व्याप्त स्वता के कीटाणु कुछ जोर मारते हैं । मगर जहाँ युद्ध विराम हुआ कि यह फिर सो जाते हैं और तब संकीर्णता, कट्टरता, भेदभाव और वैमनस्य के कीटाणु फिर से क्रियाशील हो उठते हैं ।

इसलिये हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए जब यह कहा जाता है कि इस समूची शताब्दी का उतरार्द्ध एक घुटन-भरी उदासी से अनायास भर गया है । उबाऊ और आत्म-रक्षात्मक वातावरण ने बीसवीं शताब्दी को न केवल निरर्थकता, संत्रास, भयानकता और चुपन-भरे अविश्वास से भर दिया बल्कि विश्व मानस को उन्मथित कर दिया है । इस वैचारिक यंत्रण का अवसान जब शीघ्र संभव भी नहीं है । मानव-मन का यह विशेष असंतोष जाने वाले कई वर्षों तक व्यक्त होता रहेगा - बिना किसी प्रयत्न के ।

बीसवीं सदी का असंतोष, वास्तविक यथार्थ से संघर्ष, आत्म-संघर्ष, त्रासदीय अवस्था, मानसिक शिथिलता, सोसलेपन का सहसास, विभिन्न जीवन पद्धतियाँ, दुश्चिन्ता समूचे काल का एक बहुत मामूली-सा हिस्सा ही बन कर रह जाते हैं । ये सब तो एक परमाणु के बराबर भी नहीं हैं । इस सदी का भार आदमी को ज्यादा प्रतीत होता है तो यह उसकी सोमावों के कारण है । असंतोषी और विद्वान्य होने के कारण वह बहुत कम सहज कर सह पाता है । काफ़ूका ने यही सोचा था और उसे सांसारिक वस्तुओं के मध्य सोसता-सा कुछ महसूस हुआ था । १९१३ में उसने लिखा था -- 'मे एक काल-कोठरी की दीवार से अपना सिर टकरा

कर रह जाता हूँ, इस काल-फौठरी में न तो दरवाजे हैं और न सिड़कियाँ ।^१

● मानव चेतना का नूतन स्वरूप और दृष्टिकोण का भेद

यह ठीक है कि आज जनजीवन बढ़ गया है । बाह्य दूरियाँ कम होने के साथ-साथ आंतरिक दूरियाँ बढ़ती ही गयी हैं । सम्बन्धों में तनाव और फूट घुस जाया है । इतना कि बादमा चकित है किन्तु उतना ही असहाय भी । इसीलिए आज की कहानी में चित्रित सामाजिक यथार्थ यदि छोड़ा विचित्र लगे, तो आश्चर्य न होना चाहिए । आज का सामाजिक यथार्थ प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ से भिन्न है । सामाजिक यथार्थ का अर्थ यह नहीं होता कि हम 'रचनाओं' में अपनी मान्यताओं का प्रतिफलन या अपने पूर्व-नियत अभिप्रायों का अंकन ही ढूँढ़ा करें । सामाजिक यथार्थ साहित्य में बहुत सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्त हुआ करता है... साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है । उस शैली में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में शब्दों या सास प्रकार की वस्तु को ही यथार्थ मानने वालों को थोड़ा कष्ट अवश्य होगा ।^२ आज की कहानी में यह यथार्थ विभिन्न स्तरों पर देखना होगा । कहीं वह भारतीय सन्दर्भों में आया है, तो कहीं सार्त्र, कामू तथा काफ़्का की नकल में ।

आंतरिक-यात्रा, तत्त्वों का विश्लेषण, राजनैतिक सार्व, निर्मम कालवाद, मानवीय अनुभूतियों का सार्थकता, चिकित्सा-शास्त्र की पुष्ट होती हुई वास्था और साथ ही संकटबोध को फेलने का आश्वासन - इन सभी को युवा पीढ़ी मात्र आकर्षण की संज्ञा मानता है ।

काल की हाती पर छायावियों से लाखों पैगाटन के विस्फोट होते रहे हैं । एक गृह ही क्यों, हजारों स्थानों पर ये विस्फोट हुए हैं । इन विस्फोटों का कोई अर्थ नहीं है । अतः यह वैज्ञानिक प्रगति या 'कुछ पाना' नहीं वरन् बादमा का कुछ सोना

१. फ्रेन्च काफ़्का : ज्ञानोदय, दिसम्बर १९६७, पृष्ठ १२५ ।

२. डा० दीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला : विद्यापति विभा (१९७१) दिल्ली, पृष्ठ १३३ ।

ही है। इससे आदमी का हीन-भाव प्रकाशित हुआ है।

जानेवाले दशक हमें कोई भी निष्कर्ष दें, कितने ही कल-कारखाने हमारी आबादियां घेर लें, विज्ञान की प्रगति हमें कितना ही चमत्कृत करे, सगोल शास्त्रों लाख-लाख घोषणाएं करें, चिन्तक नश्वरता की बात करें, दूरियां बिन्दु बन जाएं और व्यक्ति चन्द्रमा पर रहने लगे किन्तु सत्य यही है कि यह धरती फिर भी उसी परम्परागत तरीके से सिर्फ शून्य में घूमती ही रहेगी। परम्परा ही आज भी सब कुछ है। आधुनिकता के यह दावे सदियों पुराने हैं। अजन्ता के मोक्ष-चित्र, उनका रूप, उनका रंग भी कभी किसी जमाने में आधुनिक ही रहा होगा।

संयन्त्रों का जमाव, विश्वयुद्ध का स्तरा, बास्कों और शस्त्रों का ढेर, पैटन टैंकों के नये-नये डिजाइन, अणुशक्ति का विकास, दिशाहीन चिन्तन, प्रवहमान घटनाओं, ग्रहों-नक्षत्रों की आसक्ति - यह सब कुछ भी इस निरन्तर होते परिवर्तनों को व्यक्त नहीं कर सकते। कब, कहाँ, कौन-सा परिवर्तन हो जाये, कहाँ नहीं जा सकता। हाँ, इस बीसवीं शताब्दी को बेमानी यात्रा का एक पड़ाव अवश्य माना जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी का अर्थ सिर्फ इसी होने में है। वह हमें अपने होने का स्हसास भर देती है। हम उसे परिभाषित नहीं कर सकते क्योंकि वह असीमित है और सीमा में नहीं बाँधी जा सकती है - उसमें घुटन, संक्रास, विघटन भी है तो सृजन, महत्वाकांक्षा और संगठन भी। हमें मात्र इसके प्रति ई प्रतिभूत होना चाहिए। जो वह उद्घाटित कर रही है उसे समझना चाहिए। बीसवीं शताब्दी समाज के लिये पूर्णतया निरर्थक ही नहीं है। क्योंकि महंगाई, तबाही, दायित्वभाव और आतंक, अज्ञान का मय, हमारे सिर पर तेरते हुए वेगवान् स्फुटनिक, आर्थिक असमानता का स्हसास, भीतरी घुटन, दयनीय बना देने वाली कटु परिस्थितियाँ - इन सबके बावजूद यह बीसवीं शताब्दी के स्वातंत्र्योत्तर दशक हमें जाने का भी प्रबल आमंत्रण दे रहे हैं। भीड़ और जुत्सों में भी हमने अपना-अपना 'व्यक्तित्व' सम्हाल रखा है और आगे बढ़ते जा रहे हैं।

हम आज बम्बई जैसे महानगरों में रहना चाहते हैं। 'इम्पोर्टेड' 'टैरिफ़ीन' का सूट

जाते हैं। लिफ्ट से बढ़ते-उतरते हैं। थके होने पर स्वरकंडीशंड रेस्त्रा में काफी पाते हैं। सिनेमा-स्क्रीन पर थ्री-डाइमेंशनवाला फिल्म देखते हैं। तत्काल होने वाली घुड़दौड़ घर बैठे-बैठे टेलीविजन पर देख लेते हैं और यदि और साधन सम्पन्न हुए तो सुपरसोनिक जेट विमान द्वारा यात्रा करके एक ही दिन में ब्रेकफास्ट एक महाद्वीप में, लंच दूसरे में और डिनर तीसरे महाद्वीप में लेते हैं। इस तरह कुंठा और कितने उभावों के बावजूद भी हमें अपनी यह दित्तियाँ स्वीकार है और हमें जरा भी संभन-मंभन हमें अस्वीकार होता है।

वाज हम जिस तारीख पर लड़े हैं उसके पीछे है बीसवीं शताब्दी का दो-तिहाई रास्ता - एक नहीं, दो भयंकर विश्वयुद्धों का तूफान, पूर्व-पश्चिम तथा अमेरिकी-रशियन शक्तियों के सामर्थ्य साधन की प्रतिद्वंद्विता के बीच तीसरे विश्व-युद्ध का स्तरा, स्टम, हाइड्रोजन और मेगाटन बम के दुधारे हथियारों के बूट गिरने का हारर, विज्ञान के हाथों चमत्कारों की आतिशबाजी का तरह बन्दुलोक पर उतरते बन्दुयान और जादमी, मानवीयता और भावना के लोक पर जमता हुआ कुहरा, मशीन आटोमेटन और कम्प्यूटर के सामने एक ओर मानव-क्षमता और क्षिप्रता, तो दूसरी ओर उसका अवमूल्यन, गुलामी की सलाखों को तोड़ कर अपना परिचय पहराते देश, संयुक्त राष्ट्र संघ का रेफरी का तरह युद्ध को बचाये रखने वाला यत्न, कुछ अभिनय, कुछ असलियत - अपनी लाठी के बल अब भी दुनिया को जीत लेने का दम्भ करने वाले देश, हिटलर-मुसोलिनी की तानाशाही और हिरोशिमा का ध्वस्त संहार... सामाजिक संदर्भों के बीच टूटता और जूझता हुआ जादमी, परिवार के बदलते हुए परिवेश, फैशन की दुनिया में स्ट्रिपटीज़ के करिश्मे, एक जीवन शराब-सोरी और नैतिक अमान्यताओं का, एक ओर जावन जिम्मेदारी, संघर्ष और कोलैप्स का... 'तरक्की' की काया इतनी ऊँचा कि लोकालोक के पार सिर उठार लड़ी है, 'तनज़ुली' की साईं इतनी गहरी कि ऊपर के लोकालोक भी उसमें धिलीन हो जायें। मतलब कि उत्थान और निर्माण की भी संभावनाएं हैं और पतन और विनाश की भी।

बदलते देश और देशों के नक्शे, कल्पित और अकल्पित समाज, नये विकसित होते परिवार, बदलते हुए नाते-रिश्ते, प्रणय और परिणय के कायाकल्प, निरन्तर

विस्तृत होती दूरदृष्टि की कल्पना करते सहसा रोमांच हो जाता है। भविष्य पर दुर्भाग्य की तरह घिरती मयावहता पर जब वारें ठहरती हैं तो कंपकंपी होने लगती है। लगता है 'लात बटन' का आतंक हमेशा बना रहेगा किन्तु जब आदमी की शक्ति और शाश्वत प्रगतिशीलता की दृष्टि में रख कर सामने देखते हैं तो वारें प्रसन्नता से चमकने लगती हैं - समा कुछ समाप्त हो जायेगा... 'नया कुछ' बहुत अच्छा आसगा, ये गृह-युद्ध और शीतयुद्ध भी जागे चलकर दमतीड़ देंगे, दुनिया दूरी की दृष्टि से बहुत छोटी हो जायेगी... सैकड़ों चौराहों पर हजार हजार मार्ग-संकेतक तीर-चिन्हों के नियान जगमगाएंगे और हम इन संकेत-सूचक प्रकाश-चिन्हों की पांठ देकर उन शिखरों की ओर बढ़ेंगे जो रहस्यमय हैं, अज्ञान हैं और जिन पर डग भरने का रोमांच अनोखा होगा। मनुष्य साधारण जीवन में निरन्तर यंत्रवत् क्रियात है।... उसके ऊहापोह के गुंजलू बड़े उलफे हुए, पेचीदे और गहन हैं। उसकी अस्पष्टता, जटिलता रहस्यमय है। यही स्थिति आज मानव जीवन की भी है, उतना ही जटिल और रहस्यमय। चारों तरफ धीरे अंधकार है और जब मनुष्य को अपना रास्ता ही स्पष्ट नहीं है, तो भविष्य के प्रति वह आश्वस्त कैसे हो सकता है। एक विचित्र सी मुगलुब्धा के पीछे वह भाग रहा है, भटक रहा है।

हमारे सामने आज 'चन्द्रलोक के डोहंग रूम' हैं, प्रयोगशाला में 'प्राणों के निर्माण' की योजनाएं हैं। कहा नहीं जा सकता कि बीट-बीटल्स-हिप्पीज़ और भूखी दिगम्बर पीढ़ी के बाद की पीढ़ी का क्या नाम होगा? राजनीति का बोस्ट पर लड़ा भारत अपनी हर दृष्टि से उपयुक्त नेता चुन कर तरक्की कर सकेगा या गृह-दाह के दृश्य उपस्थित करेगा? सचमुच आज हम कुछ भी नहीं कर सकते कि परिवार, प्रेम, विवाह, विच्छेद, नाते-रिश्ते - जागे चल कर कौन-सा शक्ति पर चलेंगे? अथवा मानवता जैसी सार्वभौम भावना का वादर करती हुई युवा-पीढ़ी विश्व की दिशा में जागे बढ़ेगी या सटे हुए केंचुए की भांति टुकड़े-टुकड़े में बंटकर भी जीवन जीने के लिए बाध्य रहेगी, कौन जाने?

पुराने मूल्य बिखर गए हैं और नए मूल्यों का अभी हम निर्माण नहीं कर सके

हैं।^१ यही कारण है कि आज दृष्टिकोण में इतना भेद है। परतन्त्रता की बेड़ियों में कोई जकड़ा नहीं रहना चाहता। मनुष्य हर स्तर पर, यहाँ तक कि चिंतन के स्तर पर भी स्वतन्त्र रहना चाहता है और अपने निजी व्यक्तित्व का निर्माण करने का प्रयत्न करता रहता है। नैतिक रुढ़ियाँ इसीलिए बड़ी तीव्रता से इस दौर में टूटी हैं। नैतिकता के पुराने आधार जब टूट जाते हैं, तो मानव भी पुराना नहीं रह सकता। वह नए वायामों का सौज करता है और अपना एक नई दृष्टि बनाकर अपने चारों तरफ नए परिवेश के निर्माण का प्रयत्न करता है। अज्ञेय ने एक स्थान पर उचित लिखा है कि ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति को समाज की तत्कालीन मान्यताएँ गलत और असाध्य जान पड़ें। जैसे कि ऐसा भी होता है कि समाज को व्यक्ति के विचार या आचरण स्तरनाक जान पड़ें। तब टकराव होती है या नया सन्तुलन होता है, या कोई टूटता है या बहिष्कृत होता है या डर जाता है।

● सांस्कृतिक टकराव और नैतिक अस्वाकृति का नया उन्मेष

सम्यता के विकास एवं नित्य नए विचारों के उदय के साथ सांस्कृतिक टकराव होनी नितान्त स्वाभाविक है। हम निरन्तर अपने जीवन में परिवर्तन चाहते हैं।

१. २० बी० शाह तथा सी० आर० एस० राव : सम्पादित : ट्रेडिशन एण्ड

माडर्निटी इन इण्डिया - पृष्ठ १४७ - "Increasing equality, provision of amenities and other welfare measures may reinforce respect for new ethical values. But for a poor country there are limitations, physical and financial, to the rate at which more welfare measures can be provided. During the transitional period some of the tensions arising out of urbanization and the break with traditional values - you may call it the spiritual vacuum which people in towns often experience when the old religion no longer answers their needs and has not been replaced by a new set of values."

स्थिरता का या जड़ता की स्थिति स्वभावतः अरुचिकर होती है। इस शताब्दी में हिन्दुत्व और पाश्चात्य विचारों में जितना तीव्र संघर्ष भारत में देखने को प्राप्त होता है, उतना विश्व के किसी भी भाग में नहीं। दूसरे देशों में इस तरह के संघर्ष में या तो संस्कृति ही मिट गई या लोग ही समाप्त हो गए। इसके ज्वलन्त प्रमाण ईरान और अजिष्ट हैं। दोनों स्थानों पर प्राचीन ऐतिहासिक सम्यता एवं संस्कृति की टकराहट इस्लाम के साथ हुई और उनका अपना मौलिक स्वरूप बृहत्तर इस्लामी सम्यता में समाप्त हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् इस दृष्टि से भारत में एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई है। आज का भारत जो कुछ भी प्रस्तुत करता है, वह केवल एक स्वाधीन एशियाई राष्ट्र की स्थापना ही नहीं, बल्कि एक नई सम्यता एवं संस्कृति का उदय भी है। आज परम्परा का जो वंश शेष है, वह केवल सण्ड रूप में हिन्दू धर्म है। पश्चिम की परम्परा का प्रभाव इस दृष्टि से कम उत्प्रेक्षणीय नहीं है। आज का आधुनिक भारत मनु के नियमों के अन्तर्गत नहीं रहता। इसका मानसिक गठन और पृष्ठभूमि, यद्यपि अधिकांशतः भारतीय परम्परा से प्रभावित है, पर मुख्यतः पिछले सौ वर्षों की पश्चिमी शिक्षा और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एवं स्तर पर पाश्चात्य परम्परा के प्रभाव में निर्मित हुआ है। आज के सामाजिक वादों वे नहीं हैं, जिसका स्वप्न परम्परागत हिन्दू धर्म देता करता था, बल्कि पश्चिम से प्रभावित हैं, विशेषतया फ्रेंच क्रांति और कुछ वंशों में मार्क्स के वादों एवं सोवियत सामाजिक प्रयोगों से। यहां तक कि हिन्दू धर्म के परम्परागत विश्वास भी विगत शताब्दी में पर्याप्त अंशों में परिवर्तित हो गए हैं। पूर्व और पश्चिम का यह समन्वय^१ आज के भारत में सहजता से देखा जा सकता है।

१. के० एम० पन्निकर : द फाउण्डेशन्स आफ न्यू इण्डिया (१९६३) लन्दन,

पृष्ठ १६ - "In fact it will be no exaggeration to say that the new Indian state represents traditions, ideals and principles which are the results of an effective but imperfect synthesis between the East and the West."

वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं बौद्धिक उन्मेष के कारण धार्मिक अस्वीकृति का एक नया वातावरण इस काल में लक्षित होता है । मानव-मूल्यों के प्रति आज लेखक का आग्रह अधिक है । वह कबीर, सूर या तुलसी की शब्दावली में ब्रत या मोक्ष की बात नहीं करता । आज के सांस्कृतिक नव-निर्माण में विज्ञान का उत्प्रेक्षणीय योगदान रहा है । विज्ञान ने चिन्तन पद्धति का आधार बदलकर मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टिकोण पर ज़बरदस्त प्रहार किया है । एक चिन्तक ने ठीक लिखा है कि आधुनिक मनुष्य आज उन्नति की चरम सीमा पर है, परन्तु कल के लोग इससे भी आगे निकल जा लेंगे । यह ठीक है कि वह एक युगव्यापी विकास का अन्तिम परिणाम है, परन्तु साथ ही वह मानव-जाति की आशाओं की दृष्टि से अधिकतम निराशाजनक है । आधुनिक मनुष्य को इस बात का पता भी है । उसने देखा लिया है कि विज्ञान, शिल्प और संगठन कितने लाभकारी हैं ; किन्तु साथ ही यह भी कि वे कितने विनाशकारी हो सकते हैं । वही प्रकार उसने देखा लिया है कि सदुद्देश्य वाली सरकारें कितनी अच्छी तरह इस सिद्धान्त पर शान्ति के लिए मार्ग बनाती हैं कि "शान्ति के समय में युद्ध की तैयारी करो ।" ईसाई चर्च, मनुष्यों का भ्रातृभाव, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक प्रजातन्त्र और धार्मिक हितों की 'एकता' सबके सब वास्तविकता की कसौटी में खोटे सिद्ध हुए हैं ।... आधुनिक मनुष्य को, मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो लाभ प्राणान्तक आघात पहुँचा है और परिणामस्वरूप वह घनी अनिश्चितता में जा पड़ा है ।

आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आदर, सत्य और सौन्दर्य के प्रति प्रेम, धर्मपरायणता,

१. बर्ट्रेण्ड रसेल : द इम्पैक्ट ऑफ साइन्स ऑन सोसायटी (१९५२) लन्दन-पृष्ठ २४-२५

"In the pre-scientific world, power was Gods...

Judging by the analogy of earthly monarchs, men decided that the thing most displeasing to the Deity is a lack of enmility. If you wished to slip through life without disaster, you must be weak; you must be aware of your defencelessness, and constantly ready to confess it."

२. सी० जी० जुंग : माडर्न मैन इन सर्व वाफ ए सोल (१९३३) पृष्ठ २३०-२३१

न्याय और दया, पीड़ितों के साथ सहानुभूति और मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व में विश्वास वे गुण हैं, जो वायुनिक सभ्यता को बना सकते हैं। जो लोग धर्म के नाम पर अपने आपको शेष संसार से पृथक् कर लेते हैं, वे मानव-विकास में बाधक होते हैं। सभ्यता एक जीवन पद्धति है, मानवीय आत्मा की एक हलचल है। प्रत्येक सभ्यता किसी-न-किसी धर्म की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि धर्म परम मूल्यों में विश्वास का और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है। इस का अर्थ अतिवादी होना नहीं है या अपने धर्म को सर्वोच्च समझकर अनावश्यक युद्ध या संघर्ष करना नहीं है। जब मनुष्य अपने आपको धरती पर देवता समझने लगते हैं और जब वे अपने मूल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं, तो वे अज्ञान द्वारा पथभ्रष्ट हो जाते हैं। तब उनमें एक शैतानी विकृति या अहंकार उठ खड़ा होता है, जो ज्ञान और शक्ति दोनों की दृष्टि से अपने आपको सर्वोच्च घोषित करता है।^१

आज इसी स्थिति के प्रति मन में अस्वीकार है। मनुष्य स्वायत्त हो गया है और उसने बाज़ापालन, विनय और धार्मिक मोह को तिलांजलि दे दी है। वह अपना स्वामी स्वयं बनना चाहता है। जीवन पर अधिकार करने और उसका नियन्त्रण करने और ईश्वरहीन संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में वह ईश्वर तथा धर्म के प्रति विद्रोह कर रहा है। आइन्स्टीन ने एक बार कहा था कि व्यक्ति मानवीय आकांक्षाओं और उद्देश्यों की नगण्यता को और उस अतिमव्यक्तता तथा आश्चर्यजनक सुव्यवस्था को अनुभव करता है, जो प्रकृति और विचार-जगत् दोनों में प्रकट होती है। वह मानवीय अस्तित्व की एक कारागार के रूप में देखता है और सम्पूर्ण विश्व को एक महत्वपूर्ण समग्र रूप में अनुभव करना चाहता है। सब कालों के धार्मिक प्रतिमा-शाली लोगों में इस प्रकार की धार्मिक अनुभूति बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यह धार्मिक अनुभूति न तो धर्म सिद्धान्तों से बंधकर चलती है और न मनुष्य के रूप में कल्पित परमात्मा से; इसलिए ऐसा कोई धर्म-समाज नहीं हो सकता, जिसकी केन्द्रित

१. ईश्वरोहं वहं भोगी सिद्धोहं क्तवान् सुखी,

..... इत्यज्ञानविमोहिताः । - भगवद्गीता - १६ - १४ - १५

२. एव० गोडेन गार्बेडियन : वर्ल्ड आइन्स्टीन (१९३६) न्यूयार्क, पृष्ठ २०७ ।

शिक्षाएं अनुमति पर आधारित हों। यही कारण है कि प्रत्येक युग में प्रवृत्ति धर्म को न मानने वालों में हमें अनेक ऐसे लोग दीख पड़ते हैं, जिनमें उच्च कोटि की धार्मिक भावनाएं थीं और अनेक बार तो वे अपने समकालीनों द्वारा नास्तिक माने गए थे।

सच्चा धर्म मानवतावाद है, जिसमें आज का व्यक्ति विश्वास करता है। जिसकी चेतना सर्वोच्च आत्मा में, बुद्धि और आनन्द के अपार समुद्र में, लीन हो गई है^१, उसे जन्म देकर माता सफल-मनोरथ हो जाती है, परिवार पवित्र हो जाता है और सारी पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है। आज मानवीय तत्वों का जिस प्रकार विघटन हो गया है और सांस्कृतिक संकट के इस दौर में मनुष्य जिस प्रकार निरर्थकता की ओर अग्रसर होता जा रहा है, उसमें मध्ययुगीन धार्मिक प्रतिमानों के प्रति तिरस्कार तथा मानव-मूर्त्यों के प्रति विशिष्ट आग्रह बहुत स्वाभाविक है।

● जर्नल का अमिनव स्वल्प और 'नए' व्यक्ति का आविर्भाव

पीछे व्यापक राजनीतिक चेतना की बात की जा चुकी है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद घुससोरी और चारित्रिक हत्या का ऐसा नया दौर प्रारम्भ हुआ, जिस पर सहज विश्वास करना कठिन था। वे नेता, जो अपने त्याग एवं सर्वस्व निहावर के लिए जन-मानस में आदर्श बने हुए थे, सहसा ऐसे स्वार्थ-लिप्त हो गए कि सारा देश अंधकार के गर्त में डूब गया। यह जर्नल का सर्वथा नूतन स्वल्प था जिसमें जिन सिफारिश के या भ्रष्टाचार के कुछ भी प्राप्त करना कठिन था। नेताओं ने अपने हित के आगे राष्ट्र-हित तक को तिलांजलि दे दी।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् जो 'नया' व्यक्ति सामने आया, वह विम्पान्त था। वह नई पीढ़ी का हर तरह से योग्य, सम्पन्न एवं कुशल प्रतिनिधि था, जो आदर्श के नाम पर अविश्वास, घृणा, माई-भतीजावाद और स्वार्थ-लिप्सा देत रहा

-
१. कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन,
अपार संवित्सुख सागरे स्मिन् परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ।

था। यह 'नया' व्यक्ति देख रहा था कि देश के निर्माण के नाम पर विध्वंस हो रहा है। समाज में परिवर्तनशीलता के नाम पर संकीर्णता, प्रान्तीयता तथा जातीयता का विकास हो रहा है। मानव-मूल्यों के सम्मान के नाम पर धार्मिक अतिवादिता मनुष्य जाति को क्षताब्धियों पीछे ले जा रही है। कोई भी व्यक्ति अपने दायित्व का अनुभव न कर केवल अपने लिए सुविचारें जुटाने में व्यस्त है। न कोई राष्ट्रीय चारित्र्य रह गया है, न देशभक्ति। इस 'नए' व्यक्ति के मन में विकास का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।

इस 'नए' व्यक्ति ने अपने नेताओं का आदर्श और त्याग नहीं देखा था। स्वाधीनता संग्राम से भी उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। उसने अपने नेताओं को भ्रष्टाचार, वनाचार और भाई-भतीजावाद के पक्षधर के रूप में देश-हित का बलिदान देखा। राजनीतिक स्तर पर दल-बदल, बेमनस्य, राजनीतिक हत्याएं, गुटबाजी तथा एक दूसरे के बरिष्ठों की निर्मम हत्या देखा।

अतः इस 'नए' व्यक्ति की कोई मान्यता बनने के पहले ही टूट गई। वह कोई आदर्श बना सके, उसके पहले ही वह इस देशव्यापी दलदल में फँसने लगा। मूल्य-मर्यादा की वह कोई पहचान कर सके, उसके पहले ही गहन मानवीय संकट और विश्वास की संक्रान्ति ने उसके व्यक्तित्व पर कृत्रिमता का लबादा डाल दिया। यही 'नया' व्यक्ति हमारा आज का नया कहानीकार भी बना और कहानियों का नायक भी। 'यह 'नया' व्यक्ति यदि अपने आविर्भाव के साथ ही विद्रोही बन गया, तो कोई आश्चर्य नहीं। मूल्य उसने देखे नहीं, तो उसके प्रति आग्रहशील होना व्यर्थ था। जो पीढ़ी उसके लिए आदर्श बन सकती थी, वह मानसिक रूप से गुलाम थी और स्वयं आदर्शव्यक्त हो चुकी थी। अतः जीवन के हर आदर्श, हर मूल्य और हर परम्परा के प्रति इस 'नए' व्यक्ति में गहरा अस्वीकार, घृणा तथा आक्रोश उत्पन्न हुआ, जिसने आज की कहानी को निश्चित रूप से एक नई दिशा दी है, जिसका मूल्यार्थन आगे विस्तार से किया गया है।

३. दूसरा अध्याय : परम्परा एवं स्वल्प

- नई कहानी : परिभाषा एवं सन्दर्भ सूत्र
- नई कहानी : व्यक्तिगत चेतना और समाजगत चेतना में अन्तर्विरोध
- जेतनाय दृष्टिकोण और प्रतिबद्धता
- प्रेमचन्दोंतर कहानी और स्वातन्त्र्योत्तर नई कहानी में सामाजिक संवेदना की टकराव और परिवर्तनशीलता
- भारतीय जात्या का अन्वेषण और जातिशिक्षा का अन्वेषण

● नई कहानी : परिभाषा एवं सन्दर्भ सूत्र

गत दो दशकों में नई कहानी को लेकर जितना वादविवाद हुआ है, कदाचित् हिन्दी साहित्य के इतिहास में किसी अन्य विधा को लेकर नहीं। नई कहानी के समर्थकों में जितना आत्मविश्वास है और विरोधियों में जितना आतंक, उससे कम-से-कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि नई कहानी में कुछ विशिष्टताएं ऐसी हैं, जिन्हें लेकर इतना क्वां हुई है और जिन्हें सहज ही नकारा नहीं जा सकता।

पिछले अध्याय में जिस 'नई' व्यक्ति का बर्णन हुआ है, वह नई कहानी में बार-बार आया है। व्यक्ति के विद्रोह के माध्यम से नई कहानी ने मंड़ियों का विरोध, विकास का समर्थन और जीवन के सर्वांगीण विकास में व्यापक योगदान दिया है, जिससे मानव-मूल्यों का नए सन्दर्भों में विकास हुआ है। प्रेमचन्द ने समाज को इतना महत्व दे दिया था कि व्यक्ति का कोई र्थ शेष नहीं रह गया था। उनके बाद के कहानीकारों, जथा जैन्यकुमार, ज्ञेय तथा अज्ञेय जैसा जादि ने समाज के प्रति विद्रोह के नाम पर व्यक्ति का कुण्ठाओं एवं अस्वस्थ मनोवृत्तियों के स्पष्टीकरण में ही अपनी सारी कला लगा दी कि मानव अपनी गरिमा से वंचित हो गया। ऐसा लगने लगा कि न व्यक्ति स्वस्थ है, न समाज और दोनों को मिटाना आवश्यक है। लेकिन इस प्रमपूर्ण अवस्था का नई कहानी ने निराकरण करने का प्रयत्न किया और व्यक्ति तथा समाज के मध्य नया सम्बन्ध स्थापित कर मानवीय गरिमा की पुनर्प्राप्ति करने का प्रयास किया। उसने नए सिरे से व्यक्ति का पुनरावेषण किया और मानव-मूल्यों पर कल दिया - वह कम उत्तेजनायक बात नहीं है।

एक विद्वान् आलोचक ने नई कहानी की परिभाषा देते हुए उचित लिखा है कि ये कहानियां (नई) युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहां नवीन मूल्यों का स्थापना नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों का और संकेत अवश्य है। संकेत इसलिए, क्योंकि बाब की कहानी व्यंजना प्रधान रहती है। उनका मूलधार मानवतावादी है - मनुष्य में मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी

का मानसिक रूप ।^१ डा० बाष्पेय 'नई' नाम देना उचित नहीं समझते क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक युग की कहानी नई होती है । वे इसमें कलबन्दी का काम समझते हैं, जो कहानी के भाषिण्य के लिए घातक होगा । किन्तु इतना वे स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि इन नई कहानियों में त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान निरपेक्ष होती हैं । उनमें मानव-मन की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि भुंझा और दमिा व्यक्तित्व का चित्रण । मानव मन की ग्रंथियों को खोलना एक प्रकार के मानसिक रंजन का उपयोग करना है । फलतः उन कहानियों का व्यक्ति विचमत्ताओं और कुपुत्रियों से पीड़ित होने पर भी स्वस्थ है ।

एक अन्य आलोचक^२ के अनुसार लघु कथेपर जयवा शब्द-संयम, अंशों का सम्यक् व्यंजना के लिए अंश का विवेकपूर्ण चयन, वर्णमय संकेतों का अनुगुंज के द्वारा ज्ञात के परिधि से असोम अज्ञात का गहराई की माप, और इस प्रकार क्रमशः "अपने भीतर के अव्यक्त को जगाकर उसका सहसा बाहर के रहस्यमय से सहज अन्तर्ग परिचय करा देना" - यही कहानी का अभीष्ट है और इसी में उसकी सफलता । अतएव जो इस प्रकार जाज को कहानी में मनोविश्लेषण पर अधिक बल देते हैं और प्रकारान्तर से उसकी स्वतन्त्र सृजा अस्वीकार कर उसे अपनी परम्परा से जोड़ देते हैं । वे व्यक्ति के आत्मविश्वास या वास्था का पूर्ण उपेक्षा कर देते हैं, जो नई कहानी की सर्वप्रमुख विशेषता है ।

वास्तव में नई कहानी मानवाय मूल्यों के संरक्षण पर बल देती है । उसमें जावना-शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नव-निर्माण का उत्कट प्यास है । इस प्रकार नई कहानी जाज न केवल नई भावभूमियों का सुजन कर रहा है, बल्कि व्यक्ति का मर्यादा का उद्घाटन कर उसकी आत्मान्वेषा प्रवृत्ति पर बल देती है । इस सम्बन्ध में एक कहानीकार ने ठीक ही कहा है कि 'नई कहानी का वास्तविक सम्बन्ध युगीन जीवन से है । उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समकालीन व्यार्थ, समय और परिवेश से है ।

१. डा० लक्ष्मीसागर बाष्पेय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६)

इलाहाबाद, पृष्ठ १०० ।

२. अतएव : हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य (१९६७) दिल्ली, पृष्ठ १११ ।

... पूर्णतया यथार्थवादा सामाजिक दृष्टि का मर्यादा एवं सार्थक सामाजिक मूल्यों का सीमा में अनुभूति के तन्त्रों कावेग को अधुनातन एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति की गरिमा प्रदान करना ही नई कहानी है। नई कहानी जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतकरण है। वह जावन, समाज, युग-बोध और भाव-बोध के परस्पर सम्बन्धों एवं फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत श्रमान्वारी से प्रस्तुत किया गया विवरण है। ... नई कहानी सामयिक सीमाओं के अन्तर्गत अपने यथार्थ युग, समय, परिवेश और व्यक्ति को देखने-परखने एवं मूल्यांकित करने की प्रक्रिया है, जो यथार्थ को उसके उचित सन्दर्भों में संप्राणता के साथ अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करती है।^१ सुरेश सिनहा यह स्वीकार करते हैं कि पूर्ण कल्पना, पलायन, अनास्था एवं पराजयमर्या घुटन में नई कहानी की मूल्य है तथा जीवन संघर्ष, कटु यथार्थ एवं राह से समपुक्त होने में ही उसकी राजन्यता है।

एक अन्य सुविज्ञ ने इस संदर्भ में कहा है^२ कि हिन्दी कविता का अपेक्षा कहानी में स्वस्थ सामाजिक शक्ति कहां अधिक है और आज उपन्यास की तरह कहानी सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक अस्त्र का काम कर रहा है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है और यह नई कहानी की मूल मान्यता को स्पष्ट करता है। नामवर सिंह ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है, नई कहानियां स्थाकृति के रूप में वसण्ड बकाई हैं, किन्तु उनके निर्माण में अनेक तत्त्वों का योग दिखाई पड़ेगा। वे जिस वस्तु सत्य की जीवन्त स्था-दृष्टि हैं, उसमें जातीय जीवन तथा व्यक्तिगत अनुभूति, परम्परागत धार्य तथा नवीन परिवर्तन, व्यर्थ बाधाएं तथा कल्पना का आवरण आदि बहुत सी नई-पुरानी बातों का समवाय हो सकता है। किन्तु इस समवाय का सबसे महत्वपूर्ण तत्व वह 'ऐतिहासिक नवीनता' है, जो सम्पूर्ण कहानी को सार्थकता प्रदान करती है और जिसके कारण सम्पूर्ण परम्परा में उसका योगदान स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार नई कहानी ने व्यापक सन्दर्भों - मानवीय तत्त्वों का उद्घाटन किया है

१. डा० सुरेश सिनहा : नई कहानी की मूल संवेदना (१९६६) दिल्ली, पृष्ठ २८।

२. डा० नामवरसिंह : कहानी : नई कहानी (१९६६) स्नाहानाद, पृष्ठ २३।

और मानव मूल्यों पर कत देते हुए समाज के सर्वथा नष्ट जायामों को स्पष्ट किया है। हिन्दी कहानी ने नई करवट ली है और कहानीकार ने जीवन को नई दृष्टि से देखने तथा पकड़ने का प्रयास किया है, जीवन में नए संदर्भों का होना का है, अगोचर एवं अव्यक्त को गोचर एवं व्यक्त बनाने का प्रयत्न किया है।^१ नई कहानी को पिछले युग की अपेक्षा जीवन की जटिलता एवं संकुचता का सामना अधिक करना पड़ा है, जिसे अभिव्यक्त करने के लिए उसने भाव-बोध के नए स्तर हो गये हैं और यथार्थ के नए धरातल स्थापित किए हैं। जिस सामाजिक चेतना को अत्यधिक स्पष्ट और उजागर करने का आग्रह आज का नया कहानीकार कर रहा है, वह एक वर्ग में नई अभिव्यक्ति है। मानव-मानव के बीच उमरते, आकार धारण करते या टूटते सम्बन्धों को उनके समा संभाव्य संदर्भों में अंकित करना कहानीकार के लिए आवश्यक हो गया है। सामाजिक चेतना को नये व भावबोध का आकार बनाते हैं लड़कियाँ, बर्जनावों, अन्यविश्वालों, बहु मान्यताओं और मिथ्याचार संहिताओं का होखतापन उद्घाटित करना आज के रचनाकार के जेहन-कर्म में समाविष्ट हो जाता है।^२

इस पर नई कहानी को प्रमुख विशेषता सर्वांगीण मानवीय क्रियटन का चुनौती स्वीकार करने में है। नई कहानी उन मूल्यों को अन्वेष्टित करने में अधिक संलग्न है, जो व्यक्ति को शक्तिहीन, आत्मविश्वास से वंचित बनाने, समय सत्य से साक्षात्कार न कर पाने का कायला का छनन करने तथा सामाजिक दायित्व से पलायन कर आत्म-रति में लीन रहने का अपेक्षा संघर्ष पथ पर अग्रसर होने में सहायक हो सकें। हिन्दी कहानी पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना स्तर का आवन्त अनुभूतियों से भरी हुई है। उसमें दुःखी व्यक्ति के लिए मात्र नारेबाजी नहीं, सहानुभूति और दर्द भी है। मनोविश्लेषण के नाम पर रेखागणित की तरह ज्ञाण और उदाहरणों का विवृति नहीं दिखाई पड़ती।^३ किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक

१. डा० इन्दुनाथ मदान : आलोचना और साहित्य (१९६४) इलाहाबाद, पृष्ठ १२२।

२. डा० विजयेन्द्र स्नातक : कहानी : अनुभव और शिल्प - मुद्रिका (१९६७) दिल्ली

३. डा० त्रिप्रसाद सिंह : आधुनिक परिवेश और नववेदन (१९७०) पृष्ठ २२।

है कि नई कहानी समाज-मंगल या मानव-कल्याण के नाम पर जाने वाली अभिप्राय-वादी प्रवृत्ति के सम्मुख नतशिर नहीं होती । वह मनुष्य की आन्तरिकता को पुनः प्रतिष्ठित कर उसमें असांमंजस्य का निराकरण करना चाहती है । आन्तरिकता से अभिप्राय उस मानवीय विघटन को बुनौती है, जो आज व्यक्ति के विनाश और समाज के लोसलेप में प्रतिबिम्बित हो रहा है । नई कहानी इस प्रकार मानवीयता पर बल देती है, वास्था का पीड़ा को उभारती है, क्योंकि यहाँ पीड़ा आज मनुष्य में दायित्व केतना उत्पन्न कर सकती है और मानवीय विघटन का परिहार करके मनुष्य की गरिमा प्रदान कर सकता है, उसे भुक्ति-स्वातन्त्र्य दे सकता है ।

इन व्यापक सन्दर्भों का विशेषण करने के उपरान्त यदि नई कहानी की परिभाषा फिर मा देने का आवश्यकता है, तो मेरे विचार से यहाँ कहा जा सकता है कि नई कहानी आज के जीवन की सहा अभिव्यक्ति है, जो अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में सन्तुलन स्थापित करता हुई मनुष्य की आन्तरिकता का अन्वेषण कर उसे पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है । उसका आग्रह मानव-मूल्यों में है और सार्थकता मानवीय विघटन की उस बुनौती को स्वीकार करने में है, जो आज अनेक वादों एवं प्रवृत्तियों के नाम पर मनुष्य की गरिमा-मर्यादाहीन कर रहा है ।

● नई कहानी : व्यक्तिगत केतना और समाजगत केतना में अन्तर्विरोध

नई कहानी ने प्रारम्भ में सामाजिक संवेदना पर विशेष महत्व दिया था और प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने समाजगत केतना को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था । नई कहानी के एक प्रमुख आलोचक ने यह स्पष्ट कहा था कि नए कहानीकारों ने मनुष्य की स्वस्थ और शुभ नैतिकता की दोनों स्पर्शों में वाणी दी है । एक ओर सामाजिक यथार्थ के अनेक विस्तरे सन्दर्भों को व्यक्ति के घरातल पर रेखांकित करने में और दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का अतिरिक्त महत्त्व उठाने में । इन्होंने जीवन के यथार्थ को व्यक्ति के मजबूत, करुण, सुन्दर, विज्ञासु, उदात्त अनुभूति क्षणों में कलात्मक मानवीय संवेदना के साथ देखा है । सामाजिक विशाल से एक

संवेदनशील व्यक्ति ; और समय के प्रवाह से एक अनुभूति-काण्ड जुनकर उन दोनों के सार्थक सम्बन्ध को खोज निकालना आज की कहानी का प्रमुख विशेषता है । परिवर्तित सामाजिक सम्बन्धों और सन्दर्भों में जाते हुए व्यक्ति की सेवा और व्यथा को परिभाषित कर डालने वाला काण्ड ही आज की कहानी का धाम है । लेकिन अन्तर्बिरोध वहाँ उपस्थित होता है, जहाँ इन लम्बा-बोड़ी घोंघणायों के जाबजुद कहानियाँ घोर आत्मपरक एवं व्यक्तिनिष्ठ लिखी जाती हैं, जो लेखकों को समष्टिगत चेतना का नहीं, व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है ।

इस अन्तर्बिरोध को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों का यदि आवश्यकता है, तो मोहन राकेश की 'ग्लासटॉक', 'एक ठहरा हुआ बाबू', राजेन्द् यादव की 'टूटना', 'पूरी दा', नरेश मेहता की 'एक समर्पित महिला', उषा प्रियंवदा की 'महलिया', निमल वर्मा की 'दहलीज़', 'अन्तरे' आदि कहानियाँ देता जा सकता है । इनकी सुर्वा काफ़ी लम्बी बनाई जा सकती है । आज किसी भी प्रमुख कहानी पत्रिका में जो कहानियाँ जा रहा हैं, उनका समाज के साथ कोई भी विशेष सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता । वे घोर आत्मपरक कहानियाँ हैं, जिनमें कुण्ठा और घुटन-अनास्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है । वे कौन सी दृष्टि देती हैं, किस सत्य का उद्घाटन करती हैं, यथार्थ के किस घरातल या किस सामाजिक संवेदना से उनका सम्बन्ध है, यह कहाँ भी स्पष्ट नहीं होता । राजेन्द् यादव ने स्वीकार किया है कि आज की अधिकांश कहानियों के नायक हैं गल्ला शरीर, दाय-गुस्त, शक्तिहीन बूढ़े लोग... वर्तमान के सामने घुटने टेकते, टूटते-हालते हुए, क्लीत में जाते हुए बूढ़े और वे निष्क्रिय, असमर्थ परिवर्ष्यहीन जीवन का दांव हारे 'बूढ़े' कमा हताश, दिशाहारा, घुटनों पर कहानियाँ टिकार, हथेलियों में सिर पकड़े 'नवयुवक' के रूप में जाते हैं - 'नयी कहानी' का नायक क्लीत में जाता है, वह स्थानों से नहीं, स्मृतियों से आक्रान्त है... जब कभी भी वह वर्तमान में जाता है - तो ऐसे विचित्राते निरोह कक्कुर के रूप में जाता है मानों काल अपने काणों का उंगलियों से उसके एक-एक पंख नोच रहा हो - और हर पंख के नोचे जाने के दर्द के साथ वह आसन्न मृत्यु की जकड़ महसूस करता जाता हो ।

प्रश्न उठता है, क्या यही आज समाज की वास्तविक स्थिति है ? यदि हम क्लीत में

१. राजेन्द् यादव : कहानी : स्वरूप और संवेदना (१९६८) दिल्ली, पृष्ठ १२६ ।

जाते हैं, तो मविष्य का विन्ता भी में सताता है और में जाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। समाज में निष्क्रिय व्यक्तियों की कमी नहीं है, पर बहुसंख्या निरन्तर झुकने वालों की है, पग-पग पर संघर्ष करने वालों की है। यही आज जाने की बुनियादी शर्त भी है। और एक विशेष बिन्दु पर जाकर निष्क्रिय व्यक्ति को भी जलील के काले पंखों को तोड़कर हाथ-पांव दिखाना पड़ता है।

इस प्रकार आज के कहानीकारों में यह अन्तर्विरोध बराबर मिलता है। शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकान्त तथा सुरेश सिनहा आदि कुछ ऐसे स्ने-गिने अपवाद अवश्य हैं, जिन्होंने सामाजिक संवेदना का तोला टकराहट की कमी उपेक्षा नहीं की है। इनकी कहानियों में यदि व्यक्ति का चित्रण हुआ भी है, तो नर सामाजिक सन्दर्भों को सोजने के प्रयास में। व्यक्ति की कुंठाओं-दुःख तथा क्लेश का चित्रण इनकी कहानियों में भी मिल जाता, लेकिन उनके साथ ही उनमें मुक्ति की झटपटाहट भी है, परिस्थितियों से उबरने की क्षमसाहट भी। नहीं तो आज जैसे स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों या हेतु-जनित परिस्थितियों के अतिरिक्त समाज का जैसे कोई और यथार्थ रह ही नहीं गया है।

● लेखकाय दृष्टिकोण और प्रतिबद्धता

प्रतिबद्धता के प्रश्न पर पिछले दिनों जो भी वाद-विवाद हुए हैं, वे ज्या-पाल सार्न का देन हैं। कहानीकार की प्रतिभुति समाज के प्रति हो, व्यक्ति के प्रति हो, स्वयं अपने प्रति हो या नर मूल्यों के प्रति - यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। प्रारम्भ में स्वयं सार्न के मन में भी प्रतिबद्धता का प्रश्न बहुत स्पष्ट नहीं था।^१ उनके

१. ज्या-पाल सार्न : सिवुस्तन्स (१९६५) न्यूयार्क, पृष्ठ २४२ - "It is a question of knowing oneself, but of changing one's life. It is not addressed to us yet, but willing or not, it is of us that the fundamental question is asked. By what activity can an 'accidental individual' realize the human person within himself and for all?"

२. ज्या-पाल सार्न : द्रुबुल स्तीप (१९६८) न्यूयार्क, पृष्ठ १७।

उपन्यास 'द एज आफ् रोज़' में भी यही स्पष्ट होता है। उपन्यास का नायक मैथ्यू मानव अस्तित्व का एकमात्र अर्थ स्वतन्त्रता समझता है, जिसके लिए वह कोई भी संघर्ष करने को प्रस্তুत रहता है। इस प्रकार वह आत्मकेन्द्रित हो जाता है और जीवन उसके लिए अर्थात् हो जाता है। लेकिन फिर भी वह कहां प्रतिबद्ध नहीं होता क्योंकि उसका अर्थ ऐसी विचारधारा का अनुकरण हो सकता है, जिसमें आत्मा का कोई रुचि न हो और वह उसे अस्वाकार कर दे। लेकिन १९४५ में जर्मन आधिपत्य के बाद सार्व ने प्रतिबद्धता का अनिवार्यता अनुभव की और कहा कि परिस्थिति से जलन रहना संभव नहीं। हम बचकर रह नहीं सकते। यदि हम पत्थर की तरह निश्चेष्ट और मूक हो जायें, तो भी हमारी यह अकर्मिता एक-न-एक कर्म मान ली जायेगी। उसने प्रतिबद्धता का साक्षात् अर्थ उपरदायित्वपूर्ण अस्तित्व लिया, क्योंकि एक व्यक्ति का नियति दूसरे से उतने घनिष्ठ रूप में आबद्ध है कि उसका उपेक्षा हो नहीं की जा सकती।

आज जबकि भारत में मूल्य-निर्पेक्षता एवं मूल्य-हीनता की स्थिति है, इस प्रतिबद्धता को लेकर अनेक प्रांतियां उत्पन्न हो गई हैं। नर लेखक का दृष्टिकोण ही शायद यह बन गया है कि उसकी प्रतिबद्धता केवल अपने प्रति, अपना कुण्ठाओं-वज्रीनों के प्रति और दमित-धमित सेक्स भावनाओं के प्रति है। जो किसी मतवाद या राजनीतिक दल से प्रभावित हैं, उनकी प्रतिबद्धता तो स्पष्ट है, अन्यथा आज के अधिकांश हिन्दी कहानीकारों की सही स्थिति यही है। वे या तो अज्ञातजीवी बनना चाहते हैं या आत्मकेन्द्रित। बातें वे समाज की या नर मूल्यों की करेंगे, पर कहानियां, जैसा ऊपर कहा गया है, अपने प्रति लिखेंगे। इसमें लेखकीय दृष्टिकोण का सोलतापन तो सिद्ध होता ही है, रचना-प्रक्रिया का हास भी। प्रतिबद्धता अपने समाज के प्रति हो सकती है, अपने लोगों के प्रति भी। देश और समूह का उपेक्षा तो की जा नहीं जा सकती।

वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी सामायिक परिस्थितियों पर नहीं, परिस्थितियों

से उपजे प्रभाव को लेकर हो लिखा गया है। यही आवश्यक भी था। मात्र परिस्थितियाँ केवल पत्रकारिता का विषय होती हैं। इसके विपरीत कहानों का ताना-बाना समकालीन परिस्थितियों से जन्मा अनुभूतियों से बना जाता है।

इस जटिल युग में लेखक का बोध भी जटिल होता गया है। उसने ऐसा जटिल युग-बोध का बात का है। सम्बन्धों को उसने 'नयी दृष्टि' से देखा है। अधिकांश कहानियाँ बदले परिवेश और उसके कारण बदले सम्बन्धों पर ही लिखा गया है। लेखक के लिये 'पिता', 'माँ', 'भाई', 'बहन' एवं 'पत्नी' सभी निर्ममता के कारण 'वस्तु' मात्र रह गये हैं। 'वस्तु' के बजाया लेखक उनसे अपना और दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाता। इन भावनात्मक और पावित्र्य सम्बन्धों पर अब उसे कोई आस्था नहीं रह गयी है। आज का लेखक नितान्त कायर और स्वाधीन होता जा रहा है। जिन निरोह और वाक्छिन्न लोगों पर वह अपना आक्रोश दिखा सकता है और जो उसका कुछ भी नहीं किया सकते, उन्हें वह निर्मम और निस्संकोच अपनी कहानियों का पात्र बना लेता है और उनके साथ सहज, स्वाभाविक मानवीय शिष्टाचार भूलकर उनके जज्बातों से मात्र सितबाढ़ करता है और इस तरह अपना 'विद्रोह' और कुंठा शांत करता है। किन्तु जहाँ-जहाँ भी इस लेखक ने पाया कि उसे 'विद्रोह' से हानि होगी, उसने विद्रोह न करके समझौता कर लिया। सत्ता के प्रति वह सदैव नम्र रहता है। यही कारण है कि आज के राजनीतिक युग में भी लेखक बराजनीतिक हो रहा है। और यदि कोई राजनीति उसने अपनायी भी तो वह मात्र 'देह की राजनीति' ही रहा है - जहाँ उसने मनमाने 'विद्रोह' किये हैं और 'परम्परा' को सड़ी-गली बताकर हवा में उड़ाल दिया है। क्योंकि लेखक जानता था कि 'देह के क्षेत्र' में विद्रोह करने से किसी भी सत्ता का बहिर्गमन नहीं होगा और उसे भी किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं रहेगी।

समकालीन राजनीतिक स्थिति के सम्मुख समकालीन लेखन का मूल्यांकन के आधार पर कहा जा सकता है कि नयी पीढ़ी का लेखक 'बराजनीतिक' है और उसके लेखन में सिर्फ 'देह की राजनीति' मिलती है। लेखक के 'बराजनीतिक' होने पर स्तराज

नहीं है, स्तराज तो 'देह की राजनीति' पर है। समकालीन लेखन... राजनीति-
 विरोध से शुरू होकर उस जनगति प्रताप तक क्यों पहुँच जाता है जो एक ओर
 शास्त्रात्मक और कबकाना लगता है और दूसरी ओर निहायत गंभीर और रहस्यमय।
 कहाँ कि बिन्दु पर फिसल कर यह दिशा प्रष्ट हो गया ? इससे अस्वाभाव नहीं
 किया जा सकता कि नर कथानाकारों का एक नया बाज सिर्फ 'देह की राजनीति'
 का ही अर्थ समझता है, जो अविवेकपूर्ण दुराग्रह है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान्
 का कहना है कि युवा पीढ़ी की उत्सुकता को पुराना पीढ़ी की विरासत ही मानना
 चाहिए। वास्तव में इस प्रवृत्ति का नांव उसी दिन पड़ गया था जब पिछले दौर
 में प्रगतिवाद की संकीर्णता से फायदा उठा कर साहित्य में शीतयुद्ध का व्यक्ति-
 स्वार्थवाद नारा कुलंद किया गया, और इतिहास ने प्रमाणित कर दिया कि
 अंध-कम्युनिस्ट-विरोध क्रमशः किस प्रकार राजनीति-विरोध और विचारधारा-
 विरोध की साढ़ियाँ उतरता हुआ कोरे अनुभववाद के सहारे अन्ततः 'देह की राजनीति'
 में समाहित हो जाता है। साहित्य के अन्दर का यह लुप्तमान परोक्ष रूप से
 राजनीति में फासिस्ट तानाशाही के लिए रास्ता साफ करता है। अपने अंदर से
 इस पूर्वाग्रह को जड़-सक्ति उखाड़े बिना अपर-अपर अपने इतिहास से, अपने समय से,
 अपने परिवेश से, अपनी परिस्थिति से, अपनी सम्पत्ति को स्मिानदारी से समझना...
 आदि गोल-मोल शब्दों का पर्याय-प्रस्तार शुद्ध पारुष्य है।

एक साहित्यिक की ढाँचरी में मुक्तिबोध ने भी माना है कि यह कहना गलत
 होगा कि बाज के नवयुवकों में केवल युवां रेष रह गया है और बाज नहीं है।
 बाज है और वह भीतर ही भीतर है। अनास्था वास्था की पुंजा है। वास्था से
 ही अनास्था उपजती है और अनास्था ही फिर एक दिन वास्था को जन्म देगी।

और यह सत्य है कि वास्था एक दिन फिर वास्था। जागृक लेखकों का स्वर
 बोधे ताम पुनाव के बाद स्वतः बदल गया है। प्रमाण हैं स्वर की रचनाएं।
 जागृकता यद्यपि बहुत थोड़ी है और फ्याँपि नहीं है, फिर भी संभावनापूर्ण तो

हैं ही । नवलेखन में से केवल सेक्स सम्बन्धी मान्यताओं को निकाल लेना ही संगत नहीं है बल्कि हमें तो समूचा 'जाक्रामकता', 'असहमति' और 'अस्वाकृति' पर विचार करना है । 'असहमति' और 'अस्वाकार' की भूमिका यदि भारत की राजनीति पलट सकता है तो समकालीन लेखन को भी यह भूमिका ठीक और ऊँचा बना सकता है ।

इसी प्रकार उदासीनता भी स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का एक जबरदस्त विषय रहा । यह उदासी सारनाक थी । क्योंकि यह उदासी नाराज़गी की और प्रकृति न होकर आत्महत्या की ओर प्रवृत्त थी । और आत्महत्या जैसे बोध के रखने पर कोई भी लेखक सुजन, जाशा, वास्था एवं धैर्य का बात नहीं सोच सकता । और इसी तरह वक्त बातता गया । कभी हम वांछितिक के भागड़े में पड़े, कभी गैरवांछितिक के । कभी कस्बे में उलझे, कभी गांवों में, कभी सहरों में भटके, महानगरों की यात्रिकता से जूझे तो कभी केवल 'वापस' लौट बाये । और जगह 'वापस' लौटे जहाँ हमारे पास जोई 'घर' भी नहीं था । यों लेखक निरुद्देश्य और पुरिहीन-सा हो भटका है ।

हम जहाँ रहते हैं वहाँ कितनी विविधता है ? बफानी पहाड़ी प्रदेश से लेकर उमस और पसीने तक, ऊँच-साँच रास्तों से सीमेंट की बौड़ी-बौड़ी सड़कों तक, अंध-विश्वासों, फूँडेपन, निराशा से लेकर सोद्देश्य गतिशीलता तक, आर्थिक स्वाथों में व्यस्त वर्गों से लेकर बाबू, मज़दूर, किसान तक कितने रंग, कितनी ध्वनियाँ और उनके भी कितने मिश्रण, प्रकृति गृह से कश्मिस्तान तक कितने हा फेरबदल हैं, जिन्होंने बाधुनिक हिन्दी कहानी को वस्तु और शिल्प दिया है । इन सब परिस्थितियों में आदमी की, समाज की, लेखक की अथवा कहानी की परिभाषा का प्रयास बहुत ही बचकाना और स्कांगी होगा ।

नये लेखक के सामने मानव-समाज क भी ऐसा हा है । जैसे हम समुद्र का विश्लेषण करें - मैरीन ड्राइव पर उसे गुलामों का तरह जंवार तोड़ते हुए, कथवा जूहू के किनारे पर पैरों पर लोटते, लिपटते गिड़गिड़ाते और हाथ पसारते हुए कथवा स्लेक्केडिया डाक पर निश्चल, सुस्त व उदास समुद्र । और भी समुद्र के न जाने कितने स्वरूप होंगे ।

जो हमारे उदिते और अनजान हैं। लेखक के लिये समाज का विश्लेषण भी ऐसा ही है। कभी वह उसे वास्तव से परिपूर्ण और कभी निराशा से बुर-बुर पाता है। आज का जागरूक लेखक बस इतना चाहता है कि वह 'विशेषज्ञ' न बने, बल्कि समुद्र का हर तट का अंदाज देखे और निजा तौर पर पूरा स्मानदारी का निवाह करते हुए अनुभूत सत्य को प्रकट करे।

सृजन-प्रक्रिया कड़ी कठिन होती है। लेखक जब, क्या जिस देगा, वह स्वयं भी नहीं जानता। वह जो जीवन जीता है, जो वातावरण उसे घेरे रक्ता है, जिस परिवेश में उसका सारा घुपता है, वही सब जाने अनजाने उसके अन्तर में समाहित होता रहता है। यह क्रिया काफी जम्बा होता है और स्वयं लेखक उससे अनजान होता है। कई बार वह रास्ते में ऐसे दृश्य देखता है, जो सहसा ही उसके सचेदनशाल तंतुओं को छू जाते हैं। जहाँ में से कभी कोई एक या सभी मिल कर किसी एक नये रूप में सामने आ जाते हैं और वही लेखक का सृजन होता है। अर्थात् हम अपना चिन्मयी से दूर नहीं जा सकते। जाने की कोशिश भी करेंगे तो आसपास का वातावरण अपना परिवेश हमें फिर से अपना और खींच लेगा। जितने भी लेखक हुए हैं, देश, काल की सीमा के बावजूद उनकी यही गति हुई है। यदि स्लेवजेंडर कुपरिन उस गंदगी के सजाव चित्र उतार सका और आस्करवाल्ड ने हमेशा रोमानी तस्वीरें ही खींचीं, तो बाहिर है यह सब उनके माहौल का देन है। अतः, प्रसाद और प्रेमचन्द के बारे में भी कहा जाता है कि उनके बहुत से पात्र उनके अपने हैं, जिनके बीच वह रहे और जिनसे उनका गहन आत्माय सम्बन्ध रहा। इस प्रकार कभी भी कोई भी साहित्यकार, अपने जीवन से दूर रह कर कोई ऐसी रचना नहीं कर सका, जो शाश्वत रहो हो। मानवीय मूल्यों पर आधारित साहित्य ही शाश्वत होता है।

अपने स्वाधीनता के बाद हिन्दी कहानी ने एक नया करवट लेा। लेखक ने अपने-आपको पहचानने की कोशिश की। उसने अपने ही मध्यवर्ग के बहुत से प्रश्नों और समस्याओं को रूप रंग देकर सामने रखा। दैनिक जीवन की मामूली से मामूली घटना भी सजी-वजी और एक बड़े 'केनेसे' पर सामने आयी। बम्बई जैसे शहर में बस की प्रतीक्षा करता हुआ व्यक्ति कितनी सारी बातें एक साथ सोच जाता है। अथवा महीने की पहली तारीख को तनखाह हाथ में लेते ही कितने रूप-रंग उसके सामने उभर उठते हैं।

ये सब और ऐसा ही डेर सारा बातें लेखक की अपनी अनुभूतियाँ होती हैं। इन्हीं अनुभूतियों को लेखक ने व्यवस्थित किया और 'मौने हुए यथार्थ' के प्रति प्रतिबद्ध होने की बात कही। इस प्रकार आज की कहानी का तो मुख्य नारा ही यही है कि वह अपने वातावरण और परिवेश की सच्चा तस्वीर है। समय बदलता है, समय के साथ परिवेश और जीवन बदलता है और जीवन और परिवेश के साथ ही लेखक को भी बदलना पड़ता है।

समय को 'जन-जीवन' के साथ ही जीने और मॉने के कारण लेखक अपनी रचनाओं में कहीं बहुत अधिक वैयक्तिक हो गया है, कहीं बहुत अधिक सामाजिक हो गया है और कहीं दोनों ही रूपों में संयमित होकर स्वीकृत हो गया है। सर्वज्ञ-साहित्यकार की मूल वृत्तियाँ हैं - उसकी अपनी अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ। उन अनुभूतियों और संवेदनाओं की सृष्टि व्यक्ति सम्पर्क से ही होती है और सामाजिक सम्बन्धों के संघटन और विघटन के द्वारा भी। इस तरह साहित्यकार यदि अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं के प्रति ईमानदार होगा तो अपने परिवेश और समाज के प्रति उसकी ईमानदारी तो उसमें अन्तर्निहित ही है।

आज के लेखक के साथ सबसे बड़ी मुश्किल बात यही है कि वह पैसे के लिये लिखने लगा है। कहानीकार को जहाँ ३०० रुपये या उसके ऊपर की नौकरी मिल गयी वस तब वह लिखना ढाला कर देता है या बंद कर देता है। 'केरियरिज्म' से आज का लेखक अपनी रचना नहीं कर पा रहा है। काफी-हाउस, रेडियो-स्टेशन, विश्व-विद्यालयों की संकीर्ण मान्यताओं और व्यापारिक ढंग से संयोजित साहित्यिक गोष्ठियों से भी आज का लेखक निकल नहीं पा रहा है। 'डिमरलाइजेशन' से लेखक को बचाने की समस्या भी ज्वलन्त समस्या है। साहित्य के दिशा-निर्देशक का कार्य आज न तो आलोचक के हाथों में है, न लेखक के। आर्थिक कारणों से यह लोग विवश हैं और साहित्य के दिशा-निर्देशक मोटे-मोटे सेठ - प्रकाशक बन बैठे हैं - अपनी सुविधानुसार जैसा चाहते हैं गरीब लेखकों और आलोचकों से लिखाते हैं। सम्भव आज की अच्छी अच्छी लेखकाय प्रतिभारं व्यापारिक पत्र-पत्रिकाओं के संवाहन और सेठों की तिजोरियों में बन्द होकर अपनी प्रतिभा का हनन कर रहा है।

कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि आज का लेखक संयमहीन है। आज समय

का लघुतम अंश तक अपने चरणों में बड़े-बड़े आग्नापंड बाधे इतनी तीव्रता से भाग रहा है कि हमारा जेतना उसका साथ देने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है और आज के लेखक या सर्जक जब इस अतिदुर्लभ घातित समयांश के साथ-साथ दौड़ नहीं पाते तो इनकी जेतना समय का गति का साथ छोड़ देता है। समय के साथ न भाग सके, और पिछड़ जाने के भय के कारण ही कुछ लेखकों ने समय से अपने परिवेश से पलायन कर लिया और आज अपने में जाते रहे।

यह सही बात है कि बहुत प्रयत्न करने के बाद भी स्वातंत्र्योत्तर लेखक अपने युग को पकड़ नहीं पाये हैं। युग इतनी गति से जाने भागा है कि उसे सम्पूर्णतः पकड़ लेना वास्तव में अत्यन्त स्लाघा का बात होती।

स्वतन्त्रता के बाद के दौरान में दो-दो विनाशकारी युद्ध - चीन और पाकिस्तान से हुए हैं। अब बंगला देश में जो कुछ हो रहा है, वह हमसे घानाई रूप से सम्बद्ध है। लगभग ७० लाख शरणार्थी जब तक देश में आ चुके हैं। अपरोक्ष रूप से यह पाकिस्तान का तीसरा आक्रमण है। इससे हमारा आर्थिक, राजनीतिक, पुरानी मान्यताओं, परम्परा और मूल्यों को और भी निरर्थक साबित किया और इनके प्रति हमारी जास्था को ठेस पहुंचाई। हमें अहिंसा, धर्म, नैतिकता और जास्था से नफरत हो गयी जयवा हमें जमानदारी - सराब लगने लगा यह तो बहुत हवाई बात नहीं थी। इसके पीछे हमारे 'उगे जाने' का कुंठा, विश्व द्वारा पराजित होने का निराशा हो थी। इन्हीं उलझी हुई परिस्थितियों ने व्यक्ति को पलायन के लिये बाध्य किया। व्यक्ति ने सोचा कि 'मूर्त' ने उसे कुंठा, जास्था और घोसा दिया है तो 'अमूर्त' तो अवश्य ही उसके पक्ष में रहेगा। और इसी कारण वह 'अमूर्त', 'एब्स्ट्रेक्ट' का और बराबर भुक्ता गया। इन्हीं उलझी परिस्थितियों से पलायन की भावना ने ही चिन्तन, कला और साहित्य के क्षेत्र में एब्स्ट्रेक्ट प्रभावों की जन्म दिया। जो शांति और संतोष 'मूर्त' नहीं दे सका उसे लोगों ने 'अमूर्त' से पाना चाहा।

कोई व्यक्ति आठ-दस दिनों तक भयंकर स्नायवीय तनाव में तो रहे तो वह उन परिस्थितियों से निजात पाना चाहता है, उन्हें मुला देना चाहता है। आज जब बड़े-बड़े राष्ट्र भयंकर स्नायवीय तनाव में जा रहे हैं तो हमारी तो बात ही क्या

हैं ? विन्तक, कलाकार और लेखक विश्व की वास्तविक समस्याओं से जूझने में अपने को असमर्थ पा कर जब उनसे पलायन का प्रयास करने लगे हैं । यह एक मनो-वैज्ञानिक सत्य है कि सैनिक जिन दिनों भयंकर युद्ध करते हैं - वे और दिनों की अपेक्षा इन दिनों अधिक हँसी-मजाक करते हैं, अधिक जोश से गाते हैं और अधिक शराब पीते हैं और इस तरह से वास्तविकता की तरफ से जानबूझ कर वासि मुड़े रहना चाहते हैं । इस तरह का पलायन तो अच्छा होता है । किन्तु यह पलायन अच्छा नहीं है जो आज के लेखक कर रहे हैं ।

आज के लेखक, साहित्यकार, विन्तक और कलाकार वास्तविकता की कटुता को भुलाये रखने के लिये अधिक से अधिक अज्ञात चित्रण करने लगे हैं । यूरोप और अमेरिका में आज जो फिल्में बनायी जा रहा हैं उनमें से इसका ऐसा नमूना चित्रण होता है कि परम्परावादी अपना गिर पाट ले । अच्छे अच्छे चित्रकार कामुकता का चित्रण कर रहे हैं । कहानी, उपन्यास और कविता सभी में सेक्स की प्रधानता बढ़ती गयी है । अना ही नहीं, 'बीटनिक', 'सैंगायंगमैन', 'हंग्री जेनेरेशन' व आदि जो नये आंदोलन बने, उनका संवादन भी विन्तकों, लेखकों और कलाकारों द्वारा ही किया गया ।

पलायन यों तो मनुष्य का स्वभाव ही है । हमेशा ही वह बांधी के जा जाने पर खुर्मुर्न का भाँति अपना सिर ज़मीन में गड़ा लेता रहा है और उसने बांधी से बच जाना चाहा है । एक सीमा तक, जहाँ तक वह कायरता न बन जाये, पलायन अच्छा भी है । जैसे युद्ध करते सैनिकों का 'मृत्यु-बोध से पलायन' अच्छी बात है और युद्ध का साहस देता है । इस पलायन को एक तरह से हम 'मृत्यु-बोध की जात लेना' भी कह सकते हैं । पलायन समस्या वहाँ बनता है, जहाँ वह कायरतावश होता है और सीमा का उत्खनन कर जाता है ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में लेखकों की बार-बार पीढ़ियाँ एक साथ जाकित रहा हैं - पहली पीढ़ी के सुदर्शन, रायकृष्णदास और वृन्दावनलाल वर्मा - दूसरी पीढ़ी के यशपाल, जेनेन्डु, जोग्य और भगवतीवरण वर्मा - तीसरी पीढ़ी के कहानीकार नये कहानीकार के नाम से पुकारे गये, वे हैं - शिवप्रसाद, कमीर मारती,

कण्ठास्वर्नाथ रेणु, अमरकांत, मार्कण्डेय, रागेरा रायन, अनृतलाल नागर, भाष्म साहना, नरेश मेहता, हारसंकर परसारी, त्रिवाना, विष्णु प्रभाकर, रामेन्द्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, मन्मू मंडार, उषा प्रियंवदा आदि । और चौथा पीढ़ी का साठौंवा पीढ़ी जिसमें तो नामों का अपार भंड है । फिर भी कुछ नाम अब स्थिर हुए हैं और उन्होंने कहानी के क्षेत्र में अपना पर्याप्त स्थान बना लिया है - जैसे ज्ञान रंजन, दुषनाथसिंह, सुरेश सिनहा, संतोष 'संतोष', गिरिराज निजोर, सुभा बरोड़ा, काशानाथ सिंह, मेहकन्निशा परवेज, कृष्णा चौक्ता, शानी, श्रीकांत वर्मा, से० रा० वाक्ता, सरद जोशी और पानू लोटिया आदि ।

इन सब पीढ़ियों का खेल शब्दों में, उनके दृष्टिकोण में, उनके स्पीच में पर्याप्त अन्तर रहा है । यह अंतर स्वाभाविक भी था ।

हमारा सबसे पुराना पीढ़ी आदर्शवाद के युग की था - जब हमारा देश आजाद के लिये लड़ाई कर रहा था । अंग्रेज़ी हुकूमत का नाराजगी और कई तरह के झूठे मोल लेकर इस पीढ़ी के लेखक देश में नया आदर्शवाद और नया उमर्गे पैदा कर रहे थे । दूसरा पीढ़ी उस ज़माने का था - जब स्वाधानता का आंदोलन भारतीय जन-जीवन का अंग बन आया था, जनता निडर हो गया थी और हमारे नवयुवक आजादी से सोचने लगे थे । इस पीढ़ी ने एक ओर आदर्शवाद का पोषण किया, तो दूसरी ओर ठोस वास्तविकताओं को भी गहराई से देखने का प्रयत्न किया । तीसरी पीढ़ी आजादी प्राप्त होने के एकदम बाद की है - उन उत्साही नौजवानों की, जो सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की स्थापना चाहते थे । स्वाधीनता-प्राप्ति के दिनों की शूरताओं ने शायद इस पीढ़ी को कुछ हद तक निर्भय बनाने का कार्य भी किया । और चौथा पीढ़ी आज की है - एकदम ताज़ा, बीसवीं सदी के सातवें दशक की । स्वाधीनता प्राप्ति से समृद्धि की जो बड़ी-बड़ी आशाएं जनता ने लगायी थीं, वे पूरी नहीं हुईं । इस नवीनतम पीढ़ी पर मोहमंग और निराशा का स्पष्ट ह्राप है - उतावलापन और कुछ नया करने की चाह, जिसे रास्ता नहीं मिलता । परिणामतः एक बड़ी बेसहरी इस पीढ़ी में है । यही पीढ़ी एक्स्ट्रेन्ट स्पी से अधिक प्रभावित हुई ।

हिन्दी को समृद्ध करने में इन चारों पीढ़ियों का योगदान है । इन चारों पीढ़ियों

की पारस्परिक तुलना यहां पर उद्देश्य नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहला पीढ़ी के सभी लेखक जादूवादी हैं या दूसरी पीढ़ी में कोई बेशु या उतावला नहीं है। फिर भी स्थूल रूप से यह भ्रंशपूर्ण अंश नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह भ्रंशपूर्ण व्यक्तिगत न होकर परिस्थितिगत है।

कहानी के रूप (फार्म) में जो परिवर्तन जाये, उनके सम्बन्ध में भी यही कहना है कि किसी भी पीढ़ी का किसी एक फार्म पर बिल्कुल ही स्काविकार का दावा गलत है। हर फार्म किसी न किसी रूप में हर पीढ़ी में विद्यमान है। हां, यह और बात है कि जिसने उसे ढाया और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन किए। इस प्रकार हिन्दी कहानी का जो शानदार विकास पिछले पचास-पचपन वर्षों में हुआ है उसमें इन नारों पीढ़ियों का योगदान है।

गात्सवर्दी ने एक जगह कहा है कि यदि तुम्हारे पास कहने को कुछ है, तो उसे बाहे जिस रूप में विकसित करो, तुम्हारे पास उसे पसन्द करेंगे। तुम्हारा यह सृजन प्रभावशाली होगा। और यदि कहने को कोई ठोस वस्तु नहीं है, तो बाहे अपनी रचना के परिवेश को जितना उत्पाद्युनिक (अप-टु-डेट या मड़कीला) बना लो, उस रचना में तुम प्राण-संचार नहीं कर पाओगे।

नये लेखकों का ध्यान इसी सत्य की ओर सिंचा। उन्हें लगा कि कहानियों के पिछले फार्म के मुकाबिले में ^{आजकल} अपना मानव-जीवन बहुत ही पैचीदा है। मनुष्य का मन और मस्तिष्क आज की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से न केवल प्रभावित है, बल्कि परिवर्तित भी हो रहे हैं। इस तरह मनोवैज्ञानिक गुणधर्मों केवल भावना के क्षेत्र तक नहीं सीमित रहता, वे बहुत पैचीदी और जटिल बन जाती हैं। इस पैचीदगी और जटिलता को कहानी का पुराना शिल्प सम्पूर्णतः अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ रहा तो लेखकों ने ऐसे नये शिल्प - भाषा की खोज की जिसके माध्यम से उनका युग-सत्य सम्पूर्णतः अभिव्यक्त किया जा सकता। इसी कारण यह काल भाषा और शिल्प के सशक्त अन्वेषण का काल भी रहा है। फार्मों पर नये नये प्रयोग किए गए, अभिव्यक्ति के लिये नये-नये युग-सत्य के अनुरूप ही शब्द ढूंढे गये।

इतने प्रयत्नों के बावजूद यह दुःखद बात हो है कि आज की कहानी जन-साधारण की संपत्ति नहीं बन पायी । कहानी के बारों में उभरी 'ह्यूमन क्राइसिस' बहुत ही सीमित और एक तरह से व्यक्तिगत रही । अपनी व्यक्तिगत कुंठारों और अपने सीमित क्षेत्र की निम्नी पिटी स्थितियाँ ही नए लेखकों को परेशान किए रहीं । अंधकांक्षितः लेखक युग का वास्तविक समस्याओं, से न चुंक कर बस अपनी समस्याओं से जुके हैं और अपने अस्थायी मनोविकारों का अतिशयोक्तिपूर्ण और घटनामय चित्रण करते रहे हैं । ऐसे मनोविकार, जो प्रायः फ्रस्ट्रेशन अथवा इन्फ्लेटिड शी को से उत्पन्न हुए और उस प्रकार उनका कोई प्रतीकात्मक महत्व भी नहीं रहा ।

जिज्ञासा राज्य से पहले जब इस देश में न रेत थी और न प्रेस, तब कितने ही गीत, कितनी ही पंक्तियाँ और कितनी ही कहानियाँ देश भर की संपत्ति बन जाती थीं । पूरा देश उनमें अपने आपको पाता था किन्तु आज, जब बड़े-बड़े प्रेसों में सैकड़ों टन कागज पर प्रतिदिन ढेरों साहित्य छपता है और रेलों तथा हवाई जहाजों द्वारा दूर-दूर तक फैला दिया जाता है, इस वर्ण का एक भी पंक्ति हमको देश भर में व्याप्त नहीं मिलेगी । इस प्रकार हमारा साहित्यकार वास्तविक जनजीवन से बहुत दूर चला गया । मानव की सहज अनुभूतियाँ नहीं, अपना 'असह्यता' ही उसके साहित्य का विषय बन गयी थी । इस वर्ण के साहित्य के जन-जीवन से विच्छिन्न हो जाने का मुख्य कारण यही है ।

पिछली आधी सदी से नये भारत का निर्माण हो रहा है । प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर अब तक के ५० वर्षों में भारत का कायाकल्प हो गया है । इस बीच इतने भारी संघर्षों के बाद भारत ने राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त की ही उसके अतिरिक्त भारत का सामाजिक और आर्थिक ढांचा भी बड़ा तेजी से बदलता है । भारत जैसे परम्परावादी देश की जनता के विचार और चिन्तन में व्यापक क्रांति आ गयी । भारत में आज प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं और अराजकतावादी शक्तियाँ भी । ये शक्तियाँ एक साथ विद्यमान और संघर्षरत हैं । इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक के सब काल आज भारत में एक साथ देखे जा सकते हैं । परम्परावादी भारत अत्याधुनिक होते हुए भी आज भी अपनी

उन्हीं पिछली परम्पराओं से जुड़ा हुआ है। साहित्यकारों के साथ भी यही हुआ। न तो वह पूर्णतः आधुनिक हो बन सके और न परम्परा को ही छोड़ सके।

पुनर्निर्माण के वर्तमान युग में आवश्यकता तो इस बात की है कि व्यर्थ के शब्द बात से लेक बकते, और आज के मानव (व्यक्ति, परिवार और समाज - इन तीनों परिघों में) जीवन से तादात्म्य स्थापित करते, आज की वास्तविक समस्याओं की तरह में जा कर उन्हें समझते और उन्हें उस रूप में विकसित करते। मानव-मन के अन्धेरे से अन्धेरे कोने पर उन्हें प्रकाश डालना चाहिये था। पर उसके विपरीत अधिकांश लेखक अपने-अपने मनोविज्ञान में ही फंसे रह गए।

कथानक के माध्यम से किसी एक भाव का एकहरा चित्रण हो 'कहानी' नामक विधा का जन्म था। एक अच्छी कहानी में ऐसा एक वाक्य तो था, एक शब्द तक भी असह्य दोष माना जाता था जो कहानी के उक्त एकहरे केन्द्रिय भाव के चित्रण में सीधे तौर से सहायक नहीं होता था। कहानी साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय विधा थी और स्वातंत्र्योत्तर लेखक उसे स्वयं बुस्त, दुरुस्त, नया-तुला और रम्य बना रहे थे। बड़ी होशियारी से उन्होंने इसे बहारे के समान हाथ धुब चारोंकी से तराशा।

बीसवीं सदी के दोनों विश्व-युद्धों ने मानव जाति के पुराने मूल्यों को जैसे तहस-नहस कर दिया। पिछली कुछ सदियों में जो संस्थाएं धीरे-धीरे कमजोर हो रही थीं, जो मान्यताएं क्रमशः कच्ची पड़ती जा रही थीं, उन संस्थाओं और मान्यताओं को पहले विश्वयुद्ध ने एक मारो धक्का दिया और विशेषतः दूसरे विश्व-युद्ध ने एक साथ जैसे जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया। अधिकार, आचार, न्याय आदि के सम्बन्ध में पुराने जमाने से बलीबा रही चारणारं एकाएक बदल गयीं। ईश्वर, धर्म आदि प्रचलित मान्यताओं का मय पूरी तरह समाप्त तो नहीं हो गया, पर वह बहुत हलका ज़रूर हो गया।

क्या साहित्य में उक्त परिवर्तनों को आत्मसात करने की सामर्थ्य अपेक्षाकृत अधिक थी। इससे परिवर्तित परिस्थितियों में कहानी का रूप स्पष्टतः बदल गया। वह पहले का अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। पर कहानी के स्वीकृत स्वरूप को कुछ अंशों तक बदले बिना, उसके आयाम बढ़ाना, सरल नहीं था। अब केवल एक

चमत्कारपूर्ण भाव के चमत्कारपूर्ण उच्छरे विव्रण तक ही कहानी सीमित नहीं रही । आज केवल एक मनःस्थिति या एक प्रतीक या एक व्यंग्यात्मक विव्रण के आधार पर भी कहानी लिखी जाने लगी । केवल एक चरित्र विव्रण या मानवीय चिन्तन का एक फलक और विचारोत्तेजक रेखांक भी किता किता कहानी के उपादान बन गये । उसी तरह स्केंव या रिपोताजि आदि को भी कहानी के अन्तर्गत माना जाने लगा । कहानी के इन बढ़ते हुए आयामों से कहानी का सामर्थ्य और उसका गुरुत्व भी बढ़ा ।

किन्तु हिन्दी कहानी पर यह प्रभाव स्वाधीनता के उपरान्त पड़ने प्रारम्भ हुए । हिन्दी कहानी की जो अनीत अविक प्रगति हुई है उसका एक बहुत बड़ा कारण मतभेद और रुचिभेद रहा है । परस्पर मत-वैमिन्न्य के कारण भी कहानी के नये-नये शिल्प अन्वेषित हुए, नयी नयी 'वस्तुएं' खोजी गयीं । इससे कहानी की टेक्नीक न बदली और उसमें बहुत अधिक संवेदनशीलता आ गई ।

'आधुनिक युग-जीव' को कहानी का सबसे नया फेक्टर घोषित किया गया । यह कोई बहुत बौका देनेवाली बात नहीं थी । किसी भी अच्छा रचना में अपने युग की छाया तो रहती ही है । 'मार्टिन सेन्सिबिलिटी' (आधुनिक संवेदनशीलता) का भी प्रामाणिक अर्थ कुछ लोगों ने लिया । सभी तरह की बेतना व्यक्तित्व का आंतरिक अंश बन जाता है । वह एक दृष्टि है । अनुभव, अध्ययन, चिन्तन और इन सबसे बढ़ कर ग्रहण कर सकने की शक्ति द्वारा जब आज के युग का उपलब्धियाँ और समस्याएं व्यक्तित्व का अंश बन जाती हैं, तो उनका छाप मनुष्य के सभी तरह के निर्माण पर आप से आप पड़ती है । पर यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जो चिन्तन-शील मनुष्य के सम्मुख सदा उपस्थित रहती है । परम्परा को पूरी तरह ठुकरा देना या सिर्फ वर्तमान में जीना आधुनिक संवेदनशीलता या बेतना का अभिप्राय नहीं है । समय का, कालक्रम का निर्देश तो केवल समझने की सुविधा के लिए किया जाता है ।

आधुनिक युग-जीव को साहित्य की कसौटी नहीं माना जा सकता । स्टेम शक्ति के वैज्ञानिक बड़े बांधों के निर्माता इंजीनियर, विभाग का आपरेटर करने वाले सब्जी, यहाँ तक कि नये-नये फैशन निकालने वाले किसी दबी में भी आधुनिक युगजीव हो

सकता है किन्तु इससे वह साहित्यकार कदापि नहीं बन जाता । साहित्यकार के लिए युग-बोध का अर्थ विस्वबोध, व्यक्तिबोध, समाज-बोध, परिस्थिति-बोध, अन्तर्मान-बोध, अन्तरात्मा-बोध सभी कुछ होता है । 'वायुनिक' चाहें तो इन सब बोधों के साथ जाया जा सकता है ।

किन्तु कुछ अच्छे कहानी लेखक भी ऐसे हैं जो पर्याप्त रूप से उद्बुद्ध थे । यानी जिस बाज के बारे में वह लिखना चाहते थे उससे सम्बद्ध उन्हें पर्याप्त बोध था, जितना कि एक लिखोजानेवाला कहानी के लिये अनिवार्य है । गाँता के शब्दों में -
 'यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके, तस्मान् सबुध वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः'
 अर्थात् सामने स्वच्छ और निर्मल जल को बहुत बड़ा फौल मरी रहने पर भी मनुष्य के काम तो उतना ही जाता है जितना वह पी सकता है, या दूसरे कामों में ला सकता है । उसी भाँति अनंत ज्ञान में से भी मनुष्य को लेना ही उतना ही होता है, जो उसके काम जा सकता है ।

इन अच्छे कहानी लेखकों ने वस्तु और शिल्प का उचित अनुपात बनाये रखा । जीवन की वायुनिकतम समस्याओं को गंभीरता से लिया । मानव जाति की भयंकर तनाव की स्थिति, छत्र से युग के संहार की संघर्ष की इन्होंने पूरी तरह लिया । मानवीय सम्बन्धों में बढ़ती स्वार्थपूर्ण और हानि भावनाओं को इन्होंने पूरे विश्वास से नकारा, और अपने युग की व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं की ओर भी इन्होंने पूरा ध्यान दिया । गहरे चिन्तन को इन्होंने अनिवार्य समझा ।

हरबर्ट जियो वेल्स ने अपना अंतिम पुस्तक - 'दि ट्रेजेडी आफ होमो-सेपिअन्स' में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और साथ ही चौंकाने वाला सिद्धान्त प्रस्तुतपादित किया । उनका मत है कि 'होमो-सेपिअन्स' यानी मानव जाति की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि मनुष्य का शारीरिक विकास जिस रफ्तार से होता है, उसका बौद्धिक और मानसिक विकास उसकी अपेक्षा कहीं कम रफ्तार की से होता है । दूसरे शब्दों में जिस तेजी से मनुष्य का शरीर और उसका शब्दियों का कार्यशक्ति बढ़ती है, उस तेजी से उसका मस्तिष्क और विचारशक्ति नहीं बढ़ती । साधारणतः २० से २३ वर्ष की युवतियाँ और युवक शारीरिक दृष्टि से व्यष्टि परिपक्व और शक्तिशाली बन जाते हैं । यह शक्ति तब से ३५ वर्ष की अवस्था तक चरम सीमा

पर रहती है। उसके बाद मनुष्य के लिये बहुत थकाने वाला शारीरिक काम क्रमशः अधिकारिक कष्टसाध्य बन जाता है। ४० वर्ष की आयु के बाद शारीरिक शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। उमर मनुष्य का बौद्धिक विकास ४० वर्ष की आयु में ही परिपक्वता प्राप्त करता है। अतः 'होमो-सेपियन्स' ट्रेजेडी यह है कि मनुष्य जब बौद्धिक परिपक्वता की स्थिति में पहुँचता है, उसका शारीरिक शक्तियों में (जिनमें स्मरणशक्ति भी शामिल है) ह्रास प्रारम्भ हो चुका होता है।

बेल्स का आगे कहना है कि वार्षिक रूप से मानव इतिहास के बड़े-बड़े कगड़े, झोटे-बड़े युद्ध और विभिन्न राष्ट्रों के मरानक संघर्ष उसी ट्रेजेडी का परिणाम हैं।

राष्ट्र की शक्ति का आधार वह लोग हैं जो शारीरिक रूप से पूरा तरह युवा हैं और परिपक्व विचारशक्ति वाले लोग अपनी शारीरिक जीव्यता के कारण राष्ट्र के वास्तविक संचालन की बागडोर अपने हाथों में नहीं धामे रह सकते। चाहे वह कितने ही बड़े बड़े पदों पर आसीन क्यों न हों ?

इस 'होमो-सेपियन्स' ट्रेजेडी से जाने क्यों बहुत ऊँच दूर तक सहमत नहीं हुआ जा सकता। क्योंकि अधिकांश लेखकों की शक्यता एवं प्रोढ़ रचनाएं उम्र के उसी दौर की हैं जिसमें बेल्स ने माना है कि बौद्धिक विकास नहीं होता यानी कि २२-२४ वर्ष में लिखा गया रचनाएं। हर लेखक की पुष्ट, परिपक्व और परिपूर्ण रचना उसके युवाकाल की ही होती है अपनी नयी-नयी कृति में उसकी सारी प्रतिभा होती है, वास्था होता है, उसका समग्र चिन्तन होता है। 'नया' सदैव अपरिपक्व और अचक्रवर्ती होता है और पुराना सदैव अच्छा और परिपक्व - यह बातें किसी दावे के साथ नहीं कहाँ जा सकतीं।

प्रतिभाशाली लेखक प्रारम्भ से ही अच्छा चिन्तक होता है वरन् २४-२५ साल के लेखक लेखन के क्षेत्र में एक नये चिन्तन का तहलका न मचा देते। उनके चिन्तन में आतिशयकारी ऐसा तो कुछ अवश्य था जिसने पुराने चिन्तन को पूरे साहस से चुनौती दी और उसे जड़मूल सहित उखाड़ फेंका। नयी पीढ़ी चिन्तन के विषय में बहुत ईमानदार है। इस बात में दो मत नहीं हो सकते। युवा लेखक ने चिन्तन के क्षेत्र में अपने को पूरी तरह से स्वतन्त्र रखा है। बड़े-बड़े डिक्टेटर्स को उसने बेजोह किया है और ताकि

आधारों पर । न तो वह किसी का शत्रु रहा और न ही उसने किसी का इतना
क्रोध कि उसका सब बातों को जलें मूँद कर स्वाकारता बना जाए ।

बोसवां तदा में मानव समाज की कितना असाधारण गति से विकसित हुई है । यह
कहा जा सकता है कि आज के युग में अनसाधारण पहले की अपेक्षा कहीं अधिक
सोचने समझने लगे हैं । जिस व्यापक अनुपात से मनुष्य का विस्तार शक्ति बढ़ा,
उसा अनुपात से मानव का फ्रस्ट्रेशन भी बढ़ा । आज ऐसा मनुष्य सोचने से भी नहीं
मिलेगा जो कम-अधिक फ्रस्ट्रेटेड न हो ।

साहित्य और कला के क्षेत्र में यह फ्रस्ट्रेशन अथवा असंतोष कई रूपों में प्रकट हुआ
है । मानव समाज के इस व्यापक फ्रस्ट्रेशन की अभिव्यक्ति देने के लिये ही कुछ
महान् कलाकारों ने 'एक्स्ट्रेक्ट' प्रणाली का आश्रय लिया । मूर्त से फ्रस्ट्रेटेड हो
कर हम 'अमूर्त' की ओर झुक गये । और 'अमूर्त' की ही अपनी अभिव्यक्ति
न की जा सकने वाली भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये उक्ति और सशक्त माध्यम
समझा ।

निरन्तर कष्ट, असंतोष, अपरितुष्टि और अनबुझा प्यासों से कितनी ही बार
श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हुई है । कितने ही अमर काव्यों का जन्म असफल प्रेम
से हुआ है --

‘धियोगी होगा पहला कवि

आह से उपजा होगा गान

उमड़कर बाँलों से नुपबाप

वही होगा कविता जनजान’

- पन्त

क्या कोई भी श्रेष्ठ कृति इस कारण हेय नहीं मानी जा सकती कि उसका जन्म
फ्रस्ट्रेशन द्वारा हुआ है । कुछ बाटनिक लेखकों की रचनाएं भी बहुत ही शक्तिशाली
रहीं । उनकी साधना से पूर्णतया अन्कार नहीं किया जा सकता ।

किन्तु यह प्रतिक्रियाजन्य आंदोलन - बाटनिक, लिंग यंगमैन, सिगनल्स, हंगी जैनेशन
और अन्यथावाद जैसे आंदोलन धार्मिक संगठनों की भाँति ही स्तारनाक सिद्ध हुए
हैं । धर्म व्यक्तिगत विश्वासों तथा आचरण की वस्तु है । पर यह कड़ू भी है ।

धर्म के नाम पर जितना हत्याएं और अनाचार हमारे देश में हुए, उतना हत्याएं और अनाचार अभी तक राष्ट्रीयता के नाम पर भी नहीं हुए ।

‘हंगा बेनेरलन’ नामक आंदोलन के नेता ने ‘मुसोटे’ (मास्क) को एक प्रतीक के रूप में लिया । यद्यपि यह प्रतीक नया नहीं था, फिर भी यहां काफी प्रयत्न रहा । इन आंदोलनकारियों का कहना था कि आज का प्रत्येक मनुष्य मुसोटा लगाये हुए है । वास्तव में वह जो कुछ है, उसे छिपा कर अपना दूसरा हा रूप समाज में दिखाता है । जो व्यक्ति जितना अधिक महत्वपूर्ण है, वह उतने ही मुसोटे बदलता है । वह जिस तरह के लोगों में जाता है, उसी तरह का मुसोटा लगा लेता है । यों यह प्रतीक बुरा नहीं था किन्तु जब इस ‘आंशिक-सत्य’ को ‘पूर्ण-सत्य’ बना दिया गया तो यह आंदोलन भी हास्यास्पद-सा हो गया । यदि इसी बात को नरम आदर्श मान लिया जाता कि मनुष्य मोतर से जो कुछ है वही समाज में भी दिखाई दे तब तो सबसे अच्छा व्यक्तित्व एक जानवर का ही माना जाता । जानवर ही किसी तरह का मुसोटा नहीं लगा सकता और नंगा हर स्थान पर विवरण कर सकता है । जो कुछ उसके जी में जाता है वह अभिव्यक्त कर देता है ।

किन्तु इसके विपरीत मनुष्य ने आज तक जितनी संस्कृति और सभ्यता का विकास किया है, उसमें इच्छाओं पर नियन्त्रण और आंतरिक भावों के प्रकाशन पर संयम आवश्यक है । मनुष्य, जब तक वह परमहंस न बन जाए कितनी ही बाजों को छिपाता है । कितने ही कार्य स्कान्स में करता है, यहां तक कि अपने शरीर को वस्त्रों से ढके रहता है - यह सब भी तो एक तरह का ‘मुसोटा’ ही हुआ जिसे यदि न लगाया जाता तो समाज में अनाचार फैल जाता ।

गंदी भावनाओं पर ‘मुसोटे’ लगाने की अपेक्षा यदि हम उन गंदी भावनाओं को ही मनुष्य के मोतर से जड़मूल से उखाड़ कर बाहर फेंक देते तो अधिक अच्छा होता । साहित्यकार को तो चाहिए कि वह कुंठाओं में से भी सत्य और प्रकाश की तलाश करे ।

जो जीवन के बीच में है, उन्होंने अनुभव किया कि आजादी के बाद हमारे जीवन के आदर्श और मूल्य कितनी तेजी से बदले हैं और उनमें एक जबरदस्त संघर्ष आया है । इस आतुदिक संघर्ष को, उसकी सारीगहनता, संवेद और नियति के साथ पहली बार

कहानी यथार्थता और निभाई है हिन्दी के नये कहानीकार को। वेतना ने ग्रहण किया। उसने उस युग के संघर्षों को उसके युग-बोध के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान स्तरान को वेतना की आत्मसात् किया। उसने पुरानी धार कृतान को परम्परा, पुराण, संस्कृति और धर्म से अलग करके उसे मात्र मनुष्य के रूप में देखने का प्रयत्न किया। 'नया' कहानी का निबल और उस पर अपना व्यक्तित्व यही है।

स्वातंत्र्योपर हिन्दी कहानी जीवन से सम्बद्ध रही - नई पीढ़ी के कहानीकारों ने त्वरित गति से पैतरा बदला। पिटे-पिटाये विषय छोड़े, पिटा-पिटाई टेक्नीक छोड़ा और गतिरोध को पास फटकने तक का अवसर न दिया। कुछ कहानीकारों की रचनाओं को छोड़ कर बाव को हिन्दी कहानी में सामाजिक यथार्थ-बोध का अभाव नहीं है, जो उसका अपनी परम्परा का नवीनतम संस्करण है। आत्मपरक कहानियाँ भी हिन्दी में लिखी जा रही हैं और बहुत बड़ा संख्या में लिखी जा रहा है, किन्तु रेणु अमरकांत, सुरेश सिन्हा, माधव साहनी आदि अनेक ऐसे कहानीकार भी हैं, जो हिन्दी कहानी की जीवन से सम्बद्ध करने में प्रयत्नशील हैं।^१

नये कहानीकारों ने अनुभव किया कि हमारे अंदर बाहर, आसपास की हवा में, हमारी मजलियों और कहकहों में कहीं कुछ ऐसा है जो गुल्ल है... कि आसपास के बड़े-बड़े परिवर्तनों के साये में हम लोग निरन्तर पहले से छोटे और कमजोर होते जा रहे हैं।... कि हमारे अंदर लगातार कुछ छूट रहा है। बाहरी हैं कि उसे बटने से बचा सकें, मगर न जाने क्या मजबूरी है कि केवल गवाह की तरह लड़े उस बहने की प्रक्रिया को चुपचाप देख रहे हैं - इस जीवनगत, मृत्युगत संघर्षों - इसकी आंतरिक और बाह्य दोनों तरह की चुनौतियों से, रचना के प्राणों से लड़ने का सत्य - यही है स्वतन्त्रता के बाद की 'नयी कहानी'। नये बोध के कारण कुछ कथाकारों ने अपने गाँव, अपने कस्बे को भी पहचाना।

कहानीकारों के इस पहले पका ने व्यापक सामाजिकता की अपनी रचना-वेतना में ग्रहण किया। यह लोग अपने उस यथार्थ, संघर्षरत जीवन का और मुझे जहाँ की जीवन डोर से उनकी मूल वेतना बंधी थी। जड़ता, अलसता, लोभण, अंधकार

ये जीवन का संघर्ष और उसमें स्वस्थ मानवाय सकेत इनकी विशिष्टताएं हैं। इनमें नैराश्य और सुनेपन में आशा और जीवनमृत्यु का संकेत है। अपने बिरह हुए, अनुभव किए हुए जीवन और समाज में जहां कहीं भी, जिस स्तर से भी, जो कुछ, जितना मृत्युवान है, विकासोन्मुख है, भाविष्यमय है, उसे उसके समूचे परिवेश के नातर से पकड़ना और उसे जिन्दा के रूप व्यापक परिवेश में देखना ही इन कथाकारों का मूल उद्देश्य रहा।

दूसरी ओर अनुभवतन्त्र के कहानीकार थे। वे अपनी रचना के वर्णन में अपने जीवन-संघर्षों से रसा संघर्ष की बुनोटियों की व्यक्ति की आंतरिकता के क्षेत्र में ग्रहण करके देख परख रहे थे। उनका भी मूल स्वर नैराश्य, पराजयजनित फुंठा (यथापि कहानियों का मूल विषय स्वभावतः यही था) की अभिव्यक्ति नहीं था। बल्कि उन्होंने भी अपने रचनाकार की सम्पूर्ण सज्जारी और उसके अन्यतम व्यक्तित्व के साथ व्यक्तित्व के यथार्थ की उसकी सामाजिक परिस्थिति में उसके परिपार्श्व में परस्पर-जाँकने वाला रचना की - रसा रचना जिसका बुनियादे वैयक्तिक अनुभवतन्त्र में ही रही किन्तु जो निश्चय ही समाजपरक विचारधारा में थी।

स्थिति बड़ी ही विचित्र है। ऐसे कि व्यापक संदर्भ में बंधकार ही जीतने लगा। पहले और दूसरे दोनों पक्षों की केना युग की आशंसि का सामना करता हुई उस यथार्थ दर्द, बंधकार और भाव से लड़ने झुंकने के बजाय उसे अपने पार्श्व से ओढ़ने लगा। पहले ने कहा कि चूंकि यहाँ अधिरा हर क्षण गहरा होता जा रहा है इसलिए कहना पड़ता है कि जो मार्गदर्शक हैं, वे असत्य का प्रचार कर रहे हैं। उनकी सत्य की पहचान भिट गयी है और यह कहानीकार अनुभव करते हैं कि 'यह संशय और अविश्वास का काल' है। दूसरी ओर अनुभव-तन्त्र के कहानीकारों ने कहा कि सवालों की नौक पर खने की टांग दें तो जगता है कि सिवाय ज़लम होने के उसमें और कुछ हासिल नहीं। 'माहो' संग्रह का सारी की सारी कहानियाँ, 'छोटे-छोटे ताजमहल' संग्रह की हर कहानी, 'एक और जिन्दा' संग्रह का 'बस-स्टेण्ड का एक रात', 'बारिश', 'बादमी और दीवार', 'जानियस' और 'फौलाद का आकाश' - ये सारी कहानियाँ आज के बंधकार में बीसते हुए व्यक्ति की ही कहानियाँ हैं। यह क्या है कि योजना और निर्माण की सतह के नीचे से मानव का जो रूप सामने आया है, बहुत ही विकृत है। किन्तु क्या विकृति का

चित्रण मात्र ही साहित्यकार का धर्म है ? प्रुष्टाचार का चित्रण जाँकड़ों के साथ तो पत्रकार करते हैं और साहित्यकार इनसे बहुत ऊपर होता है । 'व्यिस्ट्रज' की सनसनीलेख तथ्यपूर्ण सबरों से कहानी का स्तर बहुत ऊँचा है ।

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज रचनाकार के व्यक्तित्व में ही वेदद गलत होने लगा है । उसकी बेतना में तुद कहीं कुछ बहुत मूल्यवान, रचना का प्राण-नर्म से ही कुछ टूटने और ढहने लगा है । और उसे भी यह रचनाकार 'तटस्थ - उदासीन' भाव से सड़ा उस ढहने की प्राकृषा को पुपवाप देल रहा है । यही आज की आधुनिकता है और यही आज का बौद्धिक नवोन्मेष कि स्वयं भी अपने तिर 'वस्तु' मात्र ही बना रहे । अपने जीवन-मूल्यों, अपना आस्था के साथ सितवाड़ होने दो - बौद्धिकता उसे सहना सिखाती है ।

कहानीकार की बेतना की, इस युग की 'डाइसिस' का सामना करने में एक गति और भी विचित्र हुई है जो सामाजिक बेतना का प्रतिनिधि कहानीकार है, वह भी उसी अनुभव-तन्त्र की ओर मुड़ रहा है । और वह जैसे समाज की नयी उभरती हुई वास्तविकताओं और जीवन के नये संदमों की तलाश, व्यक्ति का कुंठा, हीन-ग्रंथि, उसकी दमित वासनाओं, बामुक्त वाकांक्षाओं की अवबेतना लोक में उतर कर रहा है और वह वहाँ के घने जंघकार में से आवाज़ दे रहा है कि 'बाइर, विश्वास और संशय में बुझाये प्रश्नों के एक ऐसे जंतरिजा से साथें, जिसमें प्रकाश और जंघकार का मिन्न प्रतिमान तेजी से एक ही रहा हो ।'

इस संदर्भ में दूसरी ओर जो अनुभव-तन्त्र का कहानीकार है, वह अपनी ल-बी कहानियों में व्यक्ति और परिवार के अथार्थ संघर्ष को समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की ओर बढ़ रहा है और उसकी ये कहानियाँ जिनका विषय व्यक्ति था अकेलापन, हताशा और फ्रस्ट्रेशन है - फिर भी जो अपने हेतु और अपने संवेध विचारों में अर्थात् अपनी आंतरिक उपलब्धियों में, पूर्णतः स्वस्थ हैं, जीवन के प्रति मूल्यवान, संवेध और संघर्ष के प्रति आत्मशक्ति जगाने वाली हैं - 'सुहागिनी', 'बाइर', 'मिश्री मरजानी', 'परिन्दे' आदि ।

अब प्रश्न है कि 'कर्मनाश की हार', 'इन्हें भी जंतार है', 'ठुमरी', राजा

निर्वासिया, 'पान-फूल' और 'महुर का पेड़' के ससक्त और जागृक कहानीकारों
 को उस संघर्षमयी सार्थक सामाजिक चेतना का क्या हुआ ? क्या 'कामू' और
 'सात्री' को शिकावों द्वारा प्राप्त आधुनिकता के मोह ने उसे समाप्त कर दिया ?
 जयवा लोक-ग्राम-जीवन का यथार्थ सामाजिकता का संघर्षमयी चेतना में जाना
 उठे हेय लगा और जिससे हट कर उस तथाकथित 'आधुनिकता' में रहना उसे अधिक
 सम्मानजनक, सुविधाजनक और मूल्यवान लगा ? वरना क्यों कमलेश्वर जब 'राजा
 निर्वासिया' से वितर्कित पत्रे हट कर बम्बई के जीवन पर कहानियाँ लिखने लगे हैं ?
 'उस रात वह मुझे ग्राव फेंका पर मिला था...' ^१ जैसा कहानी में बारिश का हलकी
 रोशनी के उजास में ग्राव फेंका का साक्षात् पड़ा बेधे आस्सीम की तरह रिसती रहती
 हैं या बम्बई जैसे नगरों की ऊंची ऊंची अट्टातिकाएँ रिसती रहती हैं जयवा
 स्नय लेखक का संवेदना रिसती रहा इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता ।
 हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कस्बों के अपनत्व, वहाँ की सादगी से अपना
 पोछा छुड़ा कर वह जब महानगरों की रोशनियाँ, समुद्र, स्मारकों, ओरतों और
 मदों की तरफ मुड़े गये हैं । इसे शुभ नहीं समझा जा सकता । इनके विपरीत
 रेणु तथा शिवप्रसाद की जमा में ग्रामीण और कस्बाई जीवन की सच्चाई, सादगी
 पर उतना ही आस्था है और आज भी वह उसके नये-नये सत्यों, नये-नये परिवेशों,
 नये-नये सम्बन्धों और नयी-नयी माटी की सुगन्धों में भारत की वास्तविक आत्मा
 की खोज कर रहे हैं । 'आधुनिकता' के चक्कर में न पड़ कर उन्होंने अपने मूल्य शाश्वत
 रहे हैं ।

सहर की ओर ताँटने - इस सारी वैचारिक चेतना के मूल में शायद 'नये' का ही
 मनोविज्ञान कार्यरत है । (यह कथाकार यह मूल गये कि 'नया' गाँवमें भी मिल
 सकता है और कस्बे में भी । इस दृष्टि होनी चाहिए) चूंकि सब नया-नया है -
 वितर्कित परम्परा-युक्त, वितर्कित क्रांतिकारी । नये इन्सान को सिर्फ उसके कथार्थ
 और वर्तमान के ही परिप्रेक्ष्य में देखना । तो इस नये को स्वमानतः इस युग के
 'आधुनिक' से उसे जोड़ना था । और आधुनिक क्या है ? वहाँ जो गत पन्द्रह सौतह

१. कमलेश्वर : 'उस रात वह मुझे ग्राव फेंका पर मिला था...' : धर्मयुग

(१६ अगस्त १९७०), पृष्ठ १२-१३ ।

वर्षों में पश्चिम के बाजार से फटा है, और ज़ीज़ा फिल्मों और राजधानी के
 जीवन के बीच से देखा है। देखा-पड़ा इसलिए है कि हमें आधुनिक रचना है और
 उस तरह वह आधुनिकता क्या है? वही अज्ञान, वही हताशा, वही 'लगा यंगमैन'
 वही 'बोस्टनिक'। तभी तो आज लाने लगा है कि मनुष्य छोटा होता जा रहा
 है। 'रफन' के लेख प्रेमचन्द, 'हताश का टुकड़ा' को लेख यस्मात, 'पुरुष' का
 माग्य' के लेख अश्व और 'दुष्कर्म' के लेख इलाचन्द जोश को भी किसी मनुष्य
 को छोटा और ज़माना कहने का साहस नहीं हुआ, उसे नये लेखन ने कहा। क्योंकि
 नये लेखन ने मनुष्य को फलौतों और उसका परम्परा, धर्म, दर्शन, संस्कृति से उखाड़
 कर नये युग-बोध के और यथार्थ क्राहसिस् के नाम पर उसे विमुक्त अकेला और नग्न
 करके देखा। ज़पूर्व नये और आधुनिक। यह आधुनिकता पश्चिम की आधुनिकता
 से भिन्न था। वस्तुतः किसी देश, समाज की आधुनिकता वहाँ की जीवन-वेतना
 सापेक्ष सत्य है और उसे वही पा सकता है जो यथार्थ जीवन के साथ-साथ प्रेष्ठ
 मानवीय आदर्शों और मूल्यों में भा लिया है। किसी वेतना में वह न्याय-बोध
 हो, दृष्टि हो कि मनुष्य केवल यथार्थ ही नहीं है बल्कि जगत् वह दार्शनिक है और
 अन्त में खनाकार है। और जीवन-अस्तित्व के संघर्ष में विजयी होता है।

किन्तु आधुनिकता का सही अर्थ न समझकर नये कहानीकारों ने पिछला पाढ़ा के
 प्रतिनिधि कहानीकारों पर उंगलियाँ उठायाँ और कहानी-रचना के बजाय पिछला
 पाढ़ा पर निम्न प्रहार, कठोर आलोचना और टीका-टिप्पणी करते रहे।
 इसी का यह कर्तव्य फल नहीं है कि उदायमान कहानीकारों का जो नया बोध
 स्वर उग रहा है वह किन्तु भयानक ढंग से 'स्टेडा-स्टोरी' के असाभाविक तत्वों के
 साथ हमारे सामने आ रही है।

नया कहानी को लेकर यथेष्ट वादविवाद हो चुका है। नया कहानी का गुरुजात
 विभिन्न आलोचकों ने विभिन्न बिन्दुओं से माना। एक आलोचक नया कहानी का
 पहला कृति निर्मित वर्ग को 'परिन्दु' कहानी को मानते हैं। उन्होंने कहा कि

निर्मात्र कर्ता पहले कहानीकार हैं जिन्होंने पुराना कहाना के ढाँचे को तोड़ा है। इसके विपरीत एक अन्य जातीयक नया कहाना का सुरुआत सन् ५० के आसपास डा० शिवप्रसाद सिंह की 'दादा माँ' से मानते हैं।^१ एक कहानीकार जातीयक नया कहाना को परम्परा का हा एक विकसित रूप मानते हैं। नया कहानी विकास की प्रक्रिया से गुजरता है जिसके चरु-वाच फ्रेमवर्क, प्रसाद और यशपाल में हैं।^२ एक अन्य कहानीकार-जातीयक या नया कहाना का सुरुआत सन् ५० के आसपास से ही मानते हैं।^३ उनके अनुसार २४-२२ में यह नया तरह का कहाना की बात डा० नामवरसिंह ने 'कहाना' के जातीयक विशेषज्ञ और दुष्यन्तसुमार ने 'कल्पना' में उठाया था।

एक सुविज्ञ 'नया कहाना' की पहचान मोहन राकेश से मानते हैं - 'इस तरह मोहन राकेश - 'नया कहाना' की पहचान का परिचय देते हैं ('नये वादों' में) ... लेकिन 'एक और विन्दु' (१९६६) का भूमिका में यह आन्दोलन का रूप वारण कर लेता है। वह 'नये' को 'पुराना' से अलगते हैं।^४ और इस 'नये' और 'पुराने' के बक्कर में ही पाठियों का संघर्ष पुस आया। कहाना के लिये 'नये' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है इसके आगे एक अन्य कहानीकार ने भा प्रश्न-चिन्ह खींचा और ऐसे विमानन को व्यर्थ उड़ताया -- 'यदि ५० से ६० तक की कहाना 'नये' हैं तो ६० से ७० तक और 'अभिनव' और ७० से ८० तक की क्या 'नूतन' कहता हूँ? क्या नये कहानीकार हिन्दी कहाना को यहाँ तक लाये हैं, उससे आगे वह खड़ेगी ही नहीं? 'नये' के पर्यायवाची शब्द चुन जाली तो फिर कौन-सा शब्द दिया जाएगा? मैं समझता हूँ आज का कहाना में जो परिवर्तन आये हैं, वे साहित्य के विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया के फलस्वरूप हो जाये हैं। ... विकास के हर दौर में साहित्यिक विचारों के साथ 'नया' अर्थात

१. डा० बच्चन सिंह : समकालीन साहित्य जातीयता को चुनौती (१९६८) कलकत्ता, पृष्ठ २०६।

२. क्लेश्वर : नया कहाना का भूमिका (१९६६) दिल्ली, पृष्ठ ४१।

३. रामेन्द्र यादव : कहानी रूप और सम्येदना (१९६८) दिल्ली, पृष्ठ

४. डा० दुर्गाधर मदान : हिन्दी कहाना (अपनी कहानी) (१९६०) दि

‘नया’ शब्द लगाना कहाँ तक उचित है ?^१

जात ठीक भी है । ‘नया’ और ‘नयी’ शब्दों से अब साम्प्रदायिकता और दलबंदी का बूँद बूँद होता है । ‘नया साहित्य’ राजनीति से प्रभावित साहित्य पिछे का चीतक बन कर रह गया । ‘नई कविता’ और ‘नयी कहानी’ का तात्पर्य समझा जाने लगा जिसमें ठूटे व्यक्तित्व का विग्रह हो, कुंठा, मानसिक घुटन, दुःस्वप्न, जीवन का सहाय्य जादि जटिलताओं को अभिव्यक्त हो ।

● प्रेमचन्दोंपर कहानी और स्वातन्त्र्योंपर नई कहानी में सामाजिक संवेदना का टकराव और परिवर्तनशीलता

स्वातन्त्र्योंपर काल में ऐसा कि पहले कहा जा चुका है कई पाठियों एक साथ मिल रहा है । यह सब है कि पूर्ववर्ती लेखकों के सामने ऊँचे आदर्श थे, सुस्थिरता थी, जीवन की एकता (इण्टिग्रेशन) थी । इसलिए उनका कला में कलासिद्ध व्यवस्था और ‘मोनोसिद्धिक’ सुदृढ़ता देली जा सकती है । किन्तु पिछे के दशकों में वह बहुत कुछ ध्वस्त हो गयी । फिर भी यह कहना कि इस दशक के कथाकारों ने पूँजी नहीं तो है, गलत है । इस पीढ़ी के पास अपनी पूँजी नहीं थी - यह कहना और भी गलत है । सब कुछ नकारने के बाद भी नये कथाकारों ने - उनसे बहुत कुछ लिया है किन्तु उनका निर्मित एकदम अपनी ही, अपने युग की है । स्वयं प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती कथाकारों को अनगढ़ विरासत को परिष्कृत किया । जेनेन्ड्र, यशपाल, अश्व, तथा मकबूलीकरण कर्मा आदि ने भी इस विरासत को अपने ढंग से संवारा । इस सभी कथाकारों ने वस्तु को विविधतापूर्ण बनाये रखा और शिल्प के अनेक प्रयोग किए । वस्तु की विविधता की दृष्टि से प्रेमचन्द आज भी बेजोड़ हैं । किन्तु पूर्ववर्ती पीढ़ी की कहानियों में हम पाते हैं कि जीवन स्वयं ही ‘लम्बे’ में बंध गया है । दो पीढ़ियों की ‘दृष्टि’ के इस अंतर को मुँठताया नहीं जा सकता । क्योंकि इस परिवर्तन के आधार पर ही नये कहानीकारों ने अपने को स्वतन्त्र, लड़ियों से और

परम्परा से कहां किंचित मुक्त और कहां पूर्णतः मुक्त माना तथा 'नये पैर्न' को अपनाने का बात का ।

किन्तु इसका या अन्य कदापि नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर नये कथाकारों ने कुछ ऐसा नया बनोला बाज़ें दा हैं जो पूर्ववर्ती कथाकारों के पास नहीं था । न तो यहां कहा जा सकता है कि आधुनिक बोध जो स्वातंत्र्योत्तर कहाना में देला जाता है वह पहले कहीं नहीं था । प्रेमचन्द की 'कफ़न' और ज्ञानेय की 'रोज़' को लिया जा सकता है । 'कफ़न' में मात्र वगायें दृष्टि को देखना ही साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है । जो सतह के भीतर तक न जाकर ऊपर ही रह जाता है । यह कहाना समाज के सूक्ष्म विधानों (डिसेंटा) के प्रतिभूत जाता है, क्रम (आर्गेरानेस) के विरुद्ध व्यतिक्रम (डिसआर्गेरानेस) का सृष्टि करता है । ऐसा करने के बाद भी वह समाज के प्रति एक सुदृढ़ वास्तव को उभास्ता है । 'रोज़' कहानी में मध्य-वगायें जीवन की यांत्रिक स्करस्ता घुटन, पीड़ा और ज्वनबाधन है । यह सभी तत्त्व उमरकर बाधे हैं और कहानी में दैनिक वातावरण का सृष्टि करते हैं । इस प्रकार 'वातावरण का दृष्टिकोण' हमें 'रोज़' से ही प्राप्त होने लगता है ।

उन पाठियों के यथार्थ-बोध में गहरा अंतर आ गया था । यथार्थ को देखने की दृष्टियां भी अलग-अलग हैं । नये युग का बोध पुराने युग के बोध से निस्सन्देह पृथक है । पुराने कथाकारों ने कहाना का परिभाषा अपने काल के अनुसार का था । प्रेमचन्द ने कहा - 'वर्तमान आत्मायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझता है ।'^१ यह परिभाषा वस्तुतः स्थूल आदर्शवाद से अनुप्रेरित थी । यशपाल ने कहा - '... किसी प्रसंग या घटना का कार्य कारण सम्बन्ध वर्णन ही कहाना है, जिससे भावोद्देक हो सके ।'^२ यह परिभाषा भी आज पुरानी पड़ गयी है । क्योंकि न तो आज कहाना में घटना का होना अनिवार्य है और न कार्य-कारण का सम्बन्ध ही । आज का कहाना तो मात्र 'मौगे हुए' यथार्थ की 'प्रामाणिक अभिव्यक्ति' है ।

१. प्रेमचन्द : समकालीन हिन्दी साहित्य आलोचना कोबुर्नोता (१९६८) कासस,

२. यशपाल : वही, पृ० २७० ।

स्वातंत्र्योत्तरकाल में जेनेट्रु जा ने मो का कहानियां लिखी हैं। नये-नये प्रयोग वा किये हैं। 'अमांगे लोग', 'निराकरण' और अन्य कहानियां के प्रकाशनीय में उन्होंने लिखा -- 'प्रस्तुत संग्रह में एक विविधता प्रयोग है। संग्रह का लगभग सभी कहानियां जेनेट्रु जा से लिखी गई हैं। उनसे कहानी लिख लेना एक तरह जति सरल काम है। कहानी लिख जाती है बस आरम्भ में लिखवाने वाले को कुछ मो एक वाक्य कहना होता है - 'इस पर एक विद्वान् का कथन है कि, 'यह तो ऐसा हुआ गया समस्यापूर्ति की जा रही हो; कविता में समस्या-पद या वाक्य अन्त में बढ़ा जाता था और पूर्ति पहले होता था। कहानी में वाक्य पहले बढ़ा जाता है और पूर्ति बाद में होती है।'^१

जेनेट्रु जा के दूसरे संग्रह 'पूण और परिणाम', 'वह रानी', 'विज्ञान' और अन्य कहानियां हैं। 'पूण और परिणाम' में आत्महत्या का समस्या है। यह वायुनिक समस्या है लेकिन जेनेट्रु जा ने उसे देखा - उसी पुराने ढंग से है। यह स्नायुजन्य है, जीवन की अटिक्ताओं और तनावों से यह सम्बद्ध नहीं है। 'विज्ञान' काफी बर्धित रही है। १०. इसमें विज्ञानजनित नये मूल्यों की निरूपितियों (वलगराखित) पर गहरा प्रहार किया गया है। वैज्ञानिक प्रत्येक लड़की को कीलर या काल गर्त बनाना चाहता है जबकि उसके स्वयं के जीवन में स्त्री प्रयोजन से अधिक सिद्ध हुई थी। यह एक समस्यामूलक कहानी है। भोगे हुए यथार्थ की प्रमाणिक अभिव्यक्ति नहीं।

यशपाल ने मो काफी कहानियां लिखी हैं। उनका यह बहुत स्पष्ट बात है कि वे समस्या के समाधान के लिये कहानियां लिखते हैं। नये कहानी संग्रह 'सब बोलने की मूल' की भूमिका में उनका कहना है कि वे दृष्टान्तों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे दृष्टान्त, विचार और अभिव्यक्ति का समन्वय करते हैं। संग्रह की कहानियों में प्रायः उन्होंने अपने को दोहराया भर हा है। 'आत्मज्ञान' पढ़ कर 'ज्ञानदान' याद आती है। और ज्ञान-दान जैसा ताजगी भी

‘आत्मज्ञान’ में नहीं है। ‘लेखन’ वाले में नहीं ‘चार बाने’ वाला फार्मूला है और ‘एक हाथ का उंगलियाँ’ तथा ‘सुधा और लुधा का उड़ार’ आदि कहानियों में भी उनका वही पुराना चेतना का चिह्न पड़ता है। हाँ ‘कर्मयोग’ में प्रकाशित ‘समय’ कहानी अवश्य ही अपने समय को सूता है और समय के प्रति मनुष्य को किस तरह समर्पित हो जाना पड़ता है इसका विमर्शता उसमें रह-रह कर नभसता है।

जैसे की कहानियों ने भी वही सिद्ध किया कि वह लिख तो सकते हैं किन्तु वह लेखन समसामयिक नहीं हो सकता। ‘शरणाधीन’ और ‘अयदोत’ की कहानियों में एक जीवित सा रिक्तता है। ‘शरणाधीन’ का भूमिका में उन्होंने लिखा - ‘मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपना अनुभूत हाँ लिखे, जो अनुभूति नहीं है, कोरा ऐद्वान्तिक प्रेरणा के बसोभूत होकर उसे लिखना कण-शाय ही संभव है, साहित्यिक सिद्धि नहीं। कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है और निस्सन्देह उस का समाज के प्रति भी दायित्व है, जो व्यक्ति और समाज का पनड़ा लड़ा करते हैं, वे बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है। किसी एक दायित्व को लेकर शेष कर्तव्यों का उपेक्षा करना परमात्मन्त होना हाँ है।’ पर सच यह है कि जैसे की इन कहानियों में न तो व्यक्ति के प्रति उत्तरदायिता हैं और न कला के प्रति। समाज के प्रति उत्तरदायित्व का बात भी गले के नाचे नहीं उतरती। क्योंकि अपने ‘अहं’ से वह कहाँ भी अलग नहीं हो सके हैं और ‘अहं’ का विलीन कहानी में तो बहुत हाँ आवश्यक है। अतः यह कहानियाँ व्यापक व्यापक दर्द से मज नहीं पाया हैं क्योंकि उनका व्यापक और दर्द प्रामाणिक नहीं है या शायद वह मांच नहीं पाया है।

भावताचरण कर्मा के द्वार दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नागर जो भी छिट-पुट लिखते रहे हैं किन्तु हल्ले-फुल्ले व्यंग्य ही उन्होंने अधिक लिखे हैं। विष्णुप्रभाकर अपेक्षाकृत

नया पाड़ी के हैं । किन्तु उनके बोध को नया नहीं कहा जा सकता ।

अब हमारे सामने १० के बाद का पाड़ी जाती है । इन लोगों की प्रारंभिक कहानियों में हमें आरोपित आदर्श के हा दर्शन होते हैं । चाहे वह डा० शिवप्रसाद सिंह की 'दादी मां' हो अथवा मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' सभी की परिणति आदर्शवाद है । किन्तु यह भीगे हुए जीवन की अभिव्यक्तियां हैं और दूसरी बात यह है कि इनके पहले गांव कभी अपने स्व-रंग की पूर्णता के साथ विकसित नहीं हुआ था । पर दादा, दादी, बाबा, माई के माध्यम से अंसी-नुहा आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयास उनके रोमैंटिक दृष्टिकोण का परिचायक है । गांव का पूरा सेटिंग यथार्थ है पर उसे देखने का परिप्रेक्ष्य रोमैंटिक है । प्रेमचन्द आदर्शवाद अनस्य थे पर रोमैंटिक नहीं थे । गांव के प्रति उनका भाव उन्हें बहुत कुछ मोह-गुस्त बना देता है ।

मार्कण्डेय ने परिवेश की उन प्रवृत्तियों को भी अभिव्यक्त किया है जो 'कल्याणम्' और 'महुने का पेड़' छड़प लेने के लिये तत्पर हैं ।

शिवप्रसादसिंह की दृष्टि परिवार के भीतर के अन्तरव्यक्तिक सम्बन्धों की ओर विशेष रहा है । वे 'बीच की बीमार' तोड़ने के लिये, 'सुबह के बादल' से जाने के लिये, स्वातंत्र्योत्तर नये मूल्यों के लिये - वह बराबर प्रयत्नशील रहे हैं । उनकी सर्वप्रथम कहानियां 'ट्रैफिक टेंशन' के हल्के-तोड़े दर्द से अनुप्राणित हैं । उदाहरण के लिये 'नन्हों', 'आर पार की यात्रा' और 'विन्दा महाराज' को लिया जा सकता है । नन्हों में आस्था, टेंशन और लाइण दर्द है । 'आर पार की यात्रा' में विवशता, हार, लाचारी का अतिशय मर्म स्पर्श चित्रण है । इसमें टेंशन नहीं है । आस्था का कोई मूलर स्वर नहीं है । फिर भी समूची कहानी उस व्यवस्था के प्रति एक तात्का विक्षोभ उत्पन्न करती है, जो लहलहाती मासूम विन्दा की अपने जकड़ों में जीवित निगल जाती है । यह कहानियां थोड़ी बूझा हैं । इनमें रोमांटिक यथार्थ भी है और युगान संक्रमण भी । 'विन्दा महाराज' में विषय का

अनोलापन है और साथ ही यह उन जीवों के अस्तित्व के आगे महत्वपूर्ण प्रश्न-चिन्ह भी लगाता है ।

रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक बटकाता रंग 'रेणु' की कहानियों में दिखाई पड़ता है । वहाँ के शब्द, वहाँ का रहन-सहन - एक अंचल-विशेष इनकी कहानियों में पूरा तरह से उभरता है और रेणु ही सही मानों में आंचलिक कहानीकार कहे जा सकते हैं । मार्केण्डेय की बर्चित कहानी 'हंसा जाई अकेला' में भी रोमैंटिक यथार्थ ही निहित है । गांवों के ही शब्द, मुहावरों, में वातावरण को जीवन्त बनाता है ।

उसी काल में रागेय राघव, मोष्य साहनी, शेर जोशा, अमर कांत आदि आते हैं । ये सभी प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कहानीकार हैं । उनमें शेर जोशा और अमरकांत में रोमांस की कमा पाई गयी । 'कोसा का घटवार' यद्यपि रोमांस से रिक्त नहीं है । फिर भी अधिक यथार्थ है । अमरकांत की 'छिप्टा क्लबट्रा' में एक न्यूरोटिक पात्र का चित्रण है । और 'जिन्दगी और जोश' भी रोमांस से परे शुद्ध आधुनिकता के बोध को जगाता है । रागेय राघव का 'गदले' अपने यथार्थवादी वातावरण, वास्था, नये मूल्यों के कारण काफी दूर तक स्थाय्य है, पर उसका अंत 'मेलो ड्रेमेटिक' हो गया है ।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् फैली मनःस्थिति से सम्येदनशील व्यक्ति बहुत ही दुःखी थे । ज्ञान-विज्ञान और यांत्रिक प्रगति से एक ओर पुराने मूल्य टूट गये थे और दूसरी ओर नये मूल्यों की सृष्टि भी नहीं हो पायी थी । राजनीतिक शक्तियों, सोसली नैतिकताओं और व्यावसायिकता ने मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसे एक प्रकार से यांत्रिक, तटस्थ और जड़ बना दिया था । यह संवेदनशील व्यक्ति समाज की वीमत्सताओं के कारण उससे टूट गया और बेगाना और अजनबी होता गया । उसके लेहन में भी यही अकेलापन और अजनबीपन घिरता गया । इस बोध को लेकर लिखा जाने वाली कहानियाँ युगीन संक्रमण के बोध की कहानियाँ हैं । इनमें

१. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना की बुनाँती (१९६८), आरस, पृष्ठ १११ ।

विविक्त होने वाला जीवन जीवन की 'ट्रेजिडी' नहीं है वरन् 'ट्रेजिक' जीवन है।
उनमें समाज का नहीं, व्यक्ति का बोध है। ये 'ट्रेजिक विजन' और 'ट्रेजिक तनाव'
टेंशन की कहानियां हैं।

मोहन राकेश, की कहानियां भी आपके 'ट्रेजिक तनाव' की ही अभिव्यक्त करती
हैं। 'एक और जिवंगा', 'फौलाद का आकाश' आदि।

वायुनिकता को, उसका बाह्य और टेंसर को बहुत ही व्यापक पैलर पर निर्मित बर्मा
ने विविक्त लिया है। इन्हें प्रसाद की परम्परा को बागे बढ़ाने वाला माना जाता
है और मानव-मन की अंत-सृष्टि को वह नये-नये पैटर्नों में उता रहे हैं। वैसे
इनकी कहानियों में निवेश वातावरण का संवास ही अधिक मिलता है। यह शायद
इस कारण भी है कि वह 'प्राग' में ही बस गये हैं।

कुछ कहानीकारों ने वायुनिकता के परम्परागत रूप को स्वीकार न करके अपने परिवेश
और वातावरण में ही नये और वायुनिक मूल्यों की सृज की। उनके पात्र जीवन
का कूस्ता, बेगानेपन और क्षयवापन के शिकार हैं। यह कहानियां ट्रेजिक तो हैं
पर तनाव उनमें नहीं है। 'राजा निरवसिया' कमलेश्वर की बहुवर्णित कहानी है।
यह जीवन की 'मार्मिक ट्रेजिडी' की कहानी है, लेकिन फिर भी वह नये मूल्य
स्थापित करती है क्योंकि लेखक का 'विजन' 'ट्रेजिक' नहीं है। राजेन्द्र यादव
ने व्यक्ति के माध्यम से सामाजिकता की बात उठायी। 'बिरादरी के बाहर' एक
ऐसी कहानी है जो नये मूल्यों को उभारती है। परन्तु थोमा इसका पुरानी है।
'जहां लक्ष्मी केद है' अविस्वसनाय अंध-विश्वास पर आधारित है। 'प्रतापता' में
मनोवैज्ञानिक गुत्थियां उलझी हुई हैं। यह घोर आत्मपरक कहानी है। परन्तु
मन्नु भंडारी की कहानियां बहुत ही सख्त और स्वामाधिक होती हैं। इनमें
अनुभूति को गहराई भी है और साथ ही नये-नये मूल्य भी उभरते हैं। व्यक्ति की
आंतरिक कमजोरियों का पदार्पण करके वह बहुत ही निर्भीकता से कह देती हैं कि
'यही सब है' और 'तीसरा आदमी' पति-पत्नी के बीच हर जगह उपस्थित है किन्तु
कुछ कहानियों में बहुत ही स्थूल मूल्य उभरे हैं जैसे - 'रानी मां का बहूरा' कथना
'में डार गयी'।

अगर ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं जो परम्परागत मूल्यों से नितान्त भिन्न हैं। उनमें किसी 'मूढ़', किसी 'काण' और किसी 'ट्यूपर' का चित्रण होता है। नरेश मेहता, सुशार सहाय तथा श्रीनान्त वर्मा आदि कवि होने के नाते कहाना में भी काणों के महत्व को ले आये। इनकी कहानियों में फ़ीक नर मिलते हैं तथा उनमें कहीं आत्मगतानि है, कहीं फ़्लॉस्ट। अनिर्णयात्मक स्थिति, स्वविज्ञा का प्रभाव, बेवैनी और ज़ोम। इनका नायक कभी भी 'फ़ाढ़ी' नहीं लॉघ पाता। वह बराबर अनिश्चय से विपका रहता है और न जी पाता है और न मर पाता है।

दुपनाथसिंह की कहानियों में उत्कर्ष और गुत्थियाँ बहुत अधिक हैं। वस्तुतः वे फ़ुंठाजों और बर्बंजाजों की कहानियाँ हैं। उनमें जीवन का अस्वस्थ एवं ग़लत पक्ष ही उभरा है। उनमें न कोई दृष्टि है, न दिता, सिवाय फ़ुंठा, फ़ुटन एवं आस्था के। इनकी अधिकांश कहानियों का विषय सेक्स रहा। 'स्मापति', 'राइ', 'इन्डुफ़ुण' इनकी कुछ कहानियाँ हैं जो इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

ज्ञानरंजन की कहानियाँ पूरी तरह से आधुनिक युगजीव और बदलते सम्बन्धों एवं मूल्यों को चित्रित करती हैं। 'सम्बन्ध', 'पिता', 'फ़ेस के अंदर और उभरे', 'शेष' होते हुए इनकी सशक्त कहानियाँ हैं। हाँ, कहीं-कहीं वह भी सेक्स के दलदल में फँस गये हैं जैसे 'दलांग' और 'दिवास्वप्ना' जैसी कहानियों में।

सुरेश सिन्हा साठोपरी पोढ़ी के एक ऐसे जेले कहानीकार हैं जो सामाजिकता से अंततः जुड़े रहे और आज के 'विघटन', 'संघास', 'ऊब' और 'कुहरे' जैसे मूल्यों को स्वाभारते हुए भी उन्होंने एक जीवन के प्रति आस्था बराबर जताये रहीं। 'एक अपरिचित दायरा' हर व्यक्ति के लिये परिचित है। धुटते, पिचते और टूटते हुए पात्र कभी भी पाड़े मुड़ कर नहीं देखते - अपने सफ़र पर जागे हो बढ़ते रहते हैं। 'कई कुहरे', 'यहाँ-वहाँ धूप' पति-पत्नी के सम्बन्धों पर आये 'कुहरे' और 'धूप' की कहानियाँ हैं। आधुनिकता और फ़ेस से दूर यह दूर रहे हैं और अपने को बराबर इन्होंने अपने परिवेश में 'कई जावाज़ों के बीच' पाया है। डा० देवीशंकर अवस्था ने इनके बारे में ठीक ही लिखा है कि 'इस पोढ़ी में जीतों की अपेक्षा

हमें अधिक स्वस्थ सामाजिक दृष्टि मिलती है ।... ये कहानियाँ साफ सुथरी हैं । उन्होंने आज के विघटन और मृत्यों के संक्रमण में समाज की तथा व्यक्ति की नर सिरे से पहचानने का प्रयत्न किया है । "वस्तुतः सुरेश सिनहा की कहानियाँ निर्मम सम्बन्धों की कहानियाँ हैं । उनका बाकिांश कहानियों का नेन्दीय बिन्दु यही है । सम्बन्धों का निर्ममता एक ऐसा संकट है, जिसे भोगने के अतिरिक्त कोई बारा नहीं है । उनका कुछ कहानियाँ इस बोध को गहराई में उजागर करती हैं ।"

काशनाथ सिंह की कहानी 'बासिरा रात' भी सैटोरोमेटिक कहानी है । कहानी में एक विवशता बराबर की रहती है । 'बायघर में मृत्यु' में मृत्यु के पाछे से हमें जिवन्ती भाँकता हुई मिलती है । साठोवरी कहानीकारों पर विस्तार से बाद में चर्चा की जायेगी ।

इस प्रकार इस समय 'तोमियेटिक' अर्थात् 'अनहिरोइक' कहानियाँ लिखी गयीं । सन् ५० की कहानी जहाँ 'हारा' की सोज कर रही थी वहाँ साठोवरी कहानी ने 'हारा' को गौण माना । यह कहानियाँ पुराने कहानीकारों की तरह किसी विचार और आइडिया की लेकर नहीं लिखी गयीं । यहाँ भोगा हुआ सामाजिक जीवन हा, अधिक व्यापक और गहरा हो कर अभिव्यक्त हुआ । आज की उदासीनता, तनाव, संकट, विकर्षण, अलगव, बेगानगी, अजनबीपन और स्थापन आदि ही इन कहानियों के विषय रहे । और इन प्रामाणिक तथ्यों का प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर जोर दिया गया । इससे कहानी के परम्परागत पैटर्न में बहुत ही अंतर आ गया है । उसका शिल्प, भाषा अब विविध हो गये हैं और जो जीवन की जटिलता की उसकी सम्पूर्णता में गहन कर लेते हैं ।

इस प्रकार नया कहानी, अकहानी अथवा सचेतन कहानी ने युग का यथार्थ की सम्पूर्ण विषमताओं, विडम्बनाओं और विसंगतियों की तीव्र अभिव्यक्ति की । इन कहानी-कारों ने अपनी पूर्ववर्ती कहानी की सीमित सीमाओं को समझा, और नया सीमाओं

के उन्वेषण किये । वरना स्वातन्त्र्यता के पूर्ण कहानी किस्तागोर् से जाने नहीं
 बढ़ पायी थी । उन नये स्वातन्त्र्योद्धार कथाकारों ने किस्तागोर् की रेलों को
 नये संदर्भ दिए । कुतूहलपूर्ण घटना संघटन को जस्ताकार कर उन कथाकारों ने
 दिनदिन जावन के पार्थिक प्रसंगों, मूर्तों और सूक्ष्म अनुभव स्रष्टों को प्रत्यक्ष दिया ।
 शिल्प के क्षेत्र में सांकेतिकता, सूक्ष्मता तथा प्रतीकात्मकता के सफल प्रयोग भा
 हुं ।

लेकिन यह भा एक विचित्र बात है कि इन कहानीकारों ने जहाँ एक ओर दक्षिणानुस
 धरों से मुक्ति प्राप्त की, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने लिये या अपने गिर्य बहुत-
 सी लक्ष्मण-रेखारें साँच लीं । उस प्रकृति से जहाँ एक ओर कहानी के सस्ते और
 टिकाऊ फाभूले बन गये हैं, वहाँ दूसरी ओर विकासक्रम कुंठित हो रहा है । किता
 ने अपनी सुविधा केलिये समानान्तर कहानी का जर्ज ही नया कहानी समझ लिया ।
 किता ने बस्ता, ग्राम, कस्बा, नगर, महानगर पर लिखी कहानियों या भाषा-
 टेक्सवर की ही नयी कहानी का पर्याय मान लिया ।

भारत के विभाजन को लेकर जैसे बार पाँच कहानियाँ ही लिखी हैं और स्त्री-
 पुरुष सम्बन्धों पर, सेक्स जैसे विषय पर तो कहानियों की बाढ़ ही बा गयी
 थी । ऐसे कहानीकारों का पर्याप्त आलोचना की गयी और कमलेश्वर ने तो इसे
 कहानी के 'रीतिकाल' से सम्बोधित किया । - और यहीं से हिन्दी कहानी का
 घोर व्यक्तिगत (पर्सनल, वैयक्तिक नहीं) स्वर उभरता है और कहानी में 'रीतिकाल'
 शुरू होता है । स्कास्क वे औरतें जो प्रेमचन्द तक जिन्दगी को बहन करने वाली
 केन्द्रीय आइयाँ थीं, प्रेम-विदग्ध प्रेमसियों में बदलने लगती हैं, पुरुष आकांत की
 तरह नपुंसक होने लगते हैं और बिना जड़ों के । लेखक का अपना दमित वास्तवों
 और कुंठाओं से गुस्त उपजावा पात्र अवतरित होने लगते हैं । इतिहास कम से उद्भूत
 अपने परिवेश में साँस लेता सामाजिक पदों वाला मनुष्य वहाँ रुका रह जाता है
 और दादी तथा मामी या बहन जी की रिश्तेवाले व्यक्तियों में कामुकता कमसमाने
 लगती है । मामीवाद और दादीवाद का युग चाँते जमा बहुत दिन नहीं हुए ।...
 शायद हिन्दी कहानी के इतिहास में प्रेमी-प्रेमिकाओं के आँसुओं के इतने महानद,
 बाहों के इतने महामेघ और सिसकियों के इतने महास्वर कभी नहीं गूँजे, क्योंकि तमाम

नाभियाँ और तमाम दाभियाँ (अपने जीवन-पुरुषों को क्लिष्ट कर) तिकै अपने प्रेमियों के लिये जा रहा था।^१

इस प्रकार कमलेश्वर के अनुसार आधुनिक 'स्यारा प्रेता' के विद्रोह का भूमिका, जैन्डू, यक्षपाल और ज्ञेय के काल में ही बाँधी जा चुका था और लेक्स के क्षेत्र में साठोपरी कानाकारों का विद्रोह कोई एकदम नया जनोत्थान नहीं था। इस आधुनिक असामाजिकता के बाव में वस्तुतः पहले ही बोये गये थे जो कि फूले-फले - साठोपरी पाड़ा में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में जिस तेज़ी से मूल्यों में परिवर्तन हुआ, हिन्दी कहानी में उसकी अभिव्यक्ति उतना तीव्रता और सम्पूर्णता से नहीं हुई। परिवर्तन के कुछ ही पक्षों पर इन कहानीकारों का ध्यान केन्द्रित रहा। उन्होंने विनाश, विच्छेदन और विकृति वाले पक्ष पर ही सारा ध्यान दिया और स्वातंत्र्योत्तर सर्वना, संगठन एवं प्रगति-पक्ष को अपना अपना कुंठा में विलुप्त ही विस्मृत कर दिया। एक ही कहानी बाव ऐसी नहीं मिलती जिसमें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के कुछ नये और सारपूर्ण मूल्यों का चित्रण हो। ऐसा तो ही ही नहीं सकता कि स्वातंत्र्योत्तर क्षणी प्रगति के बाद भी हमारे पास कोई सर्वनात्मक अथवा संगठनकारी एवं सुलभकारी मूल्य न हों। जीवन के उस 'पॉजिटिव' कोण को कहानीकारों ने गौण समझा और बस अपने अपने दुःख और अपना-अपनी कठिनाइयों को ही इन लोगों ने महत्वपूर्ण विषय मान कर चित्रित किया। नया कहाना में जीवन के, निगेटिव पक्ष का ही चित्रण अधिक हुआ है। क्षणी तकनीका, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रगति का और लोगों का ध्यान क्योंकर नहीं गया - यह वास्तव्य का विषय है। वरना 'सत्यं शिवं सुंदरम्' तो हमारे शाश्वत मूल रहा है।

● भारतीय आत्मा का अन्वेषण और जांचलिखता का उन्मेष

हिन्दी साहित्य में जांचलिखता का उन्मेष १९२० के लगभग स्वीकार किया जाता है। नगरों के वातावरण को लेकर प्रायः कहानियाँ लिखी जाती थीं, पर प्रचुर कलाकार केवल नगर तक ही सीमित नहीं रह सकता था। भारतीय आत्मा गांवों में बसता है, इसे गांधी जी ने भी कहा था और बाज भी इस विषय पर कोई विवाद नहीं है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में परिस्थितियाँ परिवर्तित हुईं, तो न केवल नगरों के परिवेश एवं सन्दर्भ बदले, बल्कि ग्राम-जीवन में भी अद्भुत परिवर्तन आया। सामाजिक सम्बेदना की टकराहट अनुभव करने वाले नए कहानीकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि गांवों में कौन-कौन सी भारतीय आत्मा का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अन्वेषण करे और यहाँ से नई कहानियों में जांचलिखता का उन्मेष प्रारम्भ होता है।

गांव का युवक कहाँ था, कहाँ नहीं रहना चाहता था। शिक्षा के प्रसार, नई जेतना के विकास और बड़ी दुनियाँ से सम्पर्क स्थापित करने की जकूलाहट उसे नगरों की ओर खींच रही थी। जो नगर नहीं भी जा सकते थे, उनमें रुढ़ियों और पुरस्कारों के प्रति कोई मोह शेष नहीं रह गया था। उनका लोक-संस्कृति एवं आचार-व्यवहार का रूप भी बदल रहा था। उनमें मानव-मूल्यों का नया उत्कर्ष हो रहा था। प्रेमचन्द के गांवों और लोगों से येगांव और लोग बहुत भिन्न थे। नए कहानीकारों ने इसी यथार्थ स्थिति को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की। 'जंगल का कार्य है क्षेत्र या जनपद। क्षेत्र को सुगठित उद्योग का रूप प्रदान करता है, वहाँ का सांस्कृतिक परिवेश। अतः जंगल किंवा क्षेत्र के लोक जीवन का चित्रण करता है।... किसी समाज का मौलिक प्रगति की सम्पत्ता, और सम्पत्ता के मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक पक्षों को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। सम्पत्ता की सफलता जीवनयापन के हेतु उपयुक्त साधन जुटाने के कोश में निहित है। समाज की आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर उसकी सम्पत्ता की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्पत्ता समाज की बाह्य सम्पन्नता, समृद्धि का प्रतीक है तो संस्कृति उसकी आन्तरिक समता का परिचायक है।... जंगलों में, मौलिक प्रगति-सम्पत्ता,

का प्रभाव देखा जा सकता है किन्तु मानव-मन का सम्पन्नता-संस्कृति वहाँ रहता है, यह तथ्य निर्विवाद है । देश के विभिन्न जंगलों की संस्कृतियाँ वहीं वहाँ का प्रमुख सांस्कृतिक धारा को समझने में सहायता देता हैं ।^१ कतः जांचितकता का उन्मेष नई कहानियों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है, जिसने समाज के उस महत्वपूर्ण पक्ष का पुनः उद्घाटन किया, जो प्रेमचन्द के बाद अगम्य उपेक्षित पड़ा था ।^२ वे लेखक विष्टपेक्षण से बचना चाहते थे परन्तु बारम्ब में ऐसे लेखक न तो किसी बड़ा गहराई में जाकर जांचितक क्षेत्र की वस्तु-स्थिति का पारल्य दे सके, न उनको लेखन-क्षेत्र में ही कोई बड़ा परिवर्तन दिखार पड़ा ।^३ वाजपेयी या का विश्वास है कि जांचितकता का उन्मेष विषय-वस्तु एवं लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता कथवा गतिहीनता की स्थिति के कारण हुआ, जिसमें कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी कला और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण शक्ति-नाति वाता वातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया । उनके लिए यह एक नव्यतम प्रयोग था ।

इस कत से सहमत नहीं हुआ जा सकता । लेखकों का मुख्य दृष्टिकोण भारतीय आत्मा की खोज और नए सामाजिक सन्दर्भों का उद्घाटन करना था, जिसके लिए उन्होंने ग्रामीण जंगल की ओर ध्यान दिया । मार्कण्डेय, फणाखरनाथ रेणु तथा शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ इस तथ्य की ही प्रमाणित करती हैं । जिस भूमि सण्ड और समाज से लेखक का आत्माय परिवर्त था, उसी की उसने अपनी कहानियों को पृष्ठभूमि बनाई और गांवों की समस्त विशिष्टताएँ अत्यन्त सशक्त ढंग से उजागर हुईं । 'भूदान' (मार्कण्डेय), 'पापबाबी' (शिवप्रसाद सिंह), 'खप्रिया' (फणाखरनाथ रेणु) आदि कहानियाँ इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता हैं । इन कहानीकारों ने गांवों की चार-फाड़ के माध्यम से देश की सही आत्मा का विश्लेषण किया । गांवों में स्वातन्त्र्योत्तर प्रभाव खोजे और उसके नए-नए स्तरों की व उद्घाटित करते गए । उनका प्रमुख उद्देश्य उपेक्षित साधारण लोगों की पुनर्प्राप्ति कराना तथा उनका अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति देना था, जिसमें वे पूर्णतः सफल रहे हैं, यह अर्थात् है ।

**४ : तीसरा अध्याय : राजनीतिक धरातल और
विघटन की भूमिका**

- नए व्यक्ति की आशा-उपेक्षाएं
- राजनीति के बदलते मानदण्ड
- लोकतन्त्र बनाम तानाशाह
- प्रष्टाचार और मूल्यों का संक्रमण
- अंधकारपूर्ण भविष्य और सामाजिक विघटन
- चीना-पाकिस्तानी आक्रमण तथा नई पाटनी का निष्क्रियता
- देश की अनिश्चित - युंयती तसवीर
- मामक रकता और स्वार्थपरता का अनोखा दस्तावेज़

● नए व्यक्ति की आशा-अपेक्षाएं

स्वतन्त्रता के बाद का भारतीय चित्र आशा और अपेक्षाओं से भरपूर था। नये-नये उत्थान के सपने उसकी आंखों में थे। भारतीय प्रतिष्ठा के अध्याय में नये पृष्ठ जुड़ रहे थे। प्रतिमाओं का बोलबाला था। आत्मविश्वास, स्वावलम्बन की शक्ति लेकर दृढ़ता की सोंज में भारतीय समाज संलग्न था। स्वतन्त्रता ने भारतीय समाज का निराशा हर ली थी - उसे एक नया रोशनी दी थी और उसमें एक नया आशान्वित और अति-उत्साहित आत्मा भर दी थी। गुलामी की जंजीरें टूट गयीं और भारतीय समाज ने उन्मुक्त आकाश के नीचे आजादी की सांस ले ली थी। इस दौरान उसमें क्या-क्या परिवर्तन आये, अब हम इस पर विचार करेंगे।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज को न हम राजनीति से अलग कर सकते हैं, न संस्कृति से। अतः भारतीय समाज के संदर्भ में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तीनों ही परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों के मूल में भी वायुनिक्ता का पदार्पण हो चुका था। वायुनिक्ता के नाम पर हमने विदेशों की अनुकृति की ओर बिना अपने देश की परिस्थितियों को सोचे-समझे हमने ब्रिटिश और अमेरिकन संविधान को ध्यान में रख कर अपना संविधान बना डाला। यही कारण है कि आज तक जबकि विदेशों के संविधानों का कोई परिवर्तन नहीं हुआ, हमारे विधान में अनेक सुधार हो चुके हैं और होने की सम्भावना है। यह वही कारण हुआ कि हमारा दृष्टि दास होने के कारण बहुत सीमित थी और वही से स्वतन्त्रता के बाद भी हम अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। फिर भी हमने अपना बाहें खोल ली थीं और नये उत्साह से अपने स्वतन्त्र देश की प्रगति के बारे में सोचने लगे थे। भारत-पाक विभाजन से हम थोड़े विचलित तो थे किन्तु साथ ही एक 'नये भारत' का सुखद मानचित्र भी हमारे पास था।

आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद लोगों में अपूर्व उत्साह था। लोग देशप्रेम से जोत-प्रीत

थे और नये-नये उद्योग-धन्ये खोल कर प्रगति के रास्ते पर पूरे विश्वास के साथ चलना चाहते थे । परम्परा से हट कर 'कुछ' नया और कल्याणकारी जाने की भावना लोगों की हिराजों में तेर रहा था । जन-मानस की 'दृष्टि' ही बदल गयी थी । समाचारपत्रों में आये दिन खनात्मक कार्यों के उल्लेख होने लगे - मासुआ-नांगल के बांध, सिर्फन्दरी का कारखाना, सामुदायिक विकास योजनाएं । पंचशील और सह-अस्तित्व के नारे देश में गुंजने लगे । राष्ट्रीय पर्वों का धूम मच गया था ।

यह संभव नहीं था कि अनेक समस्याओं से ग्रस्त वह किसान वर्ग सर्वतोमुखी जागरण काल में नयी करवट न लेता । जमांदारों के विरुद्ध किसानों ने भी अपना आन्दोलन संगठित किया । लेकिन किसानों का इस राजनीतिक चेतना का श्रेय उन्हां को है, किसी भी पाटी तथा प्रमुख नेता को नहीं । स्वतन्त्र प्रवास से ही उन्होंने यह आन्दोलन संगठित किया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लेते रहे ।

मजदूर वर्ग एवं उसकी समस्याएं औद्योगिक प्रवृत्ति की उपज थीं । औद्योगिक मजदूर वर्ग का शोषण ही मार्क्स के दर्शन का आधार था । भारत में औद्योगिक विकास के समानान्तर मजदूर वर्ग तथा उसकी समस्याओं का भी बढ़ोतरी होता गया । मार्क्सवाद का प्रचार होने लगा । साम्यवादी दल ने अखिल भारतीय मजदूर संघ पर आधिपत्य जमा लिया था । मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग का शोषण समाप्त करने के लिये कटिबद्ध हो गया । साम्यवादी इस इनके लिये प्रेरणास्रोत था, जहां मजदूरों का राज्य स्थापित हो चुका था । इस प्रकार पूंजीपतियों के विरुद्ध लड़ताल मजदूरों का मुख्य कार्यक्रम बन गया था । मजदूरों में भी स्वाभिमान जागा था और वह भी अपने-अपने उद्देश्य पूरे करना चाहते थे ।

इस प्रकार अपने गणतन्त्र से भारत में नया आत्मविश्वास जागा । और वह पूरी तत्परता से भविष्य में इस गणतन्त्र को सफल करने के प्रयत्न में लग गया । भारत की जनता को इससे ऊपर उठने का पर्याप्त अवसर मिल रहा था । अतः लोगों ने सहर्ष इसका स्वागत किया और गणतन्त्र दिवस को अपने सांस्कृतिक त्योहारों में से एक मान लिया ।

किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त जो आशा और अपेक्षाएं पनपी थीं सब की सब टूट गईं। कथनी और करनी में बृहद् अंतर रहा। आर्थिकी का विघटन होता गया और लोगों में निराशा और तटस्थता आती गयी। सामाजिक क्रांति के कुछ नारे लगे किन्तु अंततः वह भी स्वार्थ के दलदल में घंसे गये। समूह का कल्याण न देखा जा कर अब 'व्यक्ति' - 'व्यक्ति' का स्वार्थ ही सामने आ रहा था। व्यक्ति 'समूह' से तटस्थ होकर मात्र अपनी ही प्रगति, अपने सुख और स्वार्थ में लिप्त हो गया था। अपने प्रति लिप्त और दूसरों के प्रति निर्लक्ष्य की यह भावना ही राष्ट्रीय एवं सामाजिक भ्रष्टाचार के रूप में परिणत हो गयी।

● राजनीति के बदलते मानदण्ड

स्वाधीनता के उग्र आन्दोलन के बाद भी कांग्रेस सरकार की नीतियों को अब संदेह से देखा जाने लगा। कांग्रेस एक राष्ट्रीय साम्राज्य विरोधी मोर्चा था, इसलिए वामपंथी दल भी उसमें शामिल थे। वे सब क्रमशः कांग्रेस से अलग होते गये। कांग्रेस ने जो जन-आन्दोलन केड़ा, उसे लांगनबंदी से जोड़ कर, किसानों की मांगें शामिल करके, सामंतविरोधी मार्ग पर जागे बढ़ाकर उसने क्रांतिकारी रूप नहीं दिया वरन् उसे क्रांतिकारी बनने से बराबर रोक रखा। कांग्रेस की नीति दौमुखी थी। एक ओर वह अंग्रेजी राज्य और उसके सामन्ती समर्थकों की जड़ काटने में विश्वास न करती थी और दूसरी ओर उन पर दबाव भी डालती थी। दबाव न पड़ने पर यह कांग्रेस समझौते के लिये हाथ बढ़ा देती थी। कांग्रेसी नेताओं ने सन् ४६ के क्रांतिकारी उभार का विरोध किया, सन् ४७ में अंग्रेजों की विभाजन-योजना स्वीकार की। भारत में ब्रिटिश आर्थिक हितों को सुरक्षित रहने दिया। राजनीतिक रूप से भारत को कामनवेल्थ का सदस्य बनाया तब क्या आश्चर्य कि कश्मीर का मामला राष्ट्रसंघ में गया। कश्मीर को लेकर ही भारत-पाक युद्ध हुआ और इस युद्ध में ब्रिटेन और अमेरिका ने चीन समेत पाकिस्तान की हिमायत की। हथियारों से ले कर गैहू तक के लिये भारत अमेरिकियों का मोहताब बना रहा और दिन पर दिन कांग्रेसी सरकार

अमेरिका साम्राज्यवादियों के दबाव में जाकर कमा अवनूत्यन, कमा और कुछ जनता के तिर हानिकार कदम उठाती रही ।

सन् ४७ से पहले कांग्रेस नेतार्जों ने साम्राज्यवादियों से जो समझौते किये थे, उनसे जो सम्बन्ध कायम किये थे, उन्हीं का फल है, भारत पर साम्राज्यवाद का वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक दबाव ।

कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता का विरोध किया किन्तु साम्प्रदायिकता को सबसे ज्यादा बढ़ावा भी व्सा से मिला । साम्प्रदायिकता को वोट के तिर स्वीकार किया गया । फलतः साम्प्रदायिकता अब एक राजनीतिक शक्ति बन गयी । व्सा प्रकार जातीय समस्या भी ज्यों का त्यों बना रहा । पंचवर्षीय योजनाओं से भी बस एक सीमित वर्ग को ही लाभ हुआ । आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रयत्न भी असफल रहे ।

चुनावों में भी कांग्रेस असफल होने लगी । अहिंसा को व्यर्थता और सादा को 'बगुला-भगत' की सफेदी के रूप में देखा जाने लगा । 'गांधी-टोपी' को तरह-तरह के भ्रष्टाचारों और कुकर्मों का प्रतीक मान कर उसे हवा में उड़ाल दिया गया । और गैर कांग्रेसवाद लोगों में आपाद भर गया । कांग्रेस की असफलता से जनता में घनघोर निराशा फैल गयी । नयी-नयी पार्टियां सामने आ रही थीं किन्तु जनता ने उन पर से विश्वास खी दिया था । कांग्रेस की ही भांति जनता को इन पर भी भरोसा नहीं था । कांग्रेस द्वारा दिखाये गये सारे स्वप्नधराशायी हो गये थे और कांग्रेस से बस एक सीमित वर्ग को ही लाभ हुआ था । फलस्वरूप जनता का विश्वास खोकर कांग्रेस क्रमशः क्षीण होती गयी ।

कांग्रेस को हराकर जो गैरकांग्रेसी सरकारें बनीं, उनसे देश को पहले बड़ा आशाएं थीं । कांग्रेस का लूट-लूट से जनता इतना तंग आ गया था कि उसने देश के अधिकांश भागों में कांग्रेस को वोट नहीं दिये । किन्तु कांग्रेस को हराना यह क्रांतिकारी परिवर्तन

भी निराशाजनक रहा । नया सरकार भी उसी 'मिट्टी' का बना था ।
 क्या जनसंघी, क्या समाजवादी, और क्या कम्युनिस्ट सभी में दो जरिजवान या
 बलिदानों थे तो दस वैश्मान और स्वार्थी । दल बदले जाने लगे, ईमान बदले
 जाने लगे । नतीजा यह हुआ कि गैरकग्रेसी सरकारों ने तो कांग्रेस को भी मात कर
 दिया - त्रिम्बेदारी का बात ही व्यर्थ । बस कुर्सी, लाइसेंस, परमिट, पैसा, जुनह,
 टिकट, एक-दूसरे की धुन्काफजीह्त और आपाधापी । अर्थात् जैसे नागनाथ, वैले
 सांपनाथ । लोगों की मनोभावना कुछ ऐसी ही हो गया - कि कोई भी सरकार
 जाये हमें क्या लाभ होना है ? सामान्यतः तो हर दशा में सरकार को स्वयं ही
 होना है ।

लोकतन्त्र बनाम तानाशाह

देशव्यापी निराशा, अनेक पार्टियाँ और मत-वैधिमन्य के कारण सैद्धांतिक रूप से लोक-
 तंत्र का अर्थ था कोई किसी भी 'स्थान' (पोस्ट) पर कार्य कर सकता है पर ऐसा
 नहीं हुआ । नेताओं के भाई-भतीजे ही ऊँचे ऊँचे स्थानों पर लाये गये । लोकतंत्र
 का अर्थ था जनता ही सर्वशक्तिमान है उसी का मत अंतिम है । किन्तु इसके विपरीत
 लोकतंत्र के सिद्धान्त यहाँ भी फेल हुए और सत्ता द्वारा पैसे से वोट खरीदे गये,
 कुर्सियाँ हथियायी गयीं । सबसे निर्धन, निराश और दयनीय यदि कोई बना रहा
 तो बस जनता यानी कि लोकतन्त्र । लोकतन्त्र के नाम पर नेताओं ने जनता को
 धोखा दिया, अपना घर मरा और भूखा और निर्धन जनता को मात्र आश्वासन देते
 रहे, बस ।

सामाजिक स्तर पर भी जनतंत्र अपने वास्तविक रूप में नहीं आ सका । 'व्यक्ति' को
 कोई अधिकार नहीं था । वह आज भी उतना ही अशक्त और निर्बल रहा । बस
 शक्तिवान कोई था तो सत्ताधारी । समर्थ, धनिक और सत्ताधारियों का ही आपा-
 धापी था । सत्ताहान वर्ग वैसा ही सत्ताहीन बना रहा । उसकी कोई प्राप्ति नहीं
 हो सकी । वरन् उसे दबाया ही गया । हुज्जात का भेद भाव भी बना रहा ।
 सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से नारी भी जहाँ का तहाँ ही बनी रही - आज भी
 उसे मात्र घर का शोभा ही माना गया । उसके शील, संकोच और उदारता की दुहाई
 दी गयी और इनके नाम पर उसे 'घर' के 'भीठे और स्वर्गिक कटघरे' में बंद कर

आर्थिक समानता की दृष्टि से भी लोकतंत्र असफल रहा। अधिकारों के साथ-साथ जनता में आर्थिक-समानता भी नहीं आ सकी। ऐसे की दृष्टि से वाज भी यहाँ मध्यवर्ग के वही तीन वर्ग की हुर हैं --

- (१) उच्च मध्यवर्ग
- (२) मध्य-मध्य वर्ग
- (३) निम्न मध्य वर्ग

लोकतंत्र के प्रति यह उदासीनता इसलिये है कि लोग अभी ठीक से इसके महत्व को नहीं समझ सके हैं। वे इसे राजनीतिक अधिकार हथियाने का साधन मात्र समझते हैं। जब चुनाव के दिन आते हैं, तो राजनीतिक पार्टियाँ जनता के सामने आती हैं और उसे फुसला कर वोट ले लेती हैं। इसके बाद वे इसकी चिन्ता नहीं करती कि जनता में लोकतंत्र के प्रति सच्ची वास्था पैदा हो। परिणाम यह होता है कि जनता में लोकतंत्र का पल्ला मजबूती से नहीं जम पाता और क्रांति के सामने लोकतंत्र घुटने टेक देता है।

● मुष्टाचार और मूल्यों का संक्रमण

इन दिनों देश में मुख्य विषय मुष्टाचार का है। मुष्टाचार का रोकथाम के लिए उपाय सुझाने के लिए के० संतानम का अध्यक्षता में नियुक्त का गई समिति ने केन्द्रीय सरकार के अन्तरिम रिपोर्ट दी। इसमें सुझाव था कि सरकारी कर्मचारियों के मुष्टाचार के मामलों का जांच करने के लिए एक स्थायी कमीशन रहना चाहिए... केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और समूचे राज्य के लिए मुष्टाचार निरोध समितियाँ स्थापित करने की सलाह दी।

इन दिनों अराजकता बढ़ती गई। देश कई सण्डों में विभाजित होता गया। हर दिशा में आपाधापी, मुष्टाचार, माई-भतीजावाद और बेहमीनी का राज्य होता गया। ईमानदार, कर्मीनिष्ठ और देश में निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का जाकि रहना कठिन हो गया। यह सब सामाजिक और राजनीतिक चरित्रहीनता एवं अनैतिकता का ही परिणाम था। विज्ञाव्य जनता के क्रोध और आवेश के सूतार पंजों ने चरित्र और नैतिकता को भी दबोच लिया। चारों ओर भयावह और

संक्रासनी स्थिति ही दृष्टिगोचर होती। अराजकता ही घम बन गयी और वही स्वभाव भी।

लड़के, विद्यार्थी, युवक अराजक हो उठे। किसी तरह के नैतिक मूल्य नहीं रह गये। कहीं आस्था नहीं रह गयी। समाज और राजनीति में बस एक ही वस्तु की उपज बराबर होती रही और वह थी - अव्यवस्था, आक्रोश, मूल्यहीनता, अनादर और अनुशासन की अवमानना।

राष्ट्रीय जीवन पर प्रष्टाचार का नागपाश दिनोदिन कसता ही जा रहा है। लोग एक रुपये में सिर्फ ४४ पैसे का काम करना चाहते हैं। और कुछ लोग तो कुछ भी नहीं करना चाहते। यह रोग इतना व्यापक हो गया है कि प्रष्टाचार से अलग राजनीति या प्रशासन का चेहरा दिनोदिन दुर्लभ होता जा रहा है। लगता है कि ऐसे हरेक राजनीतिक झोड़ी पर तराजू टंग गये हैं और आफिस का प्रत्येक फांसी पर मांगने वाले और लूटने वाले हाथ उग जाये हैं। लगता है कि 'राष्ट्रीय घूसखोरी' स्वयं एक पात्र बन गयी है और बड़े गर्व से कह रही है कि 'लोग मुझे नाटक बदनाम करते हैं। मैं तो शासन का 'मोबिल-आर्म्स' हूँ। मैं न रहूँ तो इस देश में राजनीतिक और प्रशासन के सारे यंत्र कड़कड़ा कर बुर-बुर हो जायें।' कल का इतिहासकार वास्तव में इस युग को लोकतन्त्र नहीं, समाजवाद नहीं बरन् राष्ट्रीय प्रष्टाचार-युग का ही नाम देगा।

इस प्रकार भारत के लोकतंत्र जैसे हरेमरे, स्वस्थ धृता पर प्रष्टाचार की अमर बेल फेलती चली गयी। लोकतंत्र केवल-बूते पर ही प्रष्टाचार फनपता रहा और लोकतंत्र धीरे धीरे सूखने लगा। गांधी को देश ने झोड़ दिया और अपनी कोई फिलासफी इसके पास थी नहीं। फलतः मूल्यहीनता का बढ़ना स्वाभाविक था। अफसर, सरकार, लाल-फीताशाही, यानी कि समर्थ और शक्तिवान की घूसखोरी से पूजा की जाने लगी। वार्षिक शोषण सामान्य कार्य बन गया। सत्तालोलुप ने बेहमानी को जन्म दिया। राजनीति भी हुलमुल रही और नेतृत्व भी। हिन्दू-मुस्लिम, तथा अन्य जातियाँ भी अपने-अपने अधिकारों की चर्चा करने लगीं। फिहरे और साधनहीन लोगों ने भी समाज में उच्च वर्ग के समान ही रह सकने के लिए लूट-पाट और डकैती शुरू कर दी।

यह भ्रष्टाचार उच्च स्तर से लेकर निम्न स्तर तक व्याप्त है। पंजाब, बिहार के मुख्य मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार आयोग बिठाए जा चुके हैं। जमा-जमा पंजाब के भूतपूर्व अकाली मन्त्रीमण्डल के मुख्यमन्त्री और दो मन्त्रियों के विरुद्ध केन्द्रिय सरकार जांच कमीशन बिठाने का विचार कर रहा है। एक केन्द्रीय मन्त्री के विरुद्ध भी भ्रष्टाचार का आरोप इसी वर्ष लगाया जा चुका है। अन्धेर की इस स्थिति ने आज एक म्यानक संक्रास का वातावरण बना दिया है। मृत्यों का संक्रमण जिस तेज़ी से इस युग में हो रहा है, उतना कदाचित् किसी युग में नहीं हुआ था। यह भयंकर राजनीतिक अराजकता एवं अव्यवस्था की स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपना, आत्मविश्वास खो बैठा है। अब उसे कोई आश्वासन न तो प्रभावित करता है, न अपने में बांधता है। वह जड़ और निष्क्रिय हो गया है। उसकी आत्मा लुप्त हो गई है। कार्ल मार्क्स के शब्दों में वह केवल मशीन का एक पुर्जा भर बनकर रह गया है।

भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद वाले लोकतंत्र ने मविष्य के माघे पर ऐसी कालिमा पोत दी है कि उसे मिटाने की शक्ति आज के मनुष्य में नहीं रह गई है। जीवन उसके लिए व्यर्थता की परिधि में बंधा हुआ है। मृत्यु-मर्यादा से समाज वंचित हो कर इस कदर सड़ गया है कि उससे दुर्गन्ध आने लगी है। अमरकान्त ने 'इन्टरव्यू' और सुरेश सिनहा ने 'नया जन्म' में इस भयावह स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। हर आदमी योग्य होते हुए भी व्यर्थ और अयोग्य घोषित कर दिया गया है। हर आदमी दूसरे के लिए उपेक्षित और अनाम है। स्वयं के लिए भी उसकी कोई संज्ञा नहीं है। 'नया जन्म' का नायक ठाक कहता है - 'लच्छेदार भाषणों के बजाय जब तक प्रकटित रूप से लोगों की जीने और जागे बढ़ने का समान अधिकार नहीं मिलता, आप देखते रहिए, एक दिन कोई शक्ति सिर उठाएगी और कहने की हमारी मज़बूत और शानदार हेमोक्रेसी का सिर कुचल देगी। यह तारा का महल वास्तविक कब तक सड़ा रहेगा?' यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें 'राजनीतिक

१. नवभारत टाइम्स, दिल्ली, ३० अगस्त १९७१, पृष्ठ १।

२. सुरेश सिनहा : कई जावाजों के बीच (१९६८) इलाहाबाद, पृष्ठ १२१-२२।

शक्तियों, सोसली नेतिकताओं और व्यावसायिकता ने मनुष्य को स्वतन्त्रता को उपहरित कर उसे जेक प्रकार के यन्त्र-तन्त्रों का जड़ अंग बना दिया । सम्बेदनशील व्यक्ति समाज से टूटकर बेगाना और अजनबा हो गया । आज वह गहरी वेदना और अकेलेपन के रेहसास के बाव मर कर जा रहा है । अधिक अच्छा होगा कि यह कहा जाय कि वह जीकर मर रहा है ।^१ लेकिन देश के नित्य नए बनने वाले मंत्रियों, स्वयंसिद्ध नेताओं और अफसरों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगता । वे मुष्टाचार में कल की अपेक्षा आज कहीं अधिक लिप्त हैं । कल शायद आज से भी अधिक लिप्त होंगे और तब समाज की स्थिति क्या होगी, इसका सहज कल्पना की जा सकती है ।

● अंधकारपूर्ण भविष्य और सामाजिक विघटन

स्पष्ट है कि ऊपर जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है, उसमें हमारा कोई भविष्य शेष नहीं रह गया है और समाज निरन्तर विघटित होता जा रहा है । राजनीति ने हमारे राष्ट्रीय चरित्र और विश्वास को इतना सण्डित कर दिया है कि हमारे जीवन में अब कोई आश्वासन महत्वपूर्ण नहीं रह गया है । राजनीतिक मुष्टाचार ने अर्थ व्यवस्था को इतना क्षीण कर दिया है कि मानवीय सम्बन्ध अब केवल स्वार्थपूर्ति की कसोटों पर या सिक्कों में आँके जाते हैं । मनुष्य समाज के लिए अपनी उपयोगिता जैसे ही चुका है, वह तो मात्र मशीन का एक पुर्जा मर रह गया है ।

यदि यह कहा जाए कि आज देश और समाज के नाम पर उत्तरदायित्वहीनता, दिशा-भ्रम, स्थिरता, गतिहीनता, निराशा, नातिपलायन और असन्तोष मात्र शेष रह गया है, तो कोई व्यक्तित्व नहीं होगी । व्यवस्था और सन्तुलन कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता - सामाजिक विघटन का उससे बड़ा प्रमाण और क्या प्रस्तुत किया जा सकता है । बड़े-बड़े नारों, आकर्षक माँगणों तथा झूठे आश्वासनों से किसी समाज

१. डा० बन्जनसिंह : समकालीन साहित्य आलोचना की चुनौती (१९६८) बनारस,

की नहीं संरचना नहीं होता और न देश का नव-निर्माण होता है । देश की ऐसी स्थिति से कभी नए भारतस पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता । यह मृत्यों के घास का ही युग है ।

साधारण वर्ग दिनोंदिन वस्तु और दाने-दाने को मुहताज होता जा रहा है । फुटपार्थों पर हमें व्यक्तियों का लार्शे चक्का हुई दिखता है । वोट मांगने के समय छोड़ कर गद्दीबारी नेता कभी बदमू, सड़ांध और बीमारियों से भरे गांव और बस्तियों में नहीं जाते । बढ़ती हुई निर्धनता से देश में अराजकता फैलने लगी है । लूट-मार, डाकाजनी और आगजनी बढ़ रही है ।

निर्धनता मनुष्य की उस अवस्था का नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फिजूल-खर्ची से वह अपनी तथा अपने आश्रितों की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने उस स्तर को कायम नहीं रख सकता, जिसका समाज के दूसरे लोग उससे आशा करते हैं ।... निर्धनता की असली परत यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जो स्तर उसका होना चाहिए, वह नहीं है । हमारी निर्धनता के कारण अनेक हैं —

- वैयक्तिक असमर्थता
- भौतिक परिस्थिति -- (क) प्राकृतिक पदार्थों का कमी, (ख) ऋतु की प्रतिकूलता, (ग) जीव-जन्तुओं का उत्पात, (घ) प्रकृति का कोप ।
- आर्थिक कारण - निर्धनता का सबसे बड़ा कारण यही है । जन का अव्यवस्थित वितरण । राज के व्यक्ति की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है । इस अव्यवस्था को राज्य ही रोक सकता है ।
- सामाजिक कारण - (क) त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली, (ख) त्रुटिपूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली तथा (ग) त्रुटिपूर्ण मकानों की व्यवस्था । इन तीन कारणों से निर्धनता बढ़ रहा है ।
- युद्ध - निर्धनता का सबसे बड़ा कारण युद्ध है । हम स्वतन्त्रता के बाद दो बड़े युद्ध लड़ चुके हैं - चीन और पाकिस्तान से और अब बंगला देश से बार बार शरणार्थियों का समस्या से जूझ रहे हैं ।

वास्तव में कांग्रेस के स्वतन्त्र से राजनीतिक क्षेत्र में तो मोहमंग हुआ ही सामाजिक क्षेत्र में भी मोहमंग की स्थिति व्याप्त हो गयी थी । आशाएं टूट गयीं और सर्वत्र निराशा एवं कुंठा का साम्राज्य फैल गया ।

लोगों को अब किसी भी वस्तु के प्रति कोई भी मोह नहीं रह गया । दरिद्रता और अभाव के कारण एक कटुता ही चारों तरफ समाज में फैल गयी । लोगों ने एक दूसरे के ऊपर मरोसा करना छोड़ दिया और प्रत्येक प्रकार के मोह से मुक्त हो कर वह समाज के प्रति तटस्थ हो गया । समाज के प्रति उसने अपनी आस्था को खो दिया । उसने समझ लिया कि राष्ट्र, स्वतन्त्रता और समाज उसे कुछ भी नहीं दे सकते । बल्कि पास में जो था वह भी छीन कर उसने लोगों को भूखा, गरीब और नग्न बना दिया । ऐसी स्वतन्त्रता, ऐसे समाज के प्रति मोह कैसा ?

मोहमंग के कारण लोगों ने अपना अपना किनारा अलग कर लिया । व्यक्तिवाद, स्वार्थपरकता, उत्तरदायित्वहीनता और सामाजिक प्रष्टाचार का ही चारों ओर बोलबाला हो गया । समाज में सर्वत्र नितान्त अव्यवस्था फैल गयी । लोगों ने अनुशासन तोड़ दिया - भेदिकता खो दी और आदर्शों को खोखला, सारहीन और मूल्यहीन माना । आदर्श त्याग और देशभक्ति लोगों का न तो अब तक पेट भर सकी थी न उन्हें रहने को मकान और भूमि दे सकी थी और न तन ढंकने के लिये पर्याप्त वस्त्र ही दे सकी थी । बर्न् तुलना में स्वतन्त्रता के पूर्व का वह गुलामी ही लोगों को अच्छी लगा कि खाने को, पहने, पहनने को और रहने को तो कम से कम ठीक से मिलता था । कोई इस तरह लूटने वाला तो नहीं था । स्वतन्त्रता के पूर्व लोगों के जीवन की निश्चितता तो थी और अब तो ठीस चाज़ तो कहीं भी नहीं, कस चारों ओर कार्ल मार्क्स प्रगतिवाद, प्रगतिशील, फ्रायड, युंग जैसे नामों और नारों की भरमार थी । लोगों को खाना और वस्त्र नहीं कस यही खोखली दिमागी चीज़ें ही बेमोल मिल रही थीं । क्रांति के नाम पर स्ट्राइकें, सत्याग्रह, पथराव, तोड़-फोड़ होती और कुछ भी बनने के स्थान पर और नष्ट ही हो जाता ।

घर में पड़ी लिखी नारी और पुरुष में अलग होड़ लगी हुई थी । शिक्षित एवं

स्वयं-अर्जिका नारी भी 'घर' की गुलामी से मुक्त होकर 'बाहर' के विराट् कर्म-क्षेत्र में पूरे आत्मविश्वास से कूद पड़ी थी और तेजी से प्रगति कर रहा थी। बुद्धि, ज्ञान और शिक्षा की दृष्टि से उसने पुरुषों को पीछे छोड़ दिया था और घर से बाहर जाकर उसने हर क्षेत्र में पुरुषों के क्षेत्र में नौकरियां करना शुरू कर दीं और पुरुषों के स्थान लेने लगीं। स्त्रियों के बाहर जाने और नौकरों के क्षेत्र में कूद पड़ने के कारण भी पुरुषों में बेकारी फैलने लगी और साथ ही आत्महीनता की भावना भी। वह स्त्री को आज भी सहगामिनी बनाकर नहीं, अनुगामिनी बनाकर रखना चाहता था और सफल न होने पर कुंठित होता गया।

आर्थिक शक्ती के लिये निम्न और मध्यम वर्ग ने भी अब त्याग, संतोष और आदर्श का पत्ता छोड़ कर क्रांति का सहारा लिया और समाज पर धावा बोल दिया। सभी अपना-अपना हित चाहने लगे। सभी को लगा कि आदर्श और संतोष व्यर्थ है और उन्हें भी संसार की हर सुख-सुविधा भोगने का अधिकार है।

जातिवाद का बोलबाला अलग था। मार्ल-भर्तानावाद अलग चल निकला था। कुर्सी से बिपके रहने की भावना आत्मसंकेन्द्रीय, और आत्म-श्लाघा के कारण पर-कल्याण की भावना बिलकुल ही समाप्त हो गयी और सबके अपने-अपने स्वार्थ सामने आ गये। समाज में चारों ओर बराबरी और असंतोष फैल गया।

● चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण तथा नई पांडों की निष्क्रियता

असंतोष, अभावग्रस्त परिस्थितियों और नपुंसक वृत्ति ने विद्रोह कम फुंकलाहट ही अधिक पैदा की। विद्रोह हुआ भी तो अधिकांशतः मानसिक धरातल पर और बहुत ही निरर्थक सा। तेजी उसमें आ ही नहीं सकी। सघा का भय, विपरीत परिस्थितियों एवं समझौतावादी वृत्ति के कारण ही शायद ऐसा हुआ। विद्रोह भी क्रोध के अभाव में साणिक फुंकलाहट और अविद्रोह बन कर रह गया। अविद्रोह यानी कि स्वभाव में विद्रोह और व्यवहार में समझौता। बिना सोचे-समझे 'ब' की आवाज़ चिन्ता का विषय है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के सारे आदर्श अब ढूँढ़ गये और अधिकाधिक नेता स्वार्थ-पूर्ति के बक्कर में पड़ गये। पंचवर्षीय योजनाओं को बना कर देश की समाजवादी

तक ले जाने के प्रयत्न विफल हुए । क्योंकि कागज पर उतारा गयी योजनाओं और उन्हें क्रियान्वित करने में अंतर होता है । स्वर-कंडीशंड बंगलों में रहते और कारों पर घूमते हुए नेताओं ने जनता को माचणों से ही संतुष्ट करना चाहा । वह टेक्स बढ़ाते गये और जनता को उनका भार सहन करने का उपदेश देते गये । स्वार्थ-पूति, कुनबापरस्ती, गुटबाजी तथा अनुभवहीनता के कारण देश में शोषण का भी अधिक प्रसार होता गया । आपसी मतभेद इतना बढ़ गया है कि स्वयं एक दल के नेता ही एकमत नहीं हो पाते । आज की राजनीति पर जनसंघ के वर्तमान अध्यक्ष के विचार दृष्टव्य हैं -- 'आज की राजनीति विवेकनहीं, वाक्-चातुर्य चाहती है, संयम नहीं, असीमता को प्रोत्साहन देती है ; भय नहीं, प्रेम के पीछे पागल है । मतभेद का समादर करना तो जगह रहा, उसको सहन करने की वृत्ति भी सिं विलुप्त हो रही है । आदर्शवाद का स्थान अवसरवाद ले रहा है । 'बाये ' (लेफ्ट) और 'दाये ' (राइट) का भेद भी व्यक्तिगत अधिक है, विचारगत कम । सब अपनी-अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं - उत्तराधिकार की स्तरंज पर मोहरें बैठाने की चिंता में लगे हैं । सत्ता का संघर्ष प्रतिपक्षियों से ही नहीं, स्वयं अपने ही दलवालों से हो रहा है । पद और प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए जोड़ तोड़, सांठ-गांठ और ठगसुहाती आवश्यक हैं । निमीकता और स्पष्टवादिता स्तर से खाली नहीं है । आत्मा को कुचल कर ही जागे बढ़ा जा सकता है ।'

युग आज राजनीति-प्रधान है । जन-साधारण तक को इसका चस्का लग गया है । व्यक्तिगत राजनीति के कारण समाचारपत्र अब आत्म-विज्ञापन के काम में अधिक जा रहे हैं । संस्कृति और समाज का विकास आज मनुष्य नहीं, सत्ता, शासन और राजनीति के द्वारा होता है । सरकार के आचरण में स्वयं सत्य, अहिंसा व शांति नहीं है । अहिंसा की माला हाथ में होते हुए भी शासक-वर्ग की ओर से निहत्थी जनता पर गोली चल जाती है । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शांति-मार्ग पर चला और युद्ध न करना इस सरकार की नीति नहीं । जहाँ भी प्रतिद्वन्द्वी अपेक्षाकृत दुर्बल प्रतीत हुआ, इस सरकार ने उसके साथ शांति का व्यवहार नहीं किया । गोवा

पर बढ़ाई करना और उसे जीत कर स्वतन्त्र भारत में मिला लेना ज़रूरी था । लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि यह काम शांति पथ पर चल कर नहीं किया गया । तो फिर चीन और पाकिस्तान के मुकाबले पर ही यह शांति की राम-धुन क्यों ? अणु-बम बनाने के विषय में हाँ यह घबराहट और पतायन कैसा ?

किन्तु वस्तुस्थिति अब कुछ सुधरी है । चीन द्वारा दूसरे अणुबम के विस्फोट के बाद से भारत में भी अणुबम बनाने की शुरुआत हो गयी है । भारत को इस दिशा में प्रगति करनी ही चाहिए । वाज भी चीन और पाकिस्तान की ओर से भारत की स्वतंत्रता और अस्तित्व क्षेत्रों में है । ऐसे भारत पर चीन का आक्रमण २० अक्टूबर, सन् १९६२ में हुआ था । यह युद्ध भारत की ग़लत विदेश नीति के कारण हुआ , जिसमें भारत की पूर्ण पराजय हुई - नैतिक शक्ति का ह्रास तो हुआ ही, प्रतिष्ठा, एकता और निर्माण की दृष्टि से भी हमने अपना सब कुछ खो दिया ।

वस्तुतः आपसी फूट के कारण बाहर वालों ने फायदा उठाया । भारत पर चीन का हमला सास मतलब रखता था । यह सरहद्दी फगड़ों का निपटारा नहीं था, चीन की प्रसार-नीति थी । इस प्रसार-नीति और संयोजित हमले ने दक्षिण पूर्वी एशिया के राष्ट्रों की हाल की जीती जाजीदी को क्षेत्रों में डाल दिया । किन्तु चीन जानता था कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत से, विशेष कर एशिया ही नहीं समूचे संसार में तीव्र गति से उठते हुए उसके यान के संदर्भ में, उसे कभी न कभी टकराना होगा । क्योंकि बिना उससे टकराये एशिया की राजनीति की बागडोर उसके हाथ नहीं लौगी । और वह अवसर की ताक में बैठा रहा । अवसर मिलते ही, जब दक्षिण-पूर्वी एशिया और अफ्रीका के नये जाज़ाद हुए देश अपने-अपने राष्ट्र के विकास में फंसे, तब चीन जो स्वयं पिछले प्रायः पंद्रह-बीस वर्षों में सभी प्रकार से अपनी शक्ति बढ़ाता रहा, सहसा भारत पर आ टूटा । किन्तु भारत हमेशा से ही

१. बी० एम० कौल : अनटोल्ड स्टोरी (१९६७), दिल्ली, पृष्ठ १४२ ।

२. मैक्सवेल : इण्डिया चायना वार (१९७०) लन्दन, पृष्ठ ४७ ।

३. जे० पी० दात्वी : हिमालयन बलण्डर (१९६८) दिल्ली,

बेखबर रहा । भारत ने अपने उत्तरी सीमा-क्षेत्र की सीमा-रेखा को सर्वथा सुरक्षित समझ लिया ।^१ उसम की स्थिति दो बबुलों के बीच जैसी हो गयी थी । एक ओर से वह पाकिस्तान से घिरा था और दूसरी ओर से चीन से ।

एशिया और अफ्रीका के लिये चीन का यह हमला एक चेतावनी था । भारत की राजनीति को इसी समय इस तथ्य का ज्ञान हुआ कि एशिया-अफ्रीका की मानसिक एकता एकमात्र प्राप्ति है और बांदुंग की शपथ बोला । बांदुंग की दूसरी शक्तियाँ जहाँ जासा और विश्वास के धोखे में रहीं, वहीं सबसे बड़ी शक्ति चीन जोकि उस पंचशाल की आत्मा और उस सम्मेलन की रीढ़ था, महज फूटी शपथ लेता रहा । सन् १९४९ से ही चीन भारत में 'कम्युनिज्म' ले जाने का स्वप्न देख रहा था - भारत एशिया की महान् कौमों में एक प्रमुख स्थान रखता है । इसका एक लम्बा इतिहास रहा है और यह एक बहुत विस्तृत आबादी का देश है । इस देश का अतीत और भविष्य बहुत कुछ चीन जैसा ही है । स्वतन्त्र चीन की तरह एक दिन भारत भी स्वतंत्र होगा और वह स्वतंत्र साम्यवादी परिवार का अंग होगा ।^२

डा० लोहिया ने इन चीनी हरादों को बखूबी समझा था - जनता को अंदरूनी और बाहरी साम्यवाद के संयुक्त हमले से सावधान रहना होगा । अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद ने हिन्दुस्तान की ज़मीन पर यह पहला सैनिक कदम शायद शक्ति और जनमत के दुर्बल स्थानों का पता लगाने के लिये रखा है । और वह अभी वापस हट जायगा, और उस समय फिर पूरी शक्ति से आया । और वह जब उसके लिये सौभाग्य से राष्ट्रीय साम्यवाद बंगाल, मूटान या पंजाब में केरल की पुनरावृत्ति कर सकने में सफल हो और लोकतंत्र की रक्षा के लिए वह अपने बाहरी साथियों की शुद्ध अंतःकरण से बुला सके ।^३ चीन का विश्वासघात और बर्बरता अब सभी के सामने स्पष्ट थी ।

चीनी आक्रमण के बाद से भारत की स्थिति और भी अधिक शोचनीय हो गयी ।

१. मानकेकर : गिल्टी मेन आफ़ १९६२ (१९६८) दिल्ली, पृष्ठ १६८ ।

२. माओत्से तुंग ; माध्यम, जून १९६६, पृ० ११

३. डा० राममनोहर लोहिया ; भारत, चीन और उत्तरी सीमाएं, पृ० १६२ ।

लड़ने के लिये और उसके बाद भी देश की स्थिति को सम्हालने के लिये उसे विदेशों से बेहिसाब कर्ज लेना पड़ा । भीतर ही भीतर वह सोसता होता गया । विदेशी विनिमय - वन्त, शस्त्रादि के लिये स्वर्ण की इतनी कमी पड़ी कि जन-साधारण के लिये स्वर्ण की मात्रा २४ केरेट से घटाकर चौदह केरेट कर दी गयी ।

वन्त में फिर वही समझौतावादी नीति चली और फूँठ ही भारत एवं चीन के बीच एक समझौता करा दिया गया ।

हिन्दू सम्प्रदायवादियों के कारण कथवा गुलत राजनीति के कारण हिन्दुओं और भारत का बहुत नुकसान हुआ है । पाक-विभाजन का जिम्मेदारी इन्हीं की अधिक मानी जाती है । कश्मीर को लेकर विलय सम्बन्धी पर्यन्तरतम भूल आज भारत की प्रमुख समस्या बन गयी है । तत्काल ही स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी । ६०० के लगभग छोटी रियासतें नासूर की तरह फैली हुई थीं ।

१५ अगस्त १९४७ के बाद जब भारत जम्मू और कश्मीर रियासत के आत्मनिर्णय की प्रतीक्षा कर रहा था, तभी पाकिस्तान द्वारा कश्मीर के महाराजा के साथ हुए समझौते का उल्लंघन करके योजनाबद्ध रूप में घुसपैठियों को उकसा कर सीमाति-क्रमण हुआ । घुसपैठ की यह वारदातें भीषण रूप ले बैठीं ।

आज भी कश्मीर की समस्या हल करने के लिये भारत रास्ते सोज रहा है । कमी यह सोचता है कि कश्मीर के एक वर्ग की मांग को स्वीकार करके जनमत-संग्रह करवाया जाए । पर यह भी उसे सतरनाक लगता है - 'मगर ऐसा करके भारत न केवल कश्मीर की स्थिति को डावांढोल कर देगा बल्कि विभिन्न भागों में पृथक्तावादी तत्वों के लिए भारत संघ से अलग हो जाने का एक स्वर्ण अवसर मिल जायेगा । विघटन का इससे अच्छा मौका और कोई नहीं हो सकता ।'^१ इस प्रक्रिया में शैल अब्दुल्ला की

भूमिका बड़ी मयावह रही है ।^१ उन्होंने एक छोटे से जैल में अपने राजनीतिक जीवन में जितने मुसीबे लगाए हैं, वह वाश्चर्यजनक हैं ।

शेख अब्दुल्ला का भूमिका व दूसरे पाकिस्तान आक्रमण में तो थी ही, वे बाज भी कश्मीर को स्वतन्त्र बनाने का स्वप्न देखते रहते हैं । बंगला देश की पर उनके मौन ने उन्हें स्पष्ट कर दिया है ।^२ फिर भी कुछ लोग उन्हें धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक नेता स्वीकार करने में हिचकते नहीं । १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के पूर्व उनके उत्तेजनात्मक भाषणों को भुलाया नहीं जा सकता ।

पाकिस्तानी शासकों के बरादे पहले जैसे ही घुणित हो जा रहे । युद्ध-विराम स्वीकार करते समय पाकिस्तानी विदेश मन्त्री ने सुरक्षा परिषद को एक जनवरी १९६६ तक कश्मीर-समस्या सुलझाने का धमकी दी, तभी युद्ध-विराम स्वीकार कर लेने के

१. बी० एल० स्मार्त : कश्मीर अवैकस (१९७१) दिल्ली, पृष्ठ १२७ -

"Time was when Pakistan dismissed Abdullah as a 'quibbling', today he is held up in Pakistan as a Patriot fighting against Indian colonialism and imperialism. Not many years ago Abdullah had nothing but praise for India, today he has nothing but censure. Against a claim of absolute freedom to act, as he likes in his relations with India, ridiculing any idea of loyalty, he nevertheless insists that India has certain obligations which she must discharge."

२. वही, पृष्ठ १७८ -

"Nothing has perhaps ever exposed Abdullah so completely as his significant silence even the hijacked plane and the misdeeds of Pakistan Government in East Pakistan ... His pranks may still continue to mislead some misguided individuals in India."

बाद भी २२ सितम्बर को पाकिस्तान ने अमृतसर के बाज़ार पर अत्याधुनिक बमबारी की। जोधपुर के जेल अस्पताल के मरीजों तक पर पाकिस्तानी हवाबाज़ों ने अपनी बादुरी दिखलाई। पाकिस्तान की इन उन्मत्तपूर्ण हरकतों और करतूतों को देख कर ही उस समय के प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने तत्कालीन स्थिति को 'अस्थिरतापूर्ण' कहा।^१ किन्तु भारतीय सेना ने भी हिम्मत नहीं हारी। इसकी शानदार सफलता का प्रतीक हाजीपीर का दर्रा है।

पाकिस्तान ने जो कुछ भी किया वह चीन से प्रेरित होकर ही किया - 'लेकिन पाकिस्तान में जो कुछ हो रहा है उसका संवादन या तो पाकिंगवादी लोगों के हाथ में है या प्रतिक्रियावादी लोगों के हाथ में, जिसमें भारत के प्रति घृणा भी फैलायी जा रही है।'^२

'हिन्दू गाय को पूजते हैं हम उसे खाते हैं' - यह जिन्या का विचार है, जिनकी राजनीति ने पाकिस्तान को जन्म दिया। पाकिस्तान हमारे लिये निरन्तर क़त्ले की बीज रहेगा। क्योंकि यह अड़िबद और बहुत ही पुराने मूल्यों पर विश्वास करने वाला है। अपनी पिछड़ी वैचारिक स्थिति के कारण यह कभी भी आधुनिक मूल्यों में विश्वास करने वाला प्रगतिवादी राष्ट्र नहीं हो सकता। यह परस्पर विरोधी तत्त्वों का ही मिश्रण है -- जाज का पाकिस्तानी जीवन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के ज़बीन पालमेल से ग्रसित है।'^३

युद्ध के दौरान अहिंसा से अलग हट कर हमने निश्चय ही एक अमूल्य वस्तु - आत्म-विश्वास प्राप्त की है। इन दोनों युद्धों में सुरक्षा की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी पूंजी भारत की राष्ट्र-भावना, सिद्ध हुई है। इसका मूल आधार साधारण भारतीय जनता के मनों में हिमालय से समुद्र तक फैले हुए सारे देश के सम्बन्ध में वह मातृत्व और अपनत्व का भाव है जो भाषा, सम्प्रदाय और जाति-पांति के भेद से

१. लालबहादुर शास्त्री : धर्मयुग ; १० अक्टूबर, १९६५ ; पृ० ८

२. पाकिस्तान और हम ; दिनमान ; ३० मार्च १९६६, पृष्ठ ३५।

३. श्रीथ केतर्ड ; पाकिस्तान : एक पोलिटिकल स्टडी (१९५७), लन्दन, बन्तिम

निरपेक्ष है और जिसे भारतीय संस्कृति के सतत प्रवाह और सांस्कृतिक नेताओं और संघटनों ने शताब्दियों के विदेशी राज्यकाल में भी जीवित रखा। दक्षिण के द्रविड़ मुन्नेत्र कवगम से लेकर पंजाब के ज्वाला दल तक सभी भारतीय दलों ने अपने राजनीतिक मतभेद मुलाकर एक स्वर से राष्ट्र-रक्षा के कार्य में अपना सहयोग दिया। राष्ट्र भावना को इसी प्रकृति से ही चीनी जाक्रमण के समय चीनपरस्त कम्युनिस्टों को राष्ट्र विरोधी गतिविधियों पर प्रभावी रोक लग गयी और १९६५ में पाकिस्तानी तत्वों को हल कर पाकिस्तान का तेल नहीं तेल सके। इस प्रकार राष्ट्र केतना का प्रदर्शन सुरक्षा की दृष्टि से भारत का सबसे बड़ा सम्बल सिद्ध हुआ है। इस केतना को लगातार बढ़ाते जाना राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से भारतीय शासन और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संघटनों का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए। इस राष्ट्र केतना का समेकित आधार देशभक्ति की भावना है, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता जैसे पाँचे नारों के प्रति वास्था नहीं है।

जात्मविश्वास के बावजूद इतने कम समय में ही दो-दो युद्धों को केतना हमारी वार्षिक व्यवस्था की नींव हिला गया। ताश्कंद सम्झौते से हमें अपनी वास्था, और शक्ति पर पुनः संदेह होने लगा। महंगाई बढ़ती ही जा रही है, साथ ही वनास्था और असुरक्षा की भावना भी।

● देश की अनिश्चित भुंवली तस्वीर

देश की राजनीति में जायकत जाति का ज्वारबाया हुआ है। जशोभा का ज्वार जाति का यह उमार चुनाव-दर-चुनाव बढ़ता जा रहा है, जैसे सारे देश में, जैसे मध्य देश में, विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में क्योंकि ये प्रदेश देश की राजनीति के हृदयप्रदेश हैं। जाति का ज्वार देश की राजनीतिक कायदा की धमनियों में बह कर हृदय-प्रदेश में फिग रहा है।

वर्ण और जाति का बंटवारा दिव और अदिव की दो कोटियों में करने की बात रही। ऊंची जाति - नीची जाति के पीछे जगड़े-पिण्डे का बोध और व्यवहार ही अधिक रहा है। १९६७ के चुनाव के बाद तथा मध्यावधि चुनाव में तथाकथित

उच्च और निम्न वर्ण के बीच एक मध्यम वर्ण का उदय हुआ है और राजनीति में यह मध्यम वर्ण अवरुद्ध हुआ है। दक्षिण भारत में रेड्डी, कम्मा, मुदालियर, शेट्टी, मेनन, नायर और महाराष्ट्र में मराठों के दृढ़ कुल की तरह उत्तरभारत में अहीर, जाट, कुमाँ, कोमरी जैसी मध्यम वर्ण की जातियों का राजनीतिक बोध और व्यवहार में और महसूस किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में मारताय क्रांति दल की हाल की सफलता के पीछे श्री बरणसिंह के मुख्य मंत्रित्व काल में अर्जित प्रतिष्ठा और फैसे के दल के साथ-साथ मध्यम वर्ण की जातियों का बोध और योग स्पष्ट है। इस प्रकार जाति जाज की राजनीतिक का सबसे बड़ा अकेला कारक है। संख्या के संवाहन का, वोट संवाहन का यह बना बनाया आधार है। मनु महाराज की यह हजारों साल की पाटी है और इनकी सदस्यता जन्म से ही निश्चित है। चुनाव का संत बने ही जातियाँ अपनी-अपनी क्लार में सड़ी हो जाती हैं।

असंतोष के अजदहे जाज प्रत्येक भारतवासी के साने पर लोट रहे हैं और आंदोलनकारी प्रवृत्तियाँ उसमें घर कर गयी हैं। चाहे वह छोटा हो या बड़ा - सभी आंदोलनकारी के रूप में ही सामने आ रहे हैं। इन आंदोलनों में सबसे बड़ा हाथ हमारे नवयुवकों अर्थात् छात्र-वर्ग का है। सबसे अधिक उग्रता इन्हीं असंतुष्ट छात्रों में ही पायी जाती है। अतः पहले इन्हीं के बारे में विचार कर लेना आवश्यक है।

छात्रों की अलग से अपनी कोई समस्या नहीं है। जो समस्या आज पूरे समाज की है लगभग वही समस्याएं सम्पूर्ण छात्रों की भी है। आज जो विधार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जन्मा है। अपने भविष्य की आशा के प्रति उसे अनास्था, आसंका एवं अनिश्चितता दिकती है। देश की निष्प्रयोजन शिक्षा-पद्धति की उपयोगिता पर विधार्थी का विश्वास टिकता ही नहीं। स्वतंत्रता नवीनता के उन्मेष को लेकर आ नहीं सकी। राजनैतिक स्वतन्त्रता मानसिक युक्ति की प्रतीक नहीं बन पायी है। अपनी भाषा को माध्यम स्वीकारने तथा उसे उपयोगी व समर्थ बनाने में माई मती जावाद के कोढ़ से ग्रसित अध्यापक वर्ग करास्ता है। इसलिए इन तमाम विसंगतियों को दूर करने के लिए नयी गठित लोकतांत्रिक संस्कार से हम चाहेंगे कि स्वस्थ शिक्षा के लिये स्वस्थ व निरपेक्ष वातावरण तैयार किया जाये।

लड़के, विद्यार्थी, युवक बराबर हो उठे हैं और इसका कारण है कि जैसा हम आधे दिन बर्बाद और बहस करते हैं, सारे समाज में अनेक तरह का प्रष्टाचार फैला है और किसी तरह के नैतिक मूल्य नहीं रह गये हैं। विद्यार्थियों का आक्रोश समाज की इसी स्थिति की उपज है, प्रतिक्रिया है। ऐसा नहीं कि उनमें किन्हीं मूल्यों का आग्रह है, पर समाज की मूल्यहीनता की उनमें प्रतिक्रिया है। जिसके प्रति वादर, जिसका अनुशासन, जिससे प्रेरणा - उनकी यह समस्या है। देश के बहुवर्जित प्रष्टाचारों को देखकर उन्हें किसी पर भी वास्था नहीं रह गयी है और विद्यार्थियों ने सारी सामाजिक मर्यादाएं समाप्त कर दी हैं। इन्होंने नैपथ्य, मर्यादाहीनता और उच्छ्वसलता का ऐसा वातावरण पैदा कर दिया है, जिसमें समाज को बांकी वाते बन्धवर्ती सूत्रों के हिन्न-भिन्न हो जाने का भय है। करीब-करीब हर साल ही लड़कों के उपद्रव के कारण विश्वविद्यालय बन्द हो जाते हैं।

हर आंदोलन की जड़ में 'यथास्थिति' के प्रति असंतोष होता है, जबकि आज का विद्यार्थी अपने को बेमानी, जड़ कानूनों से बंधा हुआ नहीं देखना चाहता। विद्यार्थी को अपने वातावरण से बिड़ है। घर में अभाव और कालेज में शिक्षाक और अपने बीच वह साहब-नौकर का रिश्ता पाता है। वस यहीं से सारी तोड़-फोड़, पाटीबाजी, या आंदोलन बाजी शुरू हो जाती है। इस प्रकार आज आंदोलन न केवल देशव्यापी ही है बल्कि वह अब विश्वव्यापी हो गया है।

सह सब है कि साम्प्रदायिकता हमें रोजमर्रा के जीवन में नहीं दिखाई देती। फिर भी यह दंगे होते ही हैं। साम्प्रदायिकता का चोर शायद अक्सर की तलाश में रहता है। अक्सर पाने पर ही अपना कार्य करता है। इन आंदोलनों का कारण व्यक्ति के चारों ओर लोटते असंतोष के अजर और अजदेह हा हैं। इनसे अपने के लिए वह इन आंदोलनों की ओर भागता है कि शायद शरण मिल जाए। बहुत कुछ अनिश्चित भोग कर हमारी नयी पीढ़ी विद्रोह और क्रांतिकारी हो उठी है। क्रांति के मूल में जाने पर पता चलता है कि क्रांति वही लोग करते हैं जो संतुष्ट नहीं हैं। जो जिव्दगी को ऐसे ही नहीं स्वीकार करते, जैसा वह आज है। क्रांति जीवन में एक गहरी आकांक्षा है - कुछ नया कर गुजरने की तीव्रच्छा है। भारत की नयी पीढ़ी को मुक्त एक अनगढ़ पत्थर की भांति मिला है जिससे नयी पीढ़ी को तराश कर

नयी नयी मूर्तियाँ ब गढ़नी हैं । इसके लिये क्रांति आवश्यक है किन्तु इसके लिए कोई अच्छा उद्देश्य और निश्चित दिशा अत्यन्त आवश्यक है ।

● ग्रामक सक्ता और स्वार्थपरता का जोखिम दस्तावेज़

माइक्रों, सीटों, टिकों, फण्डों और नारों के चक्कर के बाद भारतीय राजनीति में दल-बदल का चक्कर चला । देश के विधायकों में दल-परिवर्तन की प्रवृत्ति जोरों से बढ़ी । यह दल-बदलाव दो तरह का हुआ । एक सिद्धान्तों के बाजार पर और दूसरा शुद्ध स्वार्थ के बाजार पर । जहाँ तक सिद्धान्तों के अनुसार दल-परिवर्तन का प्रश्न था वह एक अलग चीज़ थी, परन्तु मौसम के अनुसार जब जिसकी शक्ति बढ़ी उसके अनुकूल दल-परिवर्तन की प्रवृत्ति से देश का कोई फायदा न था और जनता के ऊपर भी इसका बुरा असर पड़ा । लोकतांत्रिक नीति के लिये भी यह हानिकारक था । वहीँलिए यह सिक्का चल नहीं सका और दल-बदल की सरकारें बायीं भी और दायीं भी । जगें भी शायद ऐसा ही हो ।

जब भारत जिस कगार पर खड़ा है और भारत की आर्थिक और राजनैतिक समस्याएँ जिस तरह उत्पन्न हो रही हैं, आवश्यकता इस बात की पहले से भी कहीं अधिक है कि कांग्रेस, जिसके ऊपर अभी भी केन्द्रीय नेतृत्व का उत्तरदायित्व है, सभी राजनैतिक दलों से वागुह करे कि सब मिल कर देश के प्रजातन्त्र को स्वस्थ रूप से चलाने के लिये एक बाजार संहिता बनायें । देश में राजनैतिक परम्पराओं को कायम करने के इस बुनियादी प्रश्न पर इस देश के नेतृत्व को चाहे वह किसी भी दल का नेतृत्व हो, एक हो कर फैसला करना चाहिए ।

जब जनसाधारण में उत्थान के प्रति इतना उत्साह और वागुह था तो बौद्धिकों का तो कहना ही क्या था । अपार उत्साह, अपार प्रगति की आकांक्षा । कुछ नया खोज लाने की तीव्र चेष्टा । सन् ५० के कहानीकारों ने प्रवृत्ति रीति त्याग कर नये सिरे से कहानी - लेखन का आंदोलन शुरू किया । साथ ही पुराने कहानीकारों ने इस नवीनता को अपनाने का प्रयत्न किया और समय के साथ चलना चाहता । किन्तु यह सत्य है कि वह अब शिक्षित हो चुके थे और सन् ५० के नये कहानीकारों

जैसी ताज़गी और उत्साह उनके पास नहीं था। फिर भी यशपाल, अज्ञेय, जेनेन्ड, आदि बराबर सक्रिय रहे और स्वातंत्र्योत्तर मूल्यों को उसी भाँति अपनाना बाधा जैसे उस काल के नये उत्साही कहानीकार अपना रहे थे। कमजोर भारती, राजेन्ड यादव, शिवप्रसाद सिंह, मोहन राकेश, माकण्डेय, निर्मल वर्मा आदि ने पुरानी रीति से हट कर कहानी का ज़मीन तोड़ी और नये तरह की कहानियाँ लिखीं। पचास की कवियों ने वस्तुतः कहानी के क्षेत्र में एक नये पय का संधान किया।

कहानियों के क्षेत्र में भी ग्रामों का, जंगलों का, हरिजनों का, वस्तुस्थियों का और 'तुच्छ' का उत्थान हुआ। इन तत्त्वों की दृष्टि मनुष्य को उसके परिवेश में हा वन्वेषित करने की तथा विश्व मानवतावादी एवं कल्याणकारी रही। शिल्प के क्षेत्र में भी नये-नये प्रयोग हुए। भाषा के नये रूप सामने आए। देश के विभिन्न उत्साहकारी आंदोलनों में से 'नयी कहानी आंदोलन' भी एक था।

नयी कहानी के संदर्भ में, 'रस' की नये सिरे से व्याख्या करनी पड़ी। जटिल मनोभावों की अभिव्यक्ति के माध्यम का जटिल हो जाना स्वाभाविक ही था। नयी कहानी पर भी जटिल और दुर्बल होने का तांडन लगा। यहाँ तक कहा गया कि यह कहानियाँ लेखक सिर्फ अपने ही लिए लिखते हैं और नयी कहानी की संप्रेषणीयता? तथा 'नयी कहानी का पाठक कहाँ है?' जैसे सवाल हर पत्रिका में बिखरे मिलते हैं। किन्तु नयी कहानी के पाठक हैं अन्यथा यह आंदोलन कब का समाप्त हो गया होता। यदि दुःख नहीं तो एक बहुमुख पाठक तो कहानीकार के समक्ष कहानी लिखते समय रहता ही है - यह कहा जाता है कि साहित्यकार स्वातंत्र्य सुखाय लिखता है। उसके सामने कोई दृष्टा या पाठक नहीं होता। वस्तुतः ऐसा नहीं होता। इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान के विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह किसी काम को स्वातंत्र्य सुख के लिए कर रहा है तो अज्ञात रूप से उस समय भी उसके सामने एक साक्षी होता है। वह साक्षी कोई व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष न हो, ईश्वर हो या समाज, उसके चित्त में अव्यक्त रूप से यह धारणा रहती है, यह विश्वास रहता है कि यदि यह बात उस बहुमुख साक्षी के सामने जाए तो वह इसको पसन्द करेगा।^१

इस प्रकार नयी कहानी के पास भी सम्प्रेषणीयता की समस्या थी । और बिना पाठकों के निश्चय ही इतना बड़े बान्धोतन का चल पाना बहुत कठिन था । किन्तु किसी साहित्यिकार विशेष की कृति में वहाँ तक ग्राह्यता या प्रेषणीयता होती है जहाँ तक उसका सर्जक अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ पाता है ।

नवलेखन का नया बोध प्रगति के उन चरणों का प्रतीक है, जो परम्परा की यथास्थिति सीलता की रीढ़ता हुआ नयी राहों की खोज में निकलता है । रचना के रुके हुए रथ को धकेलता है तथा दिगुस्त दिशाओं को नये उद्घोषों से प्रतिध्वनित करता है । जेतना करबट बढ़ती है, सीमारं विस्तार पाती हैं । नये जायाम जन्म पाने को छटपटाते हैं और नये शिल्पी की कलम हमारी संस्कारबद्ध प्रकृष्टता को कुदेवती है । यह नवीन बोध अनेक प्रभावों में विभाजित हो कर, अनेक शिराओं में प्रवाहित हो कर तथा अनेक विधाओं में वितरित होकर उतर जाता है । नयी कलम में नये बोध के स्वागत में शब्द-पुष्प बिखेरी हैं और टी० एस० इलियट होता है जो कह देता है -- 'टु बेंज द स्टाइल बाफ़ रॉडिंग हज़ जीनियस ।'^१

इस प्रकार साहित्य में नया केवल अभिव्यंजना के स्तर पर होता है । मानव-बन्धुमति नहीं बढ़ती, उसको सम्प्रेषित करने के माध्यम में, कालगत परिवर्तन होते रहते हैं । नयी कहानी में जिस 'नयी सम्येदना' की बात की गयी, वह वस्तुतः एक नयी अभिव्यंजना प्रणाली ही थी जिसके अन्तर्गत नयी कहानी ने ऊपरी या सतही यथार्थ को इसलिए त्याग दिया था कि बाद में वह उसी 'यथार्थ के धर्म' में प्रवेश कर सके और अपनी 'मनीषा' के अन्तर्सत्य को उजागर कर सके । यह सत्य प्रायः न तो शिव था न सुंदर अर्थात् पारंपरिक आदर्श से बहुत अलग था । मनुष्य के अन्तर्मन में आदर्श के साथ-साथ अनेक प्रकार का विरोध, संघास और क्लेश भी होता है । केवल आदर्श का चित्रण और इन दूसरे तत्वों को झोड़ देना साहित्यिकार के लिए उचित नहीं । इस 'कच्चे मांस' को भी कहानी में ढालना क्लेशाङ्गीकार का धर्म हो जाता है । वरना केवल समाज के आदर्शों के चित्रण से ही कोई समाज से नहीं जुड़ पाता । समाज की गंदगी को चित्रित करने वाला क्लेशाङ्गीकार भी समाज से जुड़ा

हुआ होता है। लेकिन वस्तुतः सफल या असफल उस सीमा तक होता है जहां तक वह अपनी अनुमृतियों के प्रति ईमानदार और आस्थावान होता है।

देश के बौद्धिकों ने वर्तमान कालीन स्थिति को समझा और चाहे वह कविता के क्षेत्र में ही क्यों न थे उन्होंने कहा - 'बाज का संकट यह है कि जहां पुराने मूल्यों पर आस्था नहीं रह गयी है वहां नये मूल्यों का कल्याणकारी रूप - उमर कर सामने नहीं आया है। समाज को उस बात की अपेक्षा साहित्यकारों से है कि इन मूल्यों को निरूपित करें और जीवन में आस्था जागृत करें।'^१

स्वतन्त्रता के पूर्व 'माग्यवाद' का सहारा लेकर सदियों तक भारत ने गुलामी, शोषण और दमन का यातनाएं फेंकी थीं। अंग्रेजों के सामने अपने को 'हीन' समझते रहे थे उन्होंने अब अपने सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को समझा और जातीय अस्तित्व और भविष्य में अपनी आस्था को मिटने से बचाया। अब अपना माग्य बदलने का उत्साह पैदा हुआ था। बाज़ादी ने इसकी संभावना उत्पन्न कर दी थी। राष्ट्र में एक नया लहर उमड़ी थी - परम्परा से द्रोह और अपने अतीत से विच्छेद का तात्पर्य अपने औपनिवेशिक अतीत से, जो केवल आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों में ही ताने-बाने की तरह बुना हुआ नहीं था, बल्कि बौद्धिक चेतना, भाव-बोध और संवेदना को भी अपने रंग में रंग चुका था, विच्छेद करके साहित्य, कला, दर्शन, समाजव्यवस्था, धर्म-सन्त्र जयात् जीवन के हर क्षेत्र में ऐसे विश्व-चेतस, किन्तु राष्ट्रीय अफ़्रीकी, भारतीय या अरब-व्यक्तित्व की शीव और प्रतिफलन था, जिसकी जड़ें अपने जातीय इतिहास की हासो-मुम्ता सामंती परम्परा में नहीं बल्कि मानववादी परम्परा में हों लेकिन जो ज्ञान, विज्ञान और तकनीक की आधुनिकतम उपलब्धियों को आत्मसात् करके प्रगतिशील मानवता के साथ भविष्योन्मुखी हो सके।'^२

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समय से यह प्रश्न हमारे सामने रहा था कि अंग्रेजी प्रभुत्व के बावजूद विश्व मानस के साथ, मौलिक चिन्तन और सृजन के स्तर पर, सम्पर्क कैसे

१. रामधारीसिंह दिनकर : ज्ञानोदय, जनवरी १९६८, पृ० १४२

२. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना, जून ६५, पृ० २

स्थापित किया जाये ? ऐसा सम्पर्क जिसमें दाता-भिक्कु का सम्बन्ध न हो, बल्कि ऐसा बराबरी का सम्बन्ध हो, जिसमें हमारे सुजन और चिन्तन का नवीनीत पश्चिम भी उसी मुक्त हृदय से ग्रहण करे जिस तरह हम पश्चिम के चिन्तन और सुजन को ग्रहण करते आये थे । अब हम समूची विश्व-संस्कृति को अपने विशिष्ट योगदान से समृद्ध करना चाहते थे ।

हमारे यहां एक ओर गांधी और जहिंसा की धूम थी, एक ओर रक्त में राष्ट्रीयता और मानवतावादी चेतना बह रहा था, एक ओर समाजवाद का नारा लग रहा था, और एक ओर विचारों में कामू और सार्त्र का अस्तित्ववाद का दर्शन तेर रहा था - कीर्केगार्ड, यास्पर्स, मार्सेल, नीत्शे आदि के नाम मावातावरण में गूंज रहे थे । मार्क्सवाद और प्रगतिवाद का आन्दोलन भी अपने चरमोत्कर्ष पर था । निरन्तर बदलता हुआ जीवन था । नयी नयी मांगें थीं - मांगें जो भौतिक भी थीं और आत्मिक भी । मनुष्य का गतिशील, आत्म-सजग, सक्रिय मन-चिन्तन और उद्भावना ही इनका उत्तर दे सकती थी ।

लोग परम्परा को कब उतनी ही सीमा तक अपनाना चाहते थे जहां तक वह रुढ़ि न बन जाये - 'गति या प्रवाह परम्परा का आवश्यक गुण है । जहां गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, वहीं सड़न है । उसी को रुढ़ि कहते हैं ।' और लोग गतिरहित नहीं बस गति चाहते थे । शायद केवल प्राति ?

भारतीय मानस में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । - एक नया आशावाद, एक नया उत्साह, एकता और विश्वबंधुत्व की भावना । हमारी संस्कृति के निर्माता - लेखक, कलाकार, शिक्षक व बिना किसी सरकारी आदेश या हस्तक्षेप के, स्वयं अपने अनुभूत उत्साह से लोगों में इन परिवर्तनों और जीवन लक्ष्यों की कल्पना जगाना चाहते थे ।

पुराने साहित्य की सपिक कल्पनावों को कोरी जकवास कहकर यह दावा किया गया कि आपका मनुष्य बरिक्कीन भी है, लघु भी । इसलिए साहित्य में मात्र ,

‘हीरो’, उदात्त, वार जयवा वादश-पुत्र का चित्रण व्यर्थ है। आज के ‘हीरो’ जयवा ‘पात्र’ केवल ऐसे निरीह मानव ही हो सकते हैं जो पैदा होते हैं केवल जीवन पर्यन्त पीड़ा भेड़ते हुए अन्ततः मर जाने को। हर व्यक्ति किसी महत्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं जाता। ऐसे लक्ष्यहीन और पीड़ित, जघ्नु मनुष्यों का कोई उदात्त जीवनादर्श नहीं हो सकता था। यह सब कुछ बुपनाप सहन करते हुए बुपनाप समाप्त हो जाते थे। ऐसे व्यक्तियों को पात्र बनाकर नये कहानीकारों ने इष्टिबद्ध समाज के समस्त सुखमुक्त अपने साहस का परिचय दिया।

000

प्रेमबन्ध के पश्चात् हिन्दी कथा-साहित्य में जेनेन्ड का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जेनेन्ड व्यक्ति के मानसिक ऊहापोह और उसकी गहराइयों की खोज में व्यस्त रहे। उनकी प्रवृत्ति एक दार्शनिक की प्रवृत्ति थी। गांधी जी की भांति वे दुष्ट व्यक्ति से घृणा नहीं करते वरन् उसकी बुराई और दुष्टता की जाँच-बीज करते हैं। ईश्वर पर उनकी अटूट आस्था है, साथ ही आत्ममंथन तथा आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति बड़े प्रबल रूप में है। शुद्ध मनोविज्ञान का प्रवेश वस्तुतः जेनेन्ड से ही हिन्दी कहानी में प्रारम्भ हुआ। मन के बन्दर की गाँठों की खोज, उसे सुलझाने तथा ताना-बानाई-बिखराने का ये जेनेन्ड को ही है। फ्रायड की ‘मनोगुंथियों’ और दमिस्त इच्छाओं का स्वप्न में प्रकाश वाता वात से जेनेन्ड भा इलाबन्ड जोशा की भांति ही प्रभावित थे।

सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, भावात्मक, प्रतीकात्मक, वाध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक - यह सभी कथा-भूमियाँ - जेनेन्ड की कहानियों में भी जा गयी हैं। कहानियों में लेखक का ध्यान घटनाओं के पारंपरिक बाहुल्य का और नहीं वरन् संवेदनात्मक और चिन्तनशील बंशों की ओर अधिक रहता है।

बाहुनबी, पत्नी, पाजेब, वह रानी, दो बिड़ियाँ, नीलम देश की राजकन्या, रत्नप्रभा तथा मामी जेनेन्ड की बहुवर्तित कहानियों में से हैं।

‘नीलम देश की राजकन्या’ तो जेनेन्ड की सर्वाधिक प्रिय कहानी है।^१ उनके अनुसार

यह कहानी किसी बाहरी स्थिति या बोध या मत के लिए नहीं बनी है। वास्तव में उसमें कुछ है ही नहीं। देश है तो नीलम का, कन्या है तो उसके माता-पिता का जामास नहीं है, सहस्रों वर्ष से ऊपर उसे वायु भिती है। उस तरह कुछ भी वास्तविकता वहाँ नहीं है। उस कथा का सारा कलेवर जेनेन्डु के अंतरंग भाव-सूत्रों से बना और बना है। जेनेन्डु ऋद्धा के कायल है और सोचते हैं कि बुद्धि व्यपार सत्य की उपलब्धि में अंत में लंगड़ा ही उहरता है। बुद्धि से की इस सोझित सार्थकता और उसके जागे उसकी व्यर्थता को जतलाने के लिये कहानी लिखी गयी 'व्यर्थ प्रयत्न'। इसी के जोड़ में लगभग साथ-साथ ही बनी यह कहानी, 'नीलम देश की राजकन्या'। 'व्यर्थ प्रयत्न' में 'नकार' है तो नीलमदेश की राजकन्या में 'स्वीकार'। जेनेन्डु जी इस कहानी को अपनी मूलभूत वृत्ति की परिवर्धिका मानते हैं।

कुछ लोगों ने इसे संशय की द्वन्द्वात्मक स्यादवादी कहानी उहराया। अर्थात् 'है भी, और नहीं भी है, शायद नहीं ही है, और शायद है भी, यदि नहीं है तो उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता और यदि है भी तो भी वह अनिर्वचनीय है।' इस प्रकार जो अंतिम सत्य है उसे पा लेना मानो असंभव है। यह कहानी जेनेन्डु की कल्पना का वही नगर है जिससे चलकर वह संशय के सत्य तक पहुँच सकते हैं। यह दूसरी बात है कि हवा में अंगुलियों से बनाया गया उनका यह नगर कोई नगर न होकर, नगर की कल्पना मात्र हो, उसकी रेखाएं घुंर की हों, और हाथ लगते ही पिघल मात्र कर भिटवाती हों, लेकिन वह है कल्पना का नगर और रहेगा कल्पना का। ऐसा नहीं कि नगर वस्तु जगत का यह काल्पनिक निर्माण ही इन कहानियों का दोष है, बल्कि हिन्दी कहानी के विकास को देखा जाये तो जेनेन्डु पहले लेखक होंगे, जिन्होंने अपनी मान्यताओं के लिये कल्पना की एक नयी दुनिया सड़ी की और उसमें रक्त-मांस हीन पात्रों की परहास्यां दिखाकर कथानक का धोला सड़ा किया गया और उसके भीतर से उमरने की चेष्टा की। 'विचारदश' जेनेन्डु को जीवन के प्रति मारी संशय है।

१. जेनेन्डु : कहानी : अनुभव और शिल्प (१९६८), दिल्ली, पृ० ४२।

२. विजयेन्डु स्नातक : कहानी : अनुभव और शिल्प (१९६८) दिल्ली, पृ० १५।

३. मार्कण्डेय : कहानी, वहाँ की : नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति (१९६६),

नामवरसिंह का कहना है कि यह कहानियां चक्कर में डाल देती हैं। यह जेनेन्ड की हिम्मत है, तर्कात्मक है कि जो गुत्थी सुलफ जाती है, उसे वे फिर से उलफा देते हैं। 'नीलमदेश की राजकन्या' का हवाला देकर उन्होंने अपनी बात साबित की है।^१ एक बालोचक का कहना है कि - इनकी (जेनेन्ड की) कहानी की रचना-प्रक्रिया को यदि एक सूत्र में बांधा जाये तो यह कहा जा सकता है कि जेनेन्ड की कहानी प्रायः निबन्धात्मक क्या है या कथात्मक निबन्ध।^२ एक और मत है कि जेनेन्ड की प्रतिमा मार्मिक नहीं, ममी है।^३ इस तरह यह भी कहा जा गया कि इसकी शैली तो है, लेकिन इसमें शील नहीं है य। और इसके साथ यह भी जोड़ा गया कि अज्ञेय का मनोविज्ञान जहां पुस्तकीय है वहां जेनेन्ड का मानवाय है।

'राजकन्या' को किसी का अंतजार है। इसलिए वह अकेली हो गयी है और इस अकेलेपन की मोषण ब्रास में भी वह यह नहीं मानना चाहती कि 'कोई नहीं है।' वह कहती है - जिसके लिये मैं हूँ वह तो है, वह है। नहीं तो मैं नहीं हूँ... तू है। नहीं आया, तो भी तू जा रहा है। तू जाने के लिये नहीं आया है।

'नीलम देश की राजकन्या' में पहले वातावरण का सृजन है, इसके बाद राजकुमारी को सखियां बहलाती हैं, उसके भीतर की आवाज़ विधिक गहराने लगती है, सखियों का लोप होता है, राजकुमारी की स्थिति असहनीय होती है, सखियों के लिए पुकार, जानेवाले के लिए उल्लास, उसका निषेध, अंत में उसका उपलब्धि, और अंतिम वाक्य - 'रानी कीड़ा में मग्न भाव से भाग लेने लगी और अवसाद उसके पास नहीं आया।' - एक सुविज्ञ ने ठीक लिखा है^४ कि यह है मुक्ति का संदेश, अकेलेपन और सुनेपन से मुक्ति का संदेश।

१. नामवरसिंह : हिन्दी कहानी (१९६७), दिल्ली, पृ० ६७

२. डा० इन्दुनाथ मदान : निबन्ध और निबन्ध (१९६८), दिल्ली, पृ० २५१

३. जगदीश पाण्डेय : कहानीकार जेनेन्ड, पृ० ३

४. जेनेन्ड की श्रेष्ठ कहानियां (१९६८), दिल्ली, पृ० १३

५. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६७), दिल्ली, पृ० १००

अंतिम वाक्यों की तरह कहानी की रचना-प्रक्रिया अनेक स्थलों पर अवलूट है। जेनेन्ड फेंटेसी का उपयोग करने में सफल रहे हैं। वह अपनी विधा (ब्रह्मविधा नहीं) को सिखाने के लिये इस माध्यम को अपनाते तो हैं, लेकिन इनकी पकड़ ढीली रह जाती है। यह सवाल उठाना कि वह क्यों इस माध्यम को अपनाते हैं और क्यों नीलम देश इस तरह का है, क्यों राजकुमारी अकेली है, असंगत जान पड़ता है। काफ़ी अगर मुन्गे के माध्यम से फेंटेसी का सार्थक उपयोग कर सकते हैं तो जेनेन्ड को भी इस अधिकार से वंचित करना अनुचित है।

विवारदशी जेनेन्ड को जीवन के प्रति सदैव भारी संशय रहा। 'रत्नप्रभा' जैसी कहानी में वह जिस नारी की कल्पना करते हैं वह लगता है मोम की गुड़िया है। कुल मिलाकर हमें इतना ही मिलता है कि उसके पास मोटर है, शोफर है, महल है और रुपये हैं - वह जमुना जाती है और जाती है और एक किताब बेचने वाले के प्रति सख्त हो जाती है। किन्तु बाद में वह उसे हंटरों से पिटवाती है, फिर उसे घर ले जाती है, नौकर बनाती है और अंत में प्रेम-निवेदन करती है। कथानक जितकुल एक फिल्म की रील जैसा लगता है। 'रत्नप्रभा' के मार्ग में कहीं कोई बाधा नहीं है। वह प्रश्नों की सीमा में जाती ही है और एक कात्पनिक जगत् में मनमाना करती रहती है। इसलिये रत्नप्रभा के बारे में संशय पैदा होता है। जेनेन्ड की कल्पना (रत्नप्रभा) ऐसी ही अवास्तविक और नकली है, जो अपने रचनाचार को एक तरुण दिवा-स्वप्नदशी बालक की बगल में ला बैठाती है।

जहाँ रचना की प्रतिष्ठा में जीवन का सागर नहीं लहराता, वहाँ कल्पना व्यक्ति मन की उड़ानों के पंख पर चढ़ कर कुछ देर चाहे नया बना रह सके, लेकिन अंततः उसे वासी होना ही पड़ेगा और लेखक पुनरावृत्ति के द्वारा रचना प्रक्रिया में एक सेट चरित्रों, एक सेट घटनाओं और सीमित संवेदनाओं का चित्रण बन कर रह जायेगा। फलतः नवानता की सोज में वह बहुत दूर जा सला तो कभी दिक, कभी चांस की सृष्टि करके अपने पाठक को विश्वस्त बनाये रखने का प्रयत्न करेगा। 'पाजेब' और 'अपना पराया' जैसी कहानियों में लेखक इसी आंस-मिचौली वाली पद्धति द्वारा कहानी बुनता है। 'पाजेब' में झूठ-मूठ में आत्मनोविज्ञान का सहारा लेकर बारीकियों में घुस कर, बच्चे को सता कर यह विश्वास दिलाया गया है कि पाजेब बँचकर बच्चे ने फाँग तरीदी है। लेकिन अंत में जेनेन्ड आँसु सौल देते हैं और पाठक

देखता है कि पाजेब तो बुआ की जेब में पड़ी है। 'अपना पराया' में तो यह चांस और भी कच्चे और भी कच्चे और निहायत सतही स्तर पर सामने आता है। जब बच्चों बाद लड़ाई से लौटते हुए सरदार की सराय में अपनी ही पत्नी और बच्चा मिल जाते हैं - उस समय वह उनका स्वप्न देख कर उठा ही होता है। इस तरह जेनेन्ड वस्तुतः आत्मप्रक्षेपण करते हैं।

000

सन् ४७-४८ का समय साहित्य और राजनैतिक जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण था। प्रगतिशील आंदोलन उन दिनों अपने शिखर पर था। डा० रागेय राघव के 'यह ग्वाल्थियर है' तथा कुशनचंदर के 'पेशावर एक्सप्रेस' जैसे रिपोर्ताजों का घूम था। साहित्य में सन् ४५ से ५५ तक का काल प्रगतिशील आंदोलन का काल रहा।

'रक्ताम' और 'नया लून' जैसे प्रगतिशील साप्ताहिक पत्रों का बोलबाला था।^१ यशपाल इस आंदोलन से अभिन्न रूप से संबद्ध रहे। अतः यशपाल की कहानियों के 'मर्म' में जाने के पूर्व प्रगतिवाद वथवा मार्क्सवाद पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

यशपाल प्रगतिशीलता के पक्षपाती हैं। उनके मत से प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग में आने वाली अंधविश्वास, रुढ़िवाद की जड़बनों को दूर करना है। समाज की शोषण के बंधनों से मुक्त करना है।^२ यशपाल ने साहित्य को पुचार का साधन बनाया था। इनके विरित्र मार्क्सवादी विचारधारा के प्रकाशक हैं। वे प्रायः अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। उन्हें वही कहना पड़ता है जो लेखक को कहलाना है। पर यशपाल ने सर्वत्र ही ऐसा नहीं किया है। उनकी अनुभूतियाँ व्यापक और विस्तृत भी हैं। कहीं-कहीं जगह तो विरित्र-चित्रण बहुत ही सजीव हुआ है। यशपाल का प्रयत्न था कि वे सही ज्यों में रुढ़ियों तथा प्राचीन परम्पराओं की बंधी गली में मटकते हुए नर-नारियों को प्रकाश तथा स्वच्छ वायु के

-
१. नरेश मेहता : एक समर्पित महिला (१९७०) कलकत्ता, पृ० ७।
 २. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, पृ० ६८।

बोराहे पर ला सके । जहाँ लोग सुन कर सांस लें और एक नयी जेतना तथा स्फूर्ति का अनुभव करें । यशपाल ने मार्क्सवादी दर्शन को आवाजभूमि लेकर सामाजिक विकृतियों को एक प्रदर्शनी सा सौल दी है, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन की टूटती कड़ियों तथा मानसिक गुत्थियों की अभिव्यक्ति पर्याप्त पटुता से हुई है । उन्होंने अपने साहित्य पर मार्क्सवाद के प्रभाव की घोषणा भी की - "बाज सोलह वर्ष के बाद, साहित्य को सामाजिक समस्याओं के समाधान का साधन बनाने वाले या सामाजिक प्रयोजन से साहित्य का प्रयोग करने वाले, साहित्यिक के गले में प्रगतिशीलता का तौक लटका कर उसकी लिली उड़ा दिए जाने का मय नहीं रहा... बाज का कलाकार मानव पहले है, कला उसकी मानवता का विकास और स्फुरण मात्र है ।" मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टि युग की संक्रांति को हाँ देने थी । यशपाल के समय का यथार्थ अनुभूति और संवेदन को हाँ देने थी, जिसने एक पूरी पीढ़ी को आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक स्तरों पर आक्रांत किया था । यशपाल, अमृतराय, मेरवप्रसाद गुप्त तथा राहुल सांकृत्यायन आदि की इस काल में लिखी गयी कहानियाँ इसा भेगा में जाती हैं ।

यशपाल ने मान्यतारं बदल दीं । सामाजिक यथार्थ के ऊपर पड़ी परत को काटने के लिए उन्होंने ऐसे प्रतीक निर्मित किए, जिनमें ज्येष्ठता तो थी, लेकिन देह और प्राण-शक्ति पर कल्पना हावी होती गयी । पात्र और परिस्थितियाँ मानी हुई और नकली होने लगीं, क्योंकि यशपाल की दृष्टि जीवन के बदलते हुए यथार्थ से नहीं, बल्कि उस पठार से ही टकराती रही, जिसे उन्होंने मनुष्य के यथार्थवादी-बोध के मार्ग में बाधक के रूप में स्वीकार किया था । तनिक ध्यान से देखें, तो साफ़ लगेगा कि यशपाल जीवन के प्रति नहीं, उन बाधाओं के प्रति प्रतिक्रियित हैं जो जीवन के विकास के मार्ग में आ पड़ी हैं । फलतः यशपाल ने जीवन को जिन समस्याओं का चुनाव किया, वे प्रगतिशील तो थीं, लेकिन उनसे कहानी की मूल-प्रकृति पर कोई असर नहीं आया । कल्पना का देह पर जहाँ आदर्शों की सफेद टोपी थी, वहीं अब लाल कर दी गयी । परिणाम यह हुआ कि कहानी न घर की रही, न घाट की । आदर्शवादियों के साथ थोड़ी कल्पनाओं के नकली कथानकों का एक हद तक

मेल इस पाना में था कि कहानी परम्परा से चले जाने वाले पारिवारिक भावुकता-पूर्ण सम्बन्धों का पूरी तरह शोषण करके एक भागा-भागा-सा वातावरण उपस्थित करने में समर्थ था, और इस समय के लेखकों ने शायद इसी कारण परिवार की सीमाओं का जम कर उपयोग भी किया। यशपाल को इन परम्परा-विहित मान्यताओं से विशेष विरोध था, कहानी की मूल धारणा से नहीं, इसलिए जीवन की विषमताओं में उभरने वाले यथार्थ चरित्रों की सृष्टि उनके लिये संभव नहीं हो सकी।

कुल मिला कर यशपाल की रचना दृष्टि के विकास का एक स्पष्ट और सहज तर्क है। युवा अवस्था में जिस क्रांति की चेष्टा देश के नवयुवकों ने बिना यह सोचे की कि देश क्रांति के लिए तैयार है क्या नहीं, उसका उतर उन्हें यह मिला, कि क्रांति के रास्ते में बाधाएं थीं, कुसंस्कार और धार्मिक अंधविश्वास थे। बिना उन्हें हटाने मनुष्य को बिना उसके आर्थिक, सामाजिक परिवेश के प्रति संवेत किये क्रांति संभव नहीं है। उतर नया नहीं था लेकिन यशपाल इसी को लेकर साहित्य में आ गये। प्रश्न और प्रश्न का सन्दर्भ जीवन वहाँ छूट गया, जहाँ था। वे प्रश्नों को ले कर आये होते, तो खुद जीवन और उसकी सारी परिस्थितियाँ और परिवेश भी उनके साथ आ जाते। लेकिन जीवन स्वयं नहीं आता, वह बुलाता है और रचनाकार के लिये निकल बन जाता है। अपने को कस और पास लेने का काम भी उसी पर छोड़ देता है।

कुछ लोगों का कथन है कि यशपाल जीवन की वास्तविकताओं के बुद्धिवादी व्याख्याता हैं, इसलिए उनके चरित्र कठपुतलियों की भाँति लगते हैं। 'पहाड़ की स्मृति' की पहाड़िन, 'धर्मयुद्ध' के कर्क कन्हैयालाल, 'जातिशा' के कर्क रामशरण, 'अपनी अपनी जिम्मेवारी' की साधारण मध्यमवर्गीय कन्या प्रभा, 'हलाल का टुकड़ा' के देशप्रेमी राबत और 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुंदर हूँ' की जाय रोग से ग्रस्त माया, और जाने कितने ऐसे ही चरित्र हैं, जो रचना के स्तर पर कल्पना की बेजोड़ मिसाल हैं, यशपाल किसी भी पात्र के हाथ में एक परिवय-पत्र थमा कर, उससे अपना काम निकलवा लेते हैं। यशपाल ने हिन्दी पाठक की शिक्षा दाज्ञा को देखते हुए अपनी बातें कहने का एक वासान तरीका अपनाया था जोकि कला की दृष्टि से उचित

नहीं था किन्तु साथ ही उन्होंने गुलामी, अशिक्षा और अंधकार की रात में अमूर्त और आदर्शवाक्य-सी लगने वाली प्रगतिशील मान्यताओं को कात्पनिक कथानकों का जामा पहना कर पाठक की उदासीनता की सतह तोड़ी। उसे सजग और सचेत रहने का आचार प्रदान किया।

इनकी कहानियों का शिल्प निबन्ध जैसा ही हो जाना बहुत स्वाभाविक था क्योंकि हर पात्र की व्याख्या करने के लिए लेखक उसके पाँखों तुरन्त तैयार सड़ा मिलता है। मूमिका स्वल्प उन्होंने लम्बे-लम्बे उद्धरणों द्वारा पहले कहानी का पूरा पट-निर्देश प्रस्तुत किया है तत्पश्चात् चरित्र की पूरा जानकारी के पश्चात् किसी एक कोने से कहानी उठती है और प्रस्तुत पट-निर्देश के अनुस्यू आगे बढ़ने लगती है। पात्र के निजी जीवन के लिये यशपाल के यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसलिए कथोपकथन भाषा अथवा प्रासंगिक वर्णनों में किसी प्रकार की यथार्थगत भिन्नता की आवश्यकता स्वभावतः समाप्त हो जाती है। यशपाल ने सुजन में अपने को लोया नहीं है इसीलिए कहानी वे स्वयं कहते हैं और आवश्यकता पड़ते ही काव्यमय उपमानों की कड़ी लगा देते हैं। पात्र गौण हो जाते हैं।

यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टि से एक के बाद एक सशक्त कहानियाँ लिखीं। उन्होंने समाज के परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों के विरुद्ध व्यंग्य और युक्ति के हथियारों से तीखे प्रहार किये। जिस निमीकता से उन्होंने वगैरी राज्य के सिलाफ 'साग' जैसी कहानियाँ लिखीं, उसी निमीकता से धर्म और पुरानी नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध 'मनु की लामे', 'धर्म रक्षा', 'पानदान', 'प्रतिष्ठा का बोध', 'दूसरी नाक' इत्यादि भी। आर्य समाजी उत्साह के साथ उन्होंने व्यवस्था, जाति, 'पैसा, कुसी' के आचार पर छोटे-बड़े का मेद भाव करने वाली 'नीतिकता की आलोचना की, शोषक और मुनाफाखोरी की संस्कृति का पदार्फाश किया, मध्यवर्गीय सम्मान-मूल्यों और बाढम्बरों की शत्य-विकित्सा की। कहानी लेखन के क्षेत्र में उसकी विविधता और निरन्तर गतिशीलता सचमुच आश्चर्यवर्क करने वाली है।

'पराया सुन' के साधारण पड़े-लिखे ठेकेदार सेठी को बच्चे के साथ प्लेटफार्म पर घूमती उर्मिला का जीवन 'एक सजल मेघ की माँति लगा, जो बारस कर फसल से

मेरे श्यामल सैत पर झा रहा था । उस बालक की छोटी-छोटी गुदगुदी टांगें, लटपटी बाल, मां की अंगुली से लटके-लटके बलना, मां की सन्तुष्ट, गंभीर और स्थिर गति वाणिज्य से लदी हुई नौका की भांति थी, जो प्रवाह में गंभीर बाल से बड़ी जाती है ।

ऐसे ही कितने काव्यमय प्रसंग यज्ञपाल की कहानियों में यत्र-तत्र बिखरे हैं । ऐसा लगता है, जैसे संस्कृत की भावोच्चासमयी शैली का प्रभाव उनकी अंतश्चेतना पर कहां अंकित है । अपनी कलात्मक कारणाजों में भी वह वहीं से प्रभावित लगते हैं । परम्परागत कथानकों एवं पात्रों को अपनी मान्यताओं के अनुरूप प्रस्तुत करके, उन्हें अपने व्यक्तिगत सौन्दर्य-बोध से अनुप्राणित करने वाला हमारा प्राचीन साहित्य नहीं यथार्थवादी धारणाओं से मूलतः भिन्न है । स्पष्टतः जहां यथार्थवादी मान्यताओं, सामान्य जीवन के अन्तर्भाग से सत्यों के सौज का मांग करती है, वहीं हमारा प्राचीन साहित्य वैयक्तिक साधना अथवा आदर्शों से प्राप्त भैतिक मूल्यों के द्वारा जीवन का माध्य उपस्थित करता है । पंक्तंत्र की कहानियों में वर्णित जीवन का कोई महत्व नहीं, महत्व है उन नतीजों का, जो इन कहानियों के नीति कुशल लेखक श्रोताओं की मलाई के लिए निकालते हैं । अंतर सिर्फ इतना है कि पशु-पक्षियों का माध्यम अपना कर वे जहां शिल्पगत कुशला का परिचय देते हैं, वहीं यज्ञपाल आदमी की काल्पनिक कहानियां कह कर सामान्य यथार्थ जीवन के मनोविज्ञान के प्रति अपनी उदासीनता-सी प्रकट करते हैं ।

‘चौरासी लाख जोनि’ जैसी कहानी में जब वे गंडाराम और उनकी बहू की कल्पना करते हैं, तो इसलिये नहीं कि वे इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है ? बल्कि इसलिये कि वे एक दिर हुर और बार-बार के दिर उत्तर की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । आत्मा चौरासी लाख योनियों में कहीं भी फटक कर पड़ सकती है । वह स्थितियों का निरूपण करके दिखा देते हैं -- ‘माई, यही क्यों मान लो कि इस कुतिया की पिछ्छी में ही गंडाराम की मां की आत्मा वा बसी ?’ और तर्क को तनिक और सोंच कर कुतिया के पास कुंघे को बुलाते हैं, और यह स्पष्ट कर देते हैं कि वास्तविक वह कुंघा गंडाराम का पिता क्यों नहीं हो सकता ?

इस प्रकार यशपाल की अधिकांश कहानियों की रचना-प्रक्रिया तो विन्तन के घरातल पर है, किन्तु कुछ कहानियों का सृजन सम्बेदना के स्तर पर हुआ है। 'होली नहीं सेलता' (१९४३), 'पराया सुत' (१९४३ या ४४), 'वान हिण्डनबर्ग' (१९४६), 'जिम्मेवारी' (१९४६) तथा 'चित्र का शार्क' (१९४२) आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। वास्तव में यशपाल के मुनि (विन्तन) और उनके क्रांति (सृजन) में परस्पर विरोध की स्थिति है। उनका मुनि इनके क्रांति से अधिक सशक्त है और प्रायः ही इनके क्रांति पर हावी रहता है।^१ कुछ कहानियाँ पहाड़ी जावन से सम्बद्ध हैं - 'उत्तराधिकारी' (१९५९), 'एक सिगरेट' आदि।

'होली नहीं सेलता' कहाना में मिस्टर कपूर और ज्योत्सना के दाम्पत्य जीवन में प्रोफेसर बेजल का जाना स्थिति में तनाव पैदा कर देता है, और सम्बन्धों में जटिलता ला देता है। इस जटिलता का चित्रण पेनी दृष्टि से किया गया है। बेजल के रोमांटिक बोध का मोहभंग अन्त में किस तरह होता है इसे 'होली न सेलने' के माध्यम से व्यक्त किया गया है। ज्योत्सना 'स्वीकृति और अस्वीकृति' में डोलती रहती है। 'क्या स्त्री-पुरुष की सम्पत्ति है?' का उत्तर बेजल 'हाँ' में देता है। ज्योत्सना को इससे गहरी ठेस लगती है। इस कहानी में स्त्री का पुरुष की सम्पत्ति होने का विरोध किया गया है। ज्योत्सना और बेजल के बीच में चलते वातावरण में कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार भी है।

कहानी के अंत में बेजल जब नहा कर गुसलखाने से निकलता है तो कपूर दम्पति वहाँ से जा चुके थे और उनका नौकर विस्मित और उनका नौकर विस्मित और भयभीत भाव लेकर एक ओर लड़ा था। तब से बेजल होली नहीं सेलता - - इसमें ही कहानी का मूल सार है।

'पराया सुत' की प्रेरणा के बारे में लेखक का कथन है कि यह उन्हें जेल में मिली थी। इस कहानी में एक विचार को निरूपित करने के लिए उसके चारों ओर पात्रों और स्थितियों को घुमाया गया है। इनमें सम्बन्ध आंतरिक न होकर बाह्य है।

जो कहानी के कथ्य को समेटे हुए है। यह कहना कि 'उर्मिला के वांतरिक डन्ड को लकवा मार गया है' गलत है। इस तरह पात्रों के बारे में यह कहना भी असंगत है कि वे गतिशील क्यों नहीं हैं, साने में क्यों डले हुए हैं ?

'वान हिण्डन बर्ग' (१९४५) एक संश्लिष्ट रचना है जिसमें बहुत कम दरारें हैं। यह उस व्यक्ति का चित्र है जो एक स्कूल के अहाते में मात्र माली न होकर सुनामा का संरक्षक भी है। वह स्कूल की हेडमिस्ट्रेस है - एक विधवा जिसका न तो ससुराल है और न ही उसका मायका। 'वान हिण्डन बर्ग' जर्मन सेनानायक का नाम है, जिसे बूढ़े माली के लिए चुना गया है और जिससे लेखक की व्यंग्यात्मक दृष्टि का भी संकेत मिल जाता है। वह सुनामा का अभिभावक होने के कारण स्कूल-कमेटी के सेक्रेटरी का अपमान करने के लिये, इसलिए विवश हो जाता है कि वह सुनामा को अनुचित ढंग से लंग करने पर उतर जाया है। सुनामा को सेक्रेटरी के आदेश पर बूढ़े माली को नौकरी से हटाना पड़ता है। इससे दोनों की क्तिनी गहरी ठेस लगती है। इसका परिचय पूरी कहानी की रचना-प्रक्रिया से मिल जाता है। बूढ़े, लंगड़े सेनानायक के चित्रण में अतिरंजना नहीं है। व्यंग्य का फुट कहानी को मार्मिक भी बनाता है।

'चित्र का शीर्षक' (१९५२) का रचना विधान संश्लिष्ट तथा गुंफित है। इसमें यशपाल का चिन्तक गौण पड़ गया है और सर्जक की सृजन का पूरा-पूरा अवसर मिला है। इसमें भी एक विचार को केन्द्रित किया गया है, लेकिन इसकी अभिव्यक्ति चिन्तन के घरातल पर न हो कर सम्वेदना के स्तर पर हुई है। एक चित्र के लिए शीर्षक की सोच है। और इससे भी कहानी के सृजनात्मक स्तर का परिचय मिल जाता है - सृजन की पीड़ा।

यशपाल की बुद्धि निश्चयात्मक है, इसलिए रचना-विधान की रेखाएं निश्चित हैं। संकेत शैली को उन्होंने उचित नहीं समझा - क्योंकि वह बात को स्पष्ट कहना चाहते थे। वस्तु - उन्होंने व्यंजना, लक्षणा की अपेक्षा अभिवा से अधिक काम लिया। इनकी कुछ कहानियों में जीवन का महत्व बहुत गहराई से चित्रित हुआ है। अतः मार्कण्डेय का यह कहना कि 'जीवन की वास्तविकताएं उनसे कब की छूट

चुकी हैं^१ आरोपण ही जगता है। यशपाल की दृष्टि ने 'प्रेमचन्दाय-वादश' से उबर कर आदमी पर शोषण के सोल को पहचाना और शोषण की शक्तियों को निष्कट से जानने का सफल प्रयास किया।

अज्ञेय ने स्वयं अपने विषय में लिखा है^२ कि अज्ञेय की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है। व्यक्ति के स्वभाव और कर्म प्रेरणाओं का सूक्ष्म विश्लेषण को सामाजिक दृष्टि के चोखे में रख कर देखते हैं, तो 'अज्ञेय' का भुकाव बुनियादी नैतिक मूल्यों की ओर रहता है - बलिष्ठ वाध्यात्मिक मूल्यों की ओर भी। सामाजिक वैषम्य और संघर्षों का चित्रण उनकी कहानियों में होता है, अन्याय के प्रति विद्रोह का स्वर भी कई कहानियों में प्रकट है, पर कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' की दृष्टि मूलतया कवि की दृष्टि है। सामाजिक संघर्षों के व्यक्तिगत पहलुओं को ही वह अपना विषय बनाते हैं। उनकी कहानियों की संख्या अपेक्षाया कम होते हुए भी उनमें स्प-विधान की दृष्टि से असाधारण-वैविध्य और शिल्पगत सफाई पायी जाती है। 'अज्ञेय' के गप का अपना अलग ढंग है, जैसे कि जेनेन्द्रकुमार का भी है। जेनेन्द्र कुमार की भाषा में एक अटपटा मोलापन है जो अनुकूल स्थलों में बड़ा मोहक मालूम होता है, पर कहीं-कहीं बहुत बेमेल हो जाता है और व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण बनावटी जान पड़ता है। - यों सहज तो वह कदाचित् होता ही है। 'अज्ञेय' की भाषा सर्वत्र संयत रहती हुई विषय और वस्तु के साथ काफी बदलती रहती है। काव्यमयी वह नहीं होती, पर उसका एक अपना झन्ड रहता है : उसमें गप की लयमयता के उदाहरण मिल सकते हैं। अज्ञेय के इस कथन पर डॉ० स्व० तारेंस का एक वाक्य आता है कि - 'कहानी का विश्वास करो, कहानीकार का नहीं।'

अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्तिगत पहलु को अपनी कला का केन्द्र बनाकर सब तरह की कहानियाँ लिखीं। अज्ञेय ने अपने समय के यथार्थ को जाग्रहहीन दृष्टि से लिया है। उनकी 'रोज' कहानी उस जाण और दृष्टि की कहानी है, जब लेखक अपने आप और

१. मार्कण्डेय : नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ० ३०

२. सच्चिदानन्द वात्स्यायन, हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य (१९६८), दिल्ली, पृ० १०७-१०८।

अपने आसपास के आदशों^१ से उठकर व्यर्थ को निहायत निर्व्ययक्तता के साथ उतार सका है, उसे अपनी सम्येदना का बंग बनाकर सम्प्रेषित कर सका है। दुःखा लोगों की दयनीय स्थिति पर आसू बहाते हुए भावुकता से नहीं, भावात्मक सम्येदना के संस्पर्श-क्षणों में सवार को देख और लिख सका है।

जैनेन्द्र, और ब्रजेश की कहानियों में व्यक्ति ही इतना महान्, सारी शंकाओं-प्रश्नों से ऊपर था कि अपनी हर 'व्यक्तिगत' अनुमति को वह महत्वपूर्ण मानता था। इसलिए वही उसे प्रामाणिक भी लगती थी। अपने व्यक्तिगत मूड्स को इम्प्रेशन को ही वह कहानी का वातावरण बनाकर चला देते थे और यह 'वातावरण' उस अनुमति को एक रहस्यमय अन्ध ज्योतिर्बल्य से मण्डित कर देते थे... कहानी तब मुक्त आसंगों - फ्री स्कोपियेशन्स - की बेतना-प्रवाह शैली में उतारा गया, मूड का चित्र ही होती थी। दूसरे शब्दों में अवतन का रिपोर्ताज, या मनोविश्लेषणात्मक मंगिमा में लिखा गया मनःस्थिति का संस्मरण ये लेखक, सामाजिक-घटनाओं के रिपोर्ताज या परिस्थितियों के संस्मरण लिखने वालों से अपने को अलग और ऊंचा रखते थे। कहानी के रूपगत जड़ता को तोड़ने और उसे मुक्त सहज-प्रवाही बनाने में इस शैली ने ही महत्वपूर्ण योग दिया। लेकिन इसमें न कोई अर्थ पाने का आग्रह था, न दृष्टि सौजन्य का। वह एक ऐसा प्रवाह था जिसे जब चाहें काटा जा सकता था और जब चाहें, बहता रह सकता था।

युद्ध और उथल-पुथल के दिनों में जहाँ जीवन की और सारा मूल्य-मान्यताएं टूटें, वहीं कहानी की रूपगत जड़ता (या एक्जैक्टनेस) को आंतरिक स्तर पर सुर-रियलिस्टिक धारा के इन बेतना प्रवाही लेखकों ने आमूल तोड़ा।

ब्रजेश ने एक डूढ़, निमीक, जड़िग और आयावर नायक ही हिन्दी कहानी को नहीं दिया, उसके विशिष्ट व्यक्तित्व के अनुरूप भाषा को संयत गरिमा, शैली को परिष्कृत मंगिमा, शब्दों को सूक्ष्म अर्थ-संस्कार और शिल्प को गंभीर सार्थक तराश दी है। उनके एक-एक शब्द, यहाँ तक कि विराम चिन्ह, एक पंक्ति और एक स्थिति को हथर से उबर नहीं किया जा सकता। उनकी कहानियों का विकास, प्रौढ़तर मस्तिष्क की

जीवन को अधिक से अधिक गहराई से जानने, समझने और अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया का लेखा है। मन के जटिलतम स्तरों, संश्लिष्ट मनोभावों को भाषा द्वारा सम्प्रेषित करने के प्रयत्न में उन्होंने उसे विलक्षण अभिव्यंजना दी है। प्रारंभ की कहानियाँ क्रमशः ताव-पुसर बौद्धिक जिज्ञासा में विकसित होती जाती हैं, इसलिए अंजय की बाद की कहानियाँ बुनावट में अधिकधिक जटिल हो जाता गया हैं और बिना एक विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर पहुँचे उनका रस लेना संभव नहीं है।^१ इनको समझने या साधारणीकरण के लिये विद्वान् और जागरूक पाठक की अपेक्षा है, साधारण कहानी पाठक की नहीं।^२

‘शरणाधी’ और ‘जयदोल’ की कहानियों में एक विचित्र रीतापन है। ‘शरणाधी’ की भूमिका में अंजय ने लिखा था - मेरा बागृह रहा है कि लेखक अपना अनुभूत ही लिखे, जो अनुभूत नहीं है, कोरी सैद्धांतिक प्रेरणा के वशीभूत हो कर उसे लिखना कृपा-शोध हो सकता है, साहित्यिक सिद्धि नहीं। कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है और निस्सन्देह उसका समाज के प्रति भी दायित्व है, जो व्यक्ति और समाज पर पड़ड़ा सड़ा करते हैं वे बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है। किसी एक दायित्व को लेकर शेष कर्तव्यों की उपेक्षा करना पथभ्रान्त होना ही है। एक आलोचक के अनुसार ‘सचार्थ यह है कि इन कहानियों में वे न व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी हैं और न कला के प्रति। समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व दिखाई पड़ता है, वह बहुत कुछ जोड़ा हुआ है। क्या साहित्य में कविता की अपेक्षा अहं का विसर्जन अधिक जरूरी है। पर इसमें तो न अहं है और न उसका विसर्जन।’^३ और जबकि अपने ‘अहं’ के विषय में अंजय का कहना था कि वह उसे विसर्जित अर्थात् ‘पंक्ति’ को दे देना चाहते हैं --

‘यह दीप अकेला गर्व भरा मदमाता
इसे भी पंक्ति को दे दो।’

१. डा० लक्ष्मीनारायण लाल : हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास (उलाहाबाद), पृ० २६७।

२. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना की चुनौती (१९६८) बनारस, पृ० १०८।

यह सही है कि अज्ञेय की कहानी में आंतरिक जटिलता को जब पकड़ने का प्रयत्न किया गया है तो इसकी रचना-प्रक्रिया थोड़े पेंच पड़ जाते हैं, उत्पन्नाव पैदा हो जाते हैं। इनकी कहानियों में आंतरिक संगठन अपने 'चरम' विकास को झूता है। 'रोज़' एक ऐसी ही संश्लिष्ट रचना है। 'रोज़' अथवा 'गेंगीन' में विषाद की गहरी छाया है। बोरियत का दमघोंट वातावरण है। - दोपहर में सुने आंगन में घेर रखे ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उस पर किसी शाप की छाया मंडरा रही हो। यह छाया कहानी में बारंबार मंडराती रही है, और बेकसी के नये आग्रह सुनते रहे हैं। मालती का जीवन, मालती का परिवेश ऐसा ही है। महेश्वर डाक्टर हैं और गेंगीन का इलाज करते हैं। पांव में कांटे का चुमन इस रोग को जन्म दे सकती है। क्या मालती को भी कांटा चुम गया है अथवा घुन लग गया है, इसका उत्तर कहानी से ही मिलता है। एक ओर शब्द जिसे कहानी में बार-बार दोहराया गया है वह 'रोज़' है। रोज़ ही महेश्वर देर से जाते हैं, रोज़ ही दोपहर को नल में पानी बन्द हो जाता है, रोज़ ही मालती को खाना खाने में बड़ी देर हो जाती है, रोज़ ही वह पति से बीमारी का बार्ते सुनती है, रोज़ ही शिशु साट से गिर पड़ता है, रोज़ ही वे गर्मी में भीतर सोते हैं - रोज़ की यह जिन्दगी कितना उदासी ले जाती है, कितनी ऊब, कितनी स्करसता और अंततः शाप की छाया विषाद को कितना और घना कर जाती है इसे कहानी पढ़ कर ही जाना जा सकता है।

व्यक्तिमन की अपूर्व इच्छाओं के कारण उसमें जो कुंठा उत्पन्न हो जाती है तथा जिसके कारण वह यत्किंचित उच्छ्वसल और असामाजिक हो जाता है इस मानसिक प्रक्रिया का अत्यन्त प्रभावोत्पादक अंकन अज्ञेय ने शरणार्थी समस्या से सम्बन्धित कहानियों में किया है। अन्य कहानियों में इस दृष्टि से 'परम्परा' और 'जयदोल' विशिष्ट रचनाएँ हैं - मनोविज्ञानिकता के दृष्टिकोण से 'परम्परा' और जयदोल कहानियाँ हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तुएँ हैं।

१. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी : पृ० १०३

२. डा० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (पृ० सं०) इलाहाबाद, पृ० १६३।

‘पुरुष का माग्य’ नायक कहानी में एक ऐसी स्त्री का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया जो मात्र इतने से संयोग से ही अत्यन्त विचलित और उद्वेलित हो जाती है कि उसका पैर एक बच्चे के पैरों की गीली हॉप पर पड़ जाता है। इस नगण्य घटना से प्रतिमा इतनी अधिक विचलित क्यों उठती है, इसकी परीक्षा करने पर प्रतिमा के विगत जीवन में एक ग्रंथ (कम्पलेक्स) पायी जाती है - उसके पति को क्रांति के अपराध में फाँसी दी गयी थी - तथा उसे भी बंदिनी बना दिया गया था। उसी बंदा जीवन में शिशु का जन्म हुआ और शिशु को उससे हीन भी लिया गया। तब से उसके मानस में उसी शिशु जो कि उसके पति का प्रतिरूप था - की सृज प्रारंभ की। अपनी उसी ग्रथित (कम्पलेक्स) मनःस्थिति के संदर्भ में वह किसी बच्चे के पैरों की हॉप का स्पर्श करके इतनी अधिक विचलित हो उठती है।

‘मेजर चौधरी की वापसी’ कहानी में कथानक इतना है कि मेजर चौधरी युद्ध में विकलांग हो जाते हैं और मोर्चे पर टिके रहने में सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं। उन्हें पेंशन दे कर वापस भेज दिया जाता है। इस प्रक्रिया में मेजर चौधरी के मन में जो भाव-तरंगें उठती हैं और जो मानसिक लहरें आगत-विगत एवं वर्तमान की स्थितियों के संसर्ग से उत्पन्न होती हैं - जेतना-प्रवाह पद्धति में उन्हें का सूक्ष्म व्याख्या की गयी है।

अज्ञेय का कवि कहानीकार को अपना अस्तित्व भूलने नहीं देता। वह अपनी हस्ती जतला कर उसे होड़ भी देता है, लेकिन ‘पठार का धीरज’ में वह उसे बन्धे रहता है। वह कहानीकार को सीस देना चाहता है कि कविता-विधि और कहानी-विधि में जो अंतर माना जाता है वह केवल सतह पर है, भीतर से दोनों एक हो जाती हैं। इस सीस से यह भी जोड़ दिया जाता है कि आज कविता को तो क कहानी में जाने का हक हासिल है, लेकिन कहानी को कविता में घुसने का अधिकार नहीं रहा। शायद महाकाव्य की रचना का युग बीत चुका है। एक पठार है जिसका एक इतिहास है, जहाँ एक राजकुमार और एक राजकुमारी प्रेमवश मिला करते थे। परिणाम राजकुमारी इन्तज़ार करती रही और राजकुमार न लौटा। एक और जोड़ा

पठार पर जाता है - प्रीता और किशोर का । जिनके लिये राजकुमार और राजकुमारी की प्रेम-कहानी साकार हो उठती है । इनका बोध बदल जाता है । जब भावुकता का कुहरा साफ हो जाता है । पठार की वास्तविकता जाग उठती है - 'वह नयी दृष्टि' देता है । वास्तव और अवास्तव के बोध को पठार के माध्यम से, धीरज के माध्यम से जगाने की कोशिश की गयी है । इस प्रेम में धीरज है या कि यह धीरज का प्रेम है ? वह यह संकेत देना चाहते हैं कि कहानी के स्तर एक-दूसरे को काटते नहीं हैं । इसलिए 'पठार का धीरज' कहानी बनने से रह गयी है ।

वस्तुतः यह जीवन-दृष्टि का परिणाम न होकर कहानी-विधि पर कविता-विधि के आरोपित होने का परिणाम है । कहानी की रचना-प्रक्रिया पर कविता को लादने की परिणति है । कहानी प्रतीक या पठार को माध्यम से कही गयी है । 'पठार का धीरज' की काव्यात्मक वस्तु को कहानी का शिल्प दिया गया है, वस्तु-शिल्प में सामंजस्य का अभाव बना रहता है । इसे एक 'प्रेम-कहानी' के रूप में भी जाना गया है । प्रेम के स्वरूप को अधिक और कहानी को कम । पठार प्रेम को धीरज और विवेक देना चाहता है ।

राजेन्द्र यादव के अनुसार^३ 'पठार का धीरज' कहानी एक दुहरी कहानी है । दुहरी कहानियों की मंगिमा, शिल्प और प्रतीक से ऊपर एक दृष्टि ही अधिक है । शिल्पकी सामास्यता और आरोपित स्थिति की ध्वनि, कथ्य को भी अविकृत नहीं रहने देती ।

दो स्तरों पर चलने वाली कहानी 'पठार का धीरज' भी है लेकिन उसमें वास्तविकता के अनेक स्तर एक दूसरे से उदासीन और असंपृक्त पठारों की तरह फेले हैं - और क्या हमेशा ही हमारा जीवन स्काफिक स्तर पर नहीं चलता ? हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा

१. डा० नामवरसिंह : कहानी : नयी कहानी (१९६६) इलाहाबाद, पृ० १३७-१३८ ।

२. डा० देवीशंकर अवस्थी : नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति (१९६६), दिल्ली, पृ० १५७ ।

३. राजेन्द्र यादव : एक दुनिया समानान्तर (१९६६) दिल्ली. पृ० ५३ ।

अधिक या नये स्तरों का हठात् जागा हुआ बोध नहीं है ? ' की सूक्ष्मरूप प्रतिपत्ति के साथ ही जब अज्ञेय, जीवन के इन स्तरों को पठार का तरह जड़, पथराये, एक-दूसरे से उदासीन मान लेते हैं और यह कहते हैं - 'पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उनकी अपनी एक वास्तविकता है । दोनों समानान्तर हैं, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं - यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकता के जलग-जलग स्तर कहीं भी एक-दूसरे को काटें ।' तो जिन्दगी के इन स्तरों को काव्य-अनुभूतियों की तरह गतिहीन, पथराया (जेन्डु का के शब्दों में 'शिलाभूत !') मान लेना - उनके जीवन्त लचीलेपन और एक-दूसरे में गुंथे होने की सच्चाई से बचना है । इस प्रकार अज्ञेय की यह कहानी हमें किसी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक या तात्त्विक (फ्टाफि-जिकल) सच्चाई से अनुस्यूत नहीं करती - जीवन के जड़ीभूत (शिलीभूत) स्तरों - के प्रति एक व्यक्ति की निहायत व्यक्तिगत तर्क प्रणाली सामने रखती है, जो दृष्टा की अपनी कल्पना भी हो सकती है ।

अज्ञेय की कविता 'साँप' जंगल से शहर की ओर और कहानी 'साँप' शहर से जंगल की तरफ ले जाती है । 'मैंने कहा कि बतौंगा जंगल को, जहाँ सन्नाटा है, स्कान्त है, जहाँ अपनी-अपनी धुन में ऐसे मस्त हैं कि मस्ती की एक नयी धुन बन गयी है जिस में सब गूँजते हैं - पर जलग-जलग, बिना एक दूसरे पर हावा हुए जैसा शहर में होता है ।' साँप का चित्रण भी काव्यमयी भाषा में किया गया है । साँप का स्वप्न में साकार होना तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही है, लेकिन इस कहानी में भी कविता और कहानी का अपनी-अपनी राह बतते रहना - कविता की राह का कहानी पर आरोपित हो जाना रचना-प्रक्रिया में बाधक सिद्ध होते हैं ।

अज्ञेय में शिल्प-विधान सम्बन्धी मौलिकता है और आधुनिक हिन्दी कहानी एक परिष्कृत सौन्दर्य-बोध और आभिरात्य शिल्प के लिये सदैव उनकी ऋणी रहेगी ।

अज्ञेय की कहानियाँ प्रभाववादी होती हैं और वे किसी न किसी सामयिक सत्य की व्यंजना करते हैं । उन्होंने किसी प्रकार के दर्शन का आश्रय ग्रहण नहीं किया और

न जीवन को वर्गीय सण्डों में बांट कर देता है। वे अपनी सामग्री अधिकतर दैनिक जीवन से लेते हैं। उनकी कहानियों में प्रतीकों, स्वप्नों, स्मृतियों और वातावरण के कुछ प्रयोग के साथ-साथ कोमल मानवीय प्रवृत्तियों का भी सुन्दर सम्येदनीय चित्रण रहता है। अज्ञेय का व्यक्तित्व और उनकी संवेदना वस्तुतः अपूर्व ही है।

000

इलाचन्द्र जोशी - मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों पर आधारित कहानियाँ लिखने वाले कथाकार रहे हैं। 'रोमांटिक ड्राया', 'संडहर की आत्माएँ', 'ढायरी के नीरस पृष्ठ', 'आहुति' तथा 'होली और दिवाली' नामक इनके कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

'किडनेय्ड', 'प्रेम और घृणा', 'आत्महत्या का सून', 'विद्रोही', 'पागल की सफाई', 'यज्ञ की आहुति', 'सज्जवा', 'फोटो', 'अनाश्रित', 'कर्म-विकर्म' आदि उनकी लोकप्रिय कहानियाँ हैं।

जोशी जी का मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन है। फ्रायड का उन्होंने बहुत ही चिन्तन-मननपूर्वक अध्ययन किया है और इसीलिए लोगों का कहना है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के हिन्दी में कदाचित् वे सर्वाधिक सम्पन्न कहानीकार हैं। उनकी सेक्स सम्बन्धी कहानियों में कुंठा, निराशा, विक्षिप्तियाँ एवं घुटन का मनोविश्लेषण हुआ है और मनुष्य की पार्श्विक प्रवृत्तियों का उद्घाटन हुआ है।

000

नागर जी की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी बटकीली व्यंग्य-शैली है। सामाजिक विसंगतियों एवं विकृतियों पर वे ऐसे ममान्तक व्यंग्य अपनी पेंना शैली में करते हैं कि उनका लक्ष्य तीव्रतर रूप में अभिव्यक्त होता है। 'जुरंग', 'अकबरी लोटा', 'प्याले में तूफान', 'पाप मेरा वरदान', या 'लंगूरा' आदि कहानियों में यह

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : हिन्दी साहित्य का इतिहास (द्विटा सं०)

इलाहाबाद, पृ० २६२-२६३।

विशेषता देखी जा सकती है। नागर जी की भाषा बड़ी प्रवाहमयी तथा यथार्थ तत्वों को लेकर विकसित हुई है। वे पात्रानुकूल ही सहज एवं स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी शैली बनुठी और वात्सीय है तथा व्योपकथन बुटीले एवं सरस। किन्तु नागर जी का मुकाब भी अधिकांशतः उपन्यास की ओर ही अधिक रहा।

000

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रतिष्ठित कहानीकारों की रचना-प्रक्रिया बाज भी बत रही है। उनके दृष्टिकोण एवं कतिपय कहानियों का पाछे विश्लेषण किया गया है। वही के समानान्तर नए कहानीकारों की रचना-प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो चुकी थी और धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, माकण्डेय, शेरार, जोशी, नरेश मेहता तथा रामकुमार आदि प्रकाश में आ चुके थे। उन्होंने संवेदना के स्तरों का स्पर्श किया और अनेक प्रभावशाली कहानियाँ जितों।

कांग्रेस शासन असफल हो चुका था। ग़ैर कांग्रेसी सरकार से भी लोगों को निराशा हुई थी। सभी ओर स्वार्थ था, लोलुप्ता थी। 'गांधी' को मृत्युशील समझकर उपेक्षित किया जा रहा था और लोकतन्त्र का विघटन होता गया। औद्योगीकरण की नीति ने व्यक्ति को मशीन और गांवों को फ़ैशनपरस्त बना दिया। बेकारी और निर्धनता से लोगों का पीछा नहीं छोड़ा। राष्ट्रीय प्रस्थाचार लुटे आम हो रहा था - ऐसे में समाज का अराजक हो जाना तथा मोहभंग की स्थिति बहुत ही स्वाभाविक थी। 'अपने' और 'स्वदेश' के प्रति लोगों का मोह समाप्त हो गया और लोग यूरोप की आधुनिकता में ही कल्याण देखने लगे थे। फ़ायदवाद, व्यक्ति-व्यक्ति में घुस जाया था और मोहभंग के बाद व्यक्ति को अति-यथार्थपरक बना रहा था। और 'अति' हर चीज़ की बुरी होती है।

इन सारे संकटों का प्रभाव 'व्यक्ति' को ऊपर काफी भारी पड़ा और वह अपनी 'जड़ों' से उलड़ गया। स्वातंत्र्योत्तर बुद्धिजीवी वर्ग का एक सासा बड़ा हिस्सा उलड़े हुए लोगों का हो है। ऐसे लोगों की जड़ें अब 'भारतीय' जमीन में नहीं हैं।

ऐसे ही लोग जब चिन्ताने लगे थे कि - 'सामयिक संसार' कहाँ नहीं है। इसका कोई अस्तित्व नहीं है।^१ अर्थात् यदि 'वर्तमान संसार' नहीं है तो सामयिक मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना ही हम कैसे कर सकते हैं? और वर्तमान कहाँ कुछ भी नहीं है - जो कुछ है वह अतीत है और भावस्थ है तो 'वर्तमान' में जाते मनुष्य के बहुत निराश और उलझ जाने की बात बहुत स्वाभाविक है। और 'कुछ न होना', 'उलझ जाना' तथा अपने आप से पूछना - यह बहुत ही भयावह और दुस्तर सिद्ध हुआ।

पहले के लोग जब कि मनुष्य के हित में यह कह कर मृत्युदण्ड के भागी बने थे कि 'शास्त्र और धर्म ग्रंथों का सहारा सोखते लोग लेते हैं, प्रबुद्ध व्यक्ति का स्वमात्र सहारा विवेक है। झुटकारा या मुक्ति अगर कहाँ है तो वह ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। जो लोग सत्ता के समता मस्तक फुकाते हैं या राजनीति को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, वे दयनीय हैं - मनुष्य को अपने आपकी जानना होगा, जानना होगा कि वह क्या है? क्यों है? और उसका हित किस में है, कर और किस प्रकार वह अपना और औरों का मला सोच सकता है, कर सकता है। जिस समाज में दार्शनिक, चिन्तक ज्यवा सत्यान्वेषी के लिये स्थान नहीं है, वह डूब जायेगा।'^२

व्यक्ति अब ऐसी ऊंची जाबाजें मूल गया था और उस अपने उलझ जाने का दर्द सह रहा था। वह देख रहा था कि सब तरफ मोह-मंहा हो गया है और 'घर के बाहर कुछ है, और घर के भीतर कुछ।' वह कहाँ भी अपने को स्वतन्त्र नहीं पाता था - 'आदमी माने 'जेक' का बंडल बन गया था।'

शिवप्रसाद सिंह की 'बीच की दीवार' में लेखक की दृष्टि परिवार के भीतर के अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों की ओर विशेष रही है। पारिवारिक विघटन - दो माइयों के पुस्तनी आंगन के बीच एक दीवार उठ जाती है। इस दीवार के कारण लेखक को सम्बन्धगत अटिक्तावों को फकड़ने में अधिक सतर्क रहना पड़ा है। यह

१. स्वरा पाण्डे : धर्म्युग, ६ जून, १९६५, पृ० १०

२. सुकरात : धर्म्युग, ८ अगस्त १९६५, पृ० १०

‘बीच की दीवार’ ‘ट्रजिक टेंशन’ के तीसे दर्द से अनुप्राणित है, और इस बहुत तीसे-दर्द, टेंशन को - बीच की दीवार को तोड़ने के लिए डा० शिवप्रसाद सिंह बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। और अन्ततः यह दीवार टूट जाती है।

लहरी बाबू पारिवारिक अनुशासन भूल कर, भावुकता में जाकर सम्मिश्रित परिवार से अलग हो जाते हैं। यह सब भूलकर कि वह जो कुछ भा थे, उसी परिवार की बदीलत, उसी के द्वारा निर्मित थे, यह लहरी बाबू स्वातंत्र्योत्तर नयी पीढ़ी की भांति ही उत्तरदायित्वहीन हैं, फिल्मी गाने गाते हैं, अपार स्वतन्त्रता चाहते हैं और घर के भीतर मां और पत्नी के दुःख से इनका कोई वास्ता नहीं होता। जब उत्तरदायित्वहीन विपुल स्वतन्त्रता लहरी बाबू के पास है - किन्तु न तो उनके पास खेती के लिए बेल हैं, न खाने को अनाज है और न ही बीमार पत्नी की दवा के लिये पैसे। ऐसे दुःख के समय फिर वहाँ बड़े भाई, जिन्हें लहरी ‘कसाई’ समझते थे काम आते हैं। इन्हीं बड़े भाई के अस्तित्व को लहरी अपनी स्वतन्त्रता में बाधा पाते थे और इसी अस्तित्व को नकारने के लिए ही वह इनसे अलग न हो गये थे। और अन्त में लहरी बाबू स्वयं ही अपने द्वारा उठायी गयी यह बीच की दीवार तोड़ देते हैं।

नयी पीढ़ी के उत्तरदायित्वहीन होने की बात तो कहानी में है ही, साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि अपनी इस विपुल स्वतन्त्रता का ‘उपयोग’ करना भी उसे नहीं आता। जब तब यह नयी - नासमझ पीढ़ी - अपने इर्द-गिर्द एक दीवार खड़ी कर लेती है - और जिसे बरसों की अनुभवी पुरानी पीढ़ी ही गिरा पाती है। पुरानी पीढ़ी भी अपेक्षाणीय नहीं है। पुरानी पीढ़ी के सार्थक अनुभवों को अज्ञा की दृष्टि से देखा गया है और इस पुरानी पीढ़ी को भी डा० शिवप्रसाद सिंह की उतनी ही सहानुभूति मिली है, जितनी कि नयी पीढ़ी को। लहरी बाबू स्वातंत्र्योत्तर उत्तरदायित्वहीन, फेजपरस्त नयी पीढ़ी के जावन्त प्रतीक हैं।

कहानी का वातावरण बहुत सजीव है। सारे उपकरण जाते हुए लगते हैं - तालाब, धोंधे के बण्डे, साँप, मेंढक, बेल, चरती, मदरसा, रेल, गाँव का प्लेटफार्म, बेती की फसलें, ‘ढंढवारी’ - सभी कुछ कहानी को जीवन्त बनाते हैं। कल्पन का चित्रण तो बहुत ही सजीव है, और उससे लेखक के अपने कल्पन में लोट सकने की अपूर्व क्षमता

‘तेरा पीपल कभी न डोले’ में यह बीच की दीवार टूट-टूट कर भी बनती रहती है। ‘वशीकरण’ और ‘शास्तापुत्र’ में यह दीवार फिर टूट जाती है। ‘बरगद का पेड़’ में दुहरी कहानी की शैली है। ‘अंधकूप’ सामाजिक श्रद्धियों का एक ऐसा अंधा कुआं है जिसमें हकिया और खोनी भाभी सभी डूब जाती हैं। अंधकूप में भी प्रतीक को कहीं बाहर से समझने नहीं जाना पड़ता।

‘सुबह के बादले’ कहानी चाहे रात में पढ़ी जाये किन्तु फिर भी उस वक्त भी मन पर देहाती सुबह का माहौल हा जाएगा। एक ऐसी सुबह जो घरों के कहुवे घुरं, गलियों की चील-पुकार, बेलों की दौड़-धूप, सौंधी माटी की महक और गरीबी की वास्तव भावनाओं में डूबी-डूबी होती है। ‘सुबह के बादले’ पराजित विद्रोह और धरती की गंध की कहानी है। देश तो आजाद हो गया। स्वतन्त्रता का सूरज तो निकला, पर भारत के करीब सात लाख गांवों के ऊपर इस नयी मोर में भी काले-काले बादलों के साये मंडराते रहे। दीनू का बाप उन लाखों-लाखों किसानों में से एक था, जो रोजमर्रा की मामूली जिन्दगी की ज़रूरतों को जुटा पाने में असमर्थ हो कर बीबी-बच्चे, माता-पिता और सबके ऊपर धरती की ममता छोड़ कर शहर में जा रहे हैं।

दीनू की पीढ़ी जो स्वतन्त्र भारत में जन्मी है, अनजाने ही विद्रोही है। बड़े-बूढ़ों, नामी गरीबी लोगों को लंबी मारना ही उनका सबसे दिलचस्प कारनामा है। वह भी यही करता है। वह धूरेलाल जैसे वयोवृद्ध देव को किलाबजह कांग्रेस का दलाल कह कर बिड़ाता है। सुदामी पाखिन को खिजाता है कि तुम्हारे लिये नये बांस की टिकड़ी बनेगी या पुराने की। हरिया के मुंह में सुजर का धूपन देखता है, बेल की पूंछ मरोड़ कर ‘रेस’ कराता है, पर जब बेल दुलती फाड़ कर उसे गिरा देता है तो अपनी फैंप मिटाने के लिये - ‘बदरा बंगाले से आये’ का तराना छोड़ देता है। उसका चुतकुलापन देखकर डाकिया कहता है कि ‘लड़का है कि बरखी है, कभी तो कल से रहता। जैसे कम्बस्त के पैर में कोई जोड़ ही नहीं है, बस कुलाने मारा करता है।’

वही दीनू इस नई सुबह की परिस्थितियों की चपेट में ऐसा पिसता है कि उसका खिलंदड़ापन मासूम बांसुओं में बिखर जाता है। पूरी कहानी उसकी शराबत,

दरिद्रता की विवशता, परिस्थितियों की घुटन और कोमल मन की बार्द-संवेदनाओं से घिरी हुई है। जिन जाणों में दीनू पराजित होता है, अपने बापको इनकार करता है, उसका नन्हा-सा विद्रोह परिस्थितियों में उलझ कर विदीर्ण हो जाता है - ऐसे जाण बड़े बार्द हैं और अनायास ही हमारी सारी सहानुभूति हीन लेते हैं।

दरिद्रता के शिकवे में तुड़-मुड़ जाने वाले ग्रामीणों को ही कहानीकार ने अपना लक्ष्य बनाया है। कहानी का हर पात्र निर्बल है। साथ ही वह सरल भी है और हृदय का धीरा भी।

शिवप्रसाद जी मनुष्य के लिये 'कमिटेड' हैं। व्यक्ति की संवेदना के उतार-चढ़ाव उनकी हर कहानी में चित्रित हुए हैं। इस कहानी का भी हर पात्र जीवित है। हर पात्र में जिन्दगी का तत्त्व भी है, जिन्दगी का सुकोमल भी। जीवन का एक दृश्य अपनी सम्पूर्णता में घटित होता है।

बड़ी बारीक सी संवेदनारं पूरी कहानी में गुंथी हुई हैं - बाल मन की अजीबता और अस्थिरता। मुंशी जी को बाम की कुसली पर फिसलते देख कर दीनू अपने मानसिक घात-प्रतिघातों, सारी उलझनों को मूल कर, जी खोल कर सिलखिला पड़ता है। क्योंकि यह उसी नटखट दीनू की ही 'कुसली' थी जिसने मुंशी जी को 'घोबिया-पाट, बड़ाम' गिरा दिया था। डा० नामवरसिंह ने लिखा है कि 'यहां बाम की कुसली ही जिन्दगी की किसी कठिन गांठ की प्रतीक बन जाती है'।^१ पर यह प्रतीक परिवेश की ऐसी स्वामाविक उपज है कि इसके पीछे सायास प्रतीकीकरण बिल्कुल ही नहीं भलकता।

कहानी के अंत में बादल फट जाते हैं, और निकली हुई सुबह चारों ओर छिटक जाती है। दीनू का खोया आत्म-विश्वास पुनः लौट जाता है। वह 'सिलखिला कर ब कूदा - 'कहो मुंशी जी हः हः हः ... कहता था न कि पैर पड़ा नहीं कि बस लगा घोबियापाट और गिरे बड़ाम ...' दीनू तालियां पीट कर ठहाका लगाये

१. डा० नामवरसिंह : कहानी, नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद, पृ० ४३।

जा रहा था । - निव्याज प्रसन्नता यहां जबरदस्त वास्था से जुड़ी है ।^१

दीनू की इसी मन में वास्था लाती है । वह जीवन के प्रति हमें वास्तव बनाती है कि मनुष्य जीवन में कोई एक ऐसी संजीवनी शक्ति भी है, जो निरन्तर प्रतिकूलताओं तथा अपार टूटन के बाद भी उसे जीने की प्रेरणा दिया करती है, और मनुष्य को व्यर्थहीन नहीं बनने देती । किन्तु इन सब के बावजूद दीनू की समस्याओं का कोई हल नहीं निकलता । तैसक मिथ्या मविष्य के सुनहरे स्वप्नों के पैबन्द नहीं लगाता । इस तरह की उदास वास्था की भी अपनी एक अलग रंगत होती है ।

000

‘तीर्थोदक’ (‘ठुमरी’ १९५६) कहानी सामाजिक रुढ़ियों पर प्रहार की कहानी है । ‘पंचलाष्ट’ और ‘सिरपंचमी का सगुन’ दोनों कहानियों की ‘थीम’ भी सशक्त है और शिल्प में तो बेर रेणु का माहिर ही हैं । ‘ठेस’ कहानी मावुक्ता से ओत-प्रोत है और अन्त में वही आदर्शवादी परिणति है ।

‘रसप्रिया’ में ‘विदापत’ गाने वाले नर्तकों का जीवन पूरे सामाजिक सन्दर्भों में मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है । रेणु की ‘तीसरी कसम’ और ‘टेबुले’ में नारी जीवन के विभिन्न स्तरों का नवीन परिप्रेक्ष्य में चित्रण हुआ है । वस्तुतः इस प्राणाश्रयी तैसक में जीवन की जो फड़ है, प्राणों के प्रति जो सरल और उदाम अनुराग है, वह अनन्य है । इसी अनुराग-रस की निर्भरिणी उनकी कहानियों में दृष्टव्य है । ‘पंचलेट’ तथा ‘तीसरी कसम’ आधुनिक राजनीतिक सन्दर्भों के साथ मनुष्य जीवन के संघर्ष और समस्याओं को व्यक्त करने में पूर्णतया सफल है ।

000

‘सतह की बातें’ कहानी में मार्कण्डेय ने सतहजीवी व्यक्तियों का चित्रण किया है, जो काफी हाउस में बैठ कर प्रेम पर फराटे के साथ बड़े-बड़े फतवे देते हैं और प्रेम को एक प्याली काफी जैसा ही समझते हैं । इस कहानी के अन्दर एक और कहानी

१. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना को चुनौती (१९६८), बनारस, पृ० ११७ ।

उभरती है, जिसका नायक स्वयं अपनी प्रेयसी की राय में हमेशा सतह पर जीता है। किन्तु थोड़े गहरे में जाकर हम पाते हैं कि उस तथाकथित सतहवादी व्यक्ति का वाचरण भी कई सतहें लिये हुए है और काफी जटिल है। उस पर निष्पत्ति नहीं किया जा सकता। अतः लेखक भी कहानी को यथातथ्य रूप में उपस्थित करके बिना किसी टीका-टिप्पणी के बस, चुप रहता है।

‘दूध और दवा’ (१९५६) में जीवन के छोटे-छोटे पहलू और छोटी छोटी अनुभूतियाँ चित्रित हैं। और यह छोटे-छोटे पहलू और अनुभूतियाँ ही आज के परिवार की ‘मीतरी स्थितियों’ को उजागर करने में पूर्ण सक्षम हैं। अनुभव निजी हैं, फिर भी कहानी में लेखक ‘निजता’ से ऊपर उठ गया है। फलतः स्वातंत्र्योत्तर भारत के हर मध्यवर्गीय परिवार के वार्थिक कठिनाइयों के बीच जूझते हुए स्वल्प को हम इस कहानी में देख सकते हैं। घर में बच्ची की जाँचों की दवा के लिये और दूध के फैसे नहीं हैं, पत्नी असमय ही ‘बूढ़ी’ होचली है और नायक इन सब विषमताओं से बचने का एकमात्र उपाय यह निकाल लेता है कि प्रेमिका के सीने के बीच, मुलायम उजले देह-भाग में अपना मुँह डाल कर सब कुछ भूल जाये। और लेखक-नेरेटर इस बात की तह में जाकर भी पूछता है कि ‘‘में समझ नहीं पाता कि स्त्रियाँ और मजदूर मालिकों को क्यों जोड़े हुए हैं, मछल इतनी सी बात के लिये या मुन्नी की जाँचों के माछे की दवा या उसके दूध के लिये!’’ सब कुछ समझ कर भी लेखक जब यह प्रश्न उठाता है तो लगता है कि बस ‘तू’ दे रहा है। हाँ, अनुभूति की प्रसरता अवश्य ही कहानी के कलात्मक रचाव में एक निहार लाती है। मजदूर पेट के लिये मिल-मालिकों को जोड़ते हैं और स्त्रियाँ को अपने बच्चों के दूध और दवा के लिये पतियों को जोड़ना पड़ता है। ऐसे ही तुलनात्मक रूप से कहकर लेखक ने अपनी बात के प्रभाव को गहराना चाहा है।

मार्कण्डेय की ‘माही’ (१९६२) कहानी को उपेन्द्रनाथ अशक बस, फैसल के अधीन मानते हैं। किन्तु कहानी में जीवन-संघर्ष करते, परिस्थितियों से जूझते हुए पात्रों का विश्लेषण सामाजिक, वार्थिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में हुआ है।

१. मार्कण्डेय : दूध और दवा : एक दुनिया समानान्तर (१९६६), दिल्ली, पृ० १५४।

२. उपेन्द्रनाथ अशक : हिन्दी कहानियाँ और फैसल, पृ० ४६।

‘सून का रिश्ता’ (१९६०) में निर्धन, विकलांग किन्तु सगे सम्बन्धी की सज्जा, वावमगत फिर तलाशी और मत्संता । अर्थात् सून के रिश्तों के अपमान की करुण कथा । रक्त-सम्बन्ध पर व्यंग्य भी है और वेदनापूर्ण प्रहार भी । पारिवारिक मोहबन्ध, नारीत्व-पलायन का द्वन्द्व और राग-बुद्धि का सत्य स्वयं सविशेष उजागर हुआ है ।

‘माता-विमाता’ (१९६२) में रागात्मकता का उद्घाटन एक बच्चे और दो औरतों के बीच जिस ढंग से हुआ है, वह पुराना है लेकिन ‘सिन्धुस्थल’ के निर्माण में सफल होने के कारण कहानी में गहन संस्पर्श है । जैसे ‘सून का रिश्ता’ में सम्बेदना का केन्द्रीभूत पात्र मंगलसेन है, जो सम्बन्धों से कूटने की नियति भोगते हुए भी निस्संग नहीं होना चाहता । सम्बन्धों के प्रति वह समर्पित अवश्य है, किन्तु जिस बिन्दु पर जाकर वह टिकता है वहाँ समाज की विस्थापित स्थितियों का मय बहुत अधिक है ।

चाहे ‘पास-फेले’ (१९६१) हो, चाहे ‘सिफारिशी बिट्ठी’ अथवा ‘सुनहरी किरण’ - इन सब का मूल वागुह यथार्थ पर ही है । भीष्म साहनी की कहानियों के चरित्र गढ़े हुए नहीं लगते । इनके व्यवहार में असतियत होती है और प्रतीतियों का संदर्भ तो सामाजिक है ही ।

स्थूलता किन्तु इनकी कहानियों में होती है - कथ्य और सित्य दोनों का ही । वही से इनकी कहानियों में सहजता बराबर बनी रहती है - कहीं झीण नहीं होने पाती ।

‘इन्दुजाल’ इनकी अत्यन्त सज्जत रचना है । इसे पढ़कर स्पष्ट लगता है कि भीष्म जी मानव-प्रकृति निर्धन अध्येता हैं । ‘इन्दुजाल’ के मुख्य पात्र की जिजीविषा अविस्मरणी है । इतना गंभीर पात्रान्वेषण कम देखने में आता है । लगता है कि आवेग अनुभव की भट्टी में तप कर सरा सोना बन गया है ।

‘इन्दुजाल’ मानवीय उदाम जीवनेच्छा की कहानी है । रामलाल का संत्रास, कोई अपरिचित अथवा व्यक्ति-परक संत्रास नहीं है । यह प्रत्येक बीमार व्यक्ति का संत्रास है । व्यक्ति-सम्पर्कों के भावात्मक (मयावह) परिवर्तन का और भी संकेत है ।

डाक्टर ने बताया है कि रामलाल एक माह से अधिक नहीं जिंगा तो उसकी पत्नी सोचता है - '... मुँह के मुँह में फूलों का रस उड़ेलने से क्या लाभ ? क्यों नहीं मैं अपने बेटे को रस दिया करूँ जिसकी जवान हड्डियों को रस की ज़रूरत है ।...' उसके घर के अन्य लोग अपना हिसाब-किताब अलग बैठाते हैं - 'अगर मरना इन तीन महीनों में हो जाये तो रामलाल पूरी तनखाह लेता हुआ मरेगा, अगर तीन महीनों के अंदर मरता नहीं हो तो तनखाह बाकी रह जायेगी, और सरकारी बंगला भी होड़ना होगा ।' यथार्थ जितना भयंकर है, निश्चित ही उसका उद्घाटन भी उतने ही भयंकर ढंग से हुआ है ।

०००

'दहलीज़' (१९५८) में कथ्य का स्वल्प रोमैंटिक है, जो दो बहनों के रिक्त जीवन से सम्बद्ध है । इसमें चित्र अस्पष्ट किन्तु तरल हैं और रोमैंटिक वातावरण भली भाँति तैयार करते हैं । स्त्री, बेली और शम्मा भाई सभी एक विचित्र उदासी और कष्टा उत्पन्न करते हैं । बहन-बहन का अजनबीपन इसमें चित्रित है । कहानी में बस स्मन्दन ही स्मन्दन है - 'ग्रामीफोन के घूमते हुए तबे पर फूल पत्तियाँ उग जाती हैं, एक बाबाज़ उन्हें अपने नरम, नगे हाथों से पकड़ कर हवा में बिखेर देती है, संगीत के सुर फाड़ियों में हवा से खेलते हैं, घास के नीचे सोयी हुई मूरी मिट्टी पर तितली-का नन्हा-सा धिल पड़कता है... मिट्टी और घास के बीच हवा का घोंसला कांपता है... कांपता है... ।' ऐसे सजीव चित्र मन में संवेदन जगा जाते हैं ।

'माया-दपण' (१९५६) में पिता-पुत्री के बीच के अजनबीपन का चित्रण, उन्हीं आत्मपरक सन्दर्भों में ही हुआ है ।

'लवर्स' (१९५६) भी अब पहले की भाँति भावुक, सरल और वासान नहीं रह गये हैं । इसमें निन्दी के विफल प्रेम का कथा है । इस कहानी में जीवन तो कूट गया

है, रह गया है उस जीवन का ज्यो ही ज्यो । किन्तु कमलेश्वर के अनुसार यह अपने परिवेश में सांस लेते आदमी की कहानी है । अस्तित्व को फलते और उसे प्रभावित करते और उसमें ही विघटित होते आदमी की कहानी है । ^१ 'लवर्स' कैसे इतने निरपेक्षा-प्रेमियों में बदल गये - निर्मल वर्मा ने इसे बहुत ही गहरे जा कर समझा है । प्रेम की बीच भी निरपेक्षता, तटस्थता, स्वातंत्र्योपर शिजा-दीक्षा और टूटते हुए मूल्यों का ही परिणाम है ।

'परिन्दे' (१९६०) कहानी बहुत ही 'सेन्सिटिव' चरित्र प्रेश करती है । इसमें ऐसे रेशमी ताने-बाने का वातावरण है जो मोहमय तो है ही, साथ ही उतना ही व्यर्थपद भी है । 'भाव-विशेष' की 'सूक्ष्मता' को इतना सम्पूर्णता, सजामता और कलात्मकता से चित्रित करने वाली यह पहली हिन्दी कहानी है । पूरी कहानी में जैसे एक संगीत ही संगीत बिखरा हुआ लगता है - '... पियानो पर शोमा का नाक्टर्न ह्यूबर्ट की वंगुलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे धीरे टेरेस के अंधेरे में धुलने लगा, जैसे जल पर कोमल स्वप्नित उर्मियां मंवरों का फिलमिलाता हुआ जाल बुनता हुई फैलती जा रही हैं - दूर-दूर किनारों तक लतिका को लगा, जैसे कहीं बहुत दूर बरफ की चोटियों से परिन्दों के फुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं । इन दिनों कबसर उसने अपने कमरे की छिड़की से उन्हें देखा है - धागे में बंधे चमकीले लट्टुवों की तरह वे एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं - पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर, जहां शायद वह कभी जायेगी ।' ^२ '... 'मीडोज़' में बहते पहाड़ी नाले का स्वर जा रहा था ।' ^३ '... लोड काइण्डली लाईट... संगीत के सुर मानों एक ऊंची पहाड़ी पर चढ़ कर हांफती हुई सांसें को आकाश की अवाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं । बारिश की मुलायम धूप बेपल ने लम्बे चौकोर शीशों पर फिलमिला रही है, जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी हो कर गिर रही है ।

१. कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका (१९६६) दिल्ली, पृष्ठ २६ ।

२. निर्मल वर्मा : परिन्दे (१९५८), दिल्ली, पृष्ठ ८७ ।

३. वही, पृष्ठ ६० ।

मोमबत्तियों का घुवां घूप में नीला-सा लकीर साँवता हुआ हवा में तिरने लगा है ।^१
 पियानो के संगीत-सुर लई के हुईं मुईं रेशों से अब तक उसके मस्तिष्क की
 थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे थे ।^२ इस कहानी की भाषा तो जैसे संगीत
 के निमित्त ही निर्मित हुई है ।

पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के फुण्ड को देख कर लतिका सोचती है - क्या
 वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? लेकिन कहाँ के लिये, हम कहाँ जाएंगे ? - प्रश्न मामूली
 है किन्तु मात्र कहानी के महोल में वह सिर्फ पक्षियों का या लतिका का व्यक्तिगत
 प्रश्न नहीं रह जाता । लतिका, डाक्टर मुक्जी और मि० ह्यूबर्ट से तो इसका सम्बन्ध
 है ही, साथ ही और सबसे भी है । और देखते ही देखते यह प्रेम-कहानी, मानव-
 नियति की व्यापक कहानी बन जाती है ।

लतिका की समस्या स्वतन्त्रता या मुक्ति की समस्या है । वह कर्तव्य की पीड़ा से
 मुक्ति पाना चाहती है - कर्तव्य से मुक्ति, स्मृति से मुक्ति, उस बीज से मुक्ति जो
 हमें बताये चलती है और अपने रेशे में हमें घसीट ले जाती है - - - कहानी में जैसे
 हर कहीं उमड़ता-धुमड़ता रहता है - 'लेट द डेड डाई' अर्थात् 'मृत' को मारने दो...
 उसे जाने मत घसीटो... यह बात हमें वास्था की तरफ ले जाती है । परिन्दे
 प्रतीक हैं किन्तु इसे समझने के लिये हमें कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता । वह कहानी
 की एक-एक स्थिति, से ध्वनित है । वातावरण तो इतना अधिक सजाव है कि
 पाठक उसे जीता है ।

इस कहानी के अंदर से जोक संकेत उमरते हैं जो संवेदना के नये नये आयामों को खोलते
 हैं । सब किसका इंतजार कर रहे हैं ? क्या यही मानव की भी नियति है - परिन्दों
 जैसी ही ? मानव की अनिश्चित नियति का संकेत दिया गया है । स्वरा पाउंड
 के अनुसार कहीं कुछ भी निश्चित नहीं है । सब कुछ अनिश्चित है । और संसार में

१. निर्मल वर्मा : परिन्दे (१९५८), दिल्ली, पृ० ६३ ।

२. वही, पृ० १७८ ।

निश्चित कुछ है तो क्या, अनिश्चितता ही निश्चित है।^१ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अजनबीपन की स्थिति, व्यक्ति का ज़िद के कारण बढ़ती ही जा रही है। डाक्टर की मुस्कराहट और विरक्त भाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि बीजू को न जानना अगर ग़लत है, तो बॉक की तरह इससे बिपके रहना और भी ग़लत है।

प्रेम एक 'जिद' है। ह्यूबर्ट की लतिका के बारे में जिद है, लतिका की जिद गिरीश के लिये है और डाक्टर की जिद अपनी उस पत्नी के लिये है जो मर चुकी है। यह 'जिदें' जूँकि पूरी नहीं हो सकतीं, फलतः स्मृति के रूप में कायम रहती हैं। अंततः मोहम्मद की अनुमति कहानी का अभिन्न अंग है। पात्रों के अतीत से बिप होने के कारण अजनबीपन और अकेलेपन के सूत्र भी कहानी में बिखरे पड़े हैं, लेकिन सबका वर्तमान एक-सा ही उदास होने के कारण यह सूत्र भीतर से कहीं जुड़े हुए भी हैं। एक ओर घनी उदासी, दूसरी ओर गहरा मौन, एक ओर पियोनी की स्वर-लहरियाँ और दूसरी ओर मन की विचार-लहरियाँ - सभी आपस में मिल-सी जाती हैं।

लतिका विदा-केला में उसे सुनती है जो गिरीश कह नहीं पाया है। डाक्टर एक अजनबी की हेसियत से परायी ज़मीन पर मर जाने की एक सौफनाक संभावना अपने मन में पाले रहता है। किन्तु साथ ही यह भी अनुभव करता है कि जो मर गया है उसे 'मर' जाने दो। यह पात्र मावुक कदापि नहीं है - व्यथा की गहनता में सामोश है।

केशोर भावुकता इस कहानी में नहीं है। जीवन-प्रवाह की दूसरी ही मुड़ा ही इस कहानी में है। लतिका अतीत में लौट नहीं सकता, मगर अतीत उसे प्रिय है। अपने जीवन-तत्त्व, मविष्य को भी वह नहीं प्राप्त कर पायेगी क्योंकि वह स्वयं ही अतीत बन गयी है। निर्मल बर्मा की केतना इस कहानी में आधुनिक सन्दर्भों में निरन्तर अकेले होते जा रहे व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुमृतियों की ओर मुड़ी है। सामाजिक जागरूकता या सामाजिक यथार्थ के वस्त्र से इस कहानी की सार्थकता पर चोट करना

व्यर्थ है। यहां यथार्थ का दूसरा स्वर मिलता है - व्यक्तित्व का यथार्थ। यह यथार्थ, शक्तिवान भी है, क्योंकि व्यक्ति की सम्बद्ध है। इस 'सूक्ष्म यथार्थ' को अभिव्यक्त करने के लिये बहुत ही बारीक विश्लेषण और अभिव्यक्ति के बहुत सूक्ष्म स्तर की आवश्यकता थी। और निश्चित ही निर्मल वर्मा ने कहानी की यह शर्त पूरी की है।

डाक्टर कहीं भी जीवन से प्रेम का उन्मूलन करने के पक्ष में नहीं है, लेकिन बिप-बिपाहट का भी विरोधी है - 'किसी चीज़ को न जानना यदि गलत है तो जान-बूझ कर न मूल पाना, हमेशा जॉक की तरह उससे बिपके रहना - यह भी गलत है। बरमा से जाते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपना जिन्दगी बेकार-सी लगी थी। बाज इस बात को ज़रा गुज़र गया और ज़ेरा आप देखती हैं, मैं भी रहा हूँ, उम्मीद है कि काफी ज़रा और जिज़ंगा। जिन्दगी काफी दिलचस्प लगती है और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में भी न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था - बाज भी करता हूँ।'^१

डाक्टर की उदासीनता या असम्पृक्तता को न तो निष्क्रियता ही कहा जा सकता है और न ही नादानो। वह डाक्टर के जीवन का प्रौढ़ अनुभव है। वह जीवन में विडम्बना, और अपत्याशा के अस्तित्व का धर्म मान कर चलता है। यही कारण है कि डा० अतीत से मात्र जुड़ा होता है, उससे जॉक की मांति बिपका नहीं होता और इसीलिये बहुत सहज रूप से वर्तमान को स्वीकार भी कर लेता है। निर्मल वर्मा के पात्रों पर निष्क्रियता का आरोप लगा था कि - 'सारे पात्र निष्क्रिय हैं और उन सबका एक निष्क्रिय संसार है। यह संसार इसलिए निष्क्रिय नहीं कि करने को कुछ भी नहीं है, बल्कि इसलिए निष्क्रिय है कि हर कुछ करने की अंतिम परिणति निरर्थकता है।'^२ किन्तु डाक्टर की जिवीविषा, वर्तमान को स्वीकार करते जाने का समझौता श्रीकान्त वर्मा के इस आरोप को निश्चित ही काट देते हैं।

१. निर्मल वर्मा : 'परिच्ये' (१९५८), दिल्ली, पृ० ४६।

२. श्रीकान्त वर्मा : नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना, पृ० २३५।

डाक्टर विफल प्रेम की अनुमति - निष्क्रियता पर बराबर विजय पाने के लिये ही वाकूल है ।

यह कहानी की एक उदास मूढ़ को स्थिर फ़ाड़ता देती है । 'जलती फाड़ी' (१९६१) पूरी की पूरी कहानी एक संकेत है । वैयक्तिक चेतना ही इसमें प्रतीकात्मक शैली में मूर्त हुई है । चिन्तन के घरातल पर ही इसकी रचना हुई है ।

'कुत्ते की मौत' (१९६१) और 'लंदन की एक रात' (१९६२) इन दोनों ही कहानियों के 'टेबल' पहली कहानियों ज़्यादा 'परिन्दे' जैसी कहानियों से फ़थक हैं । सूक्ष्मता की दृष्टि से ये दोनों कहानियाँ कहीं अधिक गहरी और कहीं अधिक ज़र्यवान हैं ।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ दरबसल चित्र का एक टुकड़ा हो सकती हैं, सम्पूर्ण चित्र नहीं । वह वास्तुनिकता के संत्रास (हारर) को ही अधिक चित्रित करते हैं । 'कुत्ते की मौत' इसी प्रकार की कहानी है । इसमें मृत्यु की पीड़ा का संत्रास बहुत गहरे उतर कर चित्रित किया गया है । मृत्यु को बाब का व्यक्ति 'बस्त्रों का बदलना मात्र' नहीं मान पड़ता और इसीलिए मृत्यु का इतना संत्रास उसे मौगना पड़ता है ।

'कुत्ते की मौत' में लूसी की मृत्यु की संभावना शीर्षक से ही हो जाती है । लगता है कहानी नहीं किसी व्यक्ति की डायरी हमारे सामने खुल गयी है । हर पात्र ने कुछ न कुछ सोया है और उस सोने को वह व्योरेवार भी रखना चाहता है ज़्यादा फिर वही अतीत से उलझने की समस्या बा जाती है - ... बाबू के रेजिस्टर में ... सब कुछ लिखा होता है, वह एक हलकी-सी टीस झोड़ जाता है । फिर नितिन माई का एक विचार - 'लूसी की मृत्यु के बाद अचानक वे सोच बैठते हैं, मैं जो सबसे पहले यहाँ यानी इस परिवार में आया था, बाबिर तक यहीं रहूँगा' एक रेखा संकेत है जो खुद पाठक को उस स्थिति में डाल देता है, जहाँ उसे गति और जीवन में व्यर्थता मालूम पड़ती है । सारी बात 'मृत्यु' की थीम लेकर कही गयी है । रेखा लगता है जैसे 'कुत्ते की मौत' मोनोलॉग है ।

'लंदन की एक रात' कहानी कुछ-कुछ प्रमण और बाकी जैसे स्वप्न या बीती हुई वार्ता की एक धुँवली स्मृति - झुंझता रह जाती है । इसमें बेकार दोस्तों के मेल का ज़ीब किस्सा नहीं है, शायद यह बहुत कम है, लेकिन यह 'बेकारी' बिल्कुल

अर्थहीन भी नहीं है। बाकी कुछ ऐसा है जो 'मूली हुई' स्थिति में किया गया लगता है। इस कहानी में केवल एक रात की सीमा है, जिसमें हम संस्मरण के साथ बहते हैं और अन्ततः एक कहानी प्राप्त कर लेते हैं। इसके अनुभव विविध हैं।

'तंदन की एक रात' में वायुनिकता, उसकी चोस और डेरर चित्रित है। इसमें केवल 'लीविंग' और 'रंगमैड' की भाव-भूमि ही नहीं है, इसकी केन्द्रीय भावभूमि - वायुनिक युग की विवशता, हार, लाचारी और चोस को बहुत ही तीखे ढंग से व्यक्त किया गया है। जीवन की आंतरिक लय और यह लय कब-कब टूट जाती है - इसे ही अभिव्यक्त करती है और निर्मल वर्मा के विषय में एक विद्वान् का कहना है कि - 'इसका तंत्र अपवर्त्यात्मक प्रकाश-वृत्तों (मल्टीपल फोकसिंग) का तन्त्र है।'^१

जीवन की अनिश्चितता, घुटन, बीस, व्यर्थता, भेद-भाव, बेगानापन आदि अनेक सूत्र इस कहानी में पिरोये हुए हैं। 'राटर' कोई एक व्यक्ति ही नहीं है, सबके सब लोग 'राटर' हैं, 'ब्लडी-वास्टर्ड' हैं। जीवन के छोटे-छोटे टुकड़ों के जैसे स्नेप लिये गये हैं। अनेकानेक दृश्यों को, अनुभूत सत्यों को यहां एकत्र किया गया है, जिनमें से कुछ का अपना प्रतीकात्मक महत्व है। इस कहानी का परिवेश भारतीय है।

'तंदन की एक रात' का संसार बहुत अधिक भयावह है। यहां मय साकार हो उठता है। यह मय अन्तराष्ट्रीय संकट और आतंक से उत्पन्न है। नीग्रो ह्रात्र - जार्ज तंदन में रहना चाहता है। अन्तराष्ट्रीय नागरिक बन सकने की उसमें क्षमता है। जब उसका साथी बिली पूछता है - 'क्या वापस घर जावोगे ?'

- 'घर' ? - नीग्रो ह्रात्र जार्ज के स्वर में एक सूना-सा सौसलापन उभर आया, मानों 'घर' शब्द बहुत विचित्र हो, जैसे उसने पहली बार उसे सुना हो, 'में चाहता था यहीं रहूं। लेकिन वे हमें चाहते नहीं।'

‘ - ये... बाह ! ’ - विली ने कहा ।

ये... बनायास हमने चारों ओर देखा । कोई भी न था, हालांकि वे हर जगह हर समय हमारे संग थे । हमारे बाहर उतने ही, जितने भीतर...^१ ओर रंगभेद की यह अमानुषिकता स्वयं विली को जिस विकृति की ओर ले गयी थी, वह संफेद ‘व्हायर’ से बदला लेते हुए ज़रतील नहीं जुगुप्सामय लगती है । रंगभेद, लीविंग सामाजिक शक्तियों के इस वन्द्याय को रोक सकने की असमर्थता, फासिज्म के अंकुर वादि ‘अन्तर्राष्ट्रीय टेरर’ ही इस कहानी में मूर्तिमान हुआ है । वाधुनिक सभ्यदना के नये स्वरों को इसमें गांका गया है । लंदन जो ज़रदा का संकेत देता है, वह व्यापक हो कर सम्पूर्ण विश्व की स्थिति को समेट लेता है ।

एक बालोचक को ‘लंदन की एक रात’ हिन्दी में केवल यही एक विरल वाधुनिक कहानी स्थलिते लगी है कि इसमें बढ़ते हुए ई फासिस्ट स्तरे को व्यक्त किया है, और इतिहास में नयी भूमिका अदा करने वाले नये बाज़ाद मुल्कों की मूल केतना को वाणी दी है । किन्तु यह कहानी का एक स्वर है, मूल स्वर कदापि नहीं है मूल स्वर तो वही अंततः वाधुनिक व्यक्ति की घुटन और उसकी उदासी, भीतरी चील और भय ही है ।

मात्र ‘पेट की भूख’ और ‘सेक्स की भूख’ भी इस कहानी के वाधारभूत मूल्य नहीं हैं । जार्ज, विली और ‘भेरेटर’ ने अपना-अपना देश स्थलिते छोड़ा है कि वे देश के लोगों और अन्य चीज़ों से बच सकें । किन्तु लंदन में वह सुरक्षा की खोज में अपने को और अधिक ज़रदात पाते हैं । लंदन यहां स्थिति की विडम्बना और ज़रदा का प्रतीक बना हुआ है जो सारे विश्व के महानगरों की ज़रदा हमारे सामने स्पष्ट कर देता है ।

यब लंदन के भीतर है जो ज़रदात है । बाहर लंदन की एक रात है, जो और अधिक ज़रदात है । बाहर भीतर कहीं भी सुरक्षा नहीं है । इन व्यक्तियों के लिये कहीं भी रहना कोई अर्थ नहीं रखता । ये एक-दूसरे से टूट कर अपनी-अपनी राह लेने के लिए

१. निर्मल वर्मा : ‘लंदन की एक रात’ : जल्ती फाड़ी (१९४४), दिल्ली, पृ० १०६

२. डा० नामवरसिंह : नयी कहानियां, अप्रेल, १९६५, पृ० ११८ ।

के लिये विवश हैं। जार्ज ट्यूब से चला जाता है, किसी बलग हो जाता है और 'नेरेटर' प्लेटफार्म पर बैठा रह जाता है। इस दुनिया में वित्त का पूरा नाम कोई महत्व नहीं रखता, नेरेटर बेल जाने से बन गया है, और जार्ज एक और महायुद्ध इसलिए चाहता है कि उसके बाद वाले वाद्यों को गोरी औरतें मिलेंगी।

वित्त वाज जीना चाहता है, कल पर उसका विश्वास नहीं है। यह वरणा का परिणाम है। नीग्रो को चुनकर लिंच करने का संकेत बहुत स्पष्ट है। और इतनी सारी चीजें लंदन की सिर्फ एक रात अपने में समेटे हुए है। यह कलागत संयम और कलात्मक रचाव तो निर्मल वर्मा का जन्मजात स्वभाव ही है। इस कहानी की अपनी एक अलग लय है जो वाज के क्लिराव को अपने में बांधे हुए है। मात्र लंदन का परिवेश चित्रित होते हुए भी इस कहानी ने हर देश के परिवेश को ध्वनित किया है। वहां की वरणा और 'मय' को पकड़ा है। अतः इस कहानी पर अभास्तीयता का आरोप लगाना अपनी आलोचना-दृष्टि को संकीर्ण करना ही है।

000

'तलवार पंचवहारी' (१९५६) में भी एक बेगानापन और फ्रस्ट्रेशन चित्रित है। सूक्ष्म-राम-बोध (फाइनर सेन्सिबिलिटीज़) के प्रति एक सजगता के साथ-साथ प्रतिहिंसातु दृष्टि भी वाज के आत्म-केतन व्यक्ति में अधिक दिखाई देती है। अतीत के प्रति कटुता और भविष्यहीनता का सुझाव व्यक्ति को तीव्रता के साथ मथता है... और अंततः व्यक्ति को लगता है कि अतीत की तलवार को कोई मूठतक कलेजे में धंसा कर उसे बेमानी मरने के तिर छोड़ देता है।

'अभिमन्यु की आत्महत्या' (१९५६) में एक निरीह अभिमन्यु है, जो रोज़ आत्महत्या करके वापस लौट जाता है। प्रतीक-संकेत पद्धति का ही कहानी में प्रयोग हुआ है। एक समीक्षक के अनुसार - "... जिसमें आत्महत्या का वहम लेखक को जाने किन-किन लोकों की घेर कराता है। शहरवाद और बलिफलेला के मध्ययुगीन रोमांस से यादव का दिमाग अक्सर गुस्त दिखाई पड़ता है। यह भी एक वहम ही है - कहानी कला सम्बन्धी वहम। कठिनाई सिर्फ इतनी है कि वहम से पैदा होने वाली 'फेन्टेसी' कला नहीं बल्कि कला का वहम पैदा करती है।'^१

इस कहानी में प्रतीक पद्धति का वाक्य लेकर एक व्यक्ति की वर्षगांठ पर आत्महत्या के उसके असफल संकल्प को चित्रित किया गया है। इस स्थिति को गहराने के लिये कलाश्रु सुमदा का प्रसंग तैयार किया गया है। इसके मूल में व्यक्ति-चिन्तन का ही जीवन-दृष्टि है जो पति-पत्नी के सम्बन्ध को वैयक्तिक स्तर पर उठा कर उसे सामाजिक दिशा में जाने से रोकती है। अभिमन्यु चक्रव्यूह से बच जीवित निकल तो जाता है, किन्तु उसके इस प्रकार निकलने में स्वभाविकता नहीं, विवशता ध्वनित होती है। यह विवशता इन्द्र की स्थिति की प्रतीक है।

कथ्य यहाँ बोध-गम्य नहीं रहा। जो लेखक कहना चाहता था शायद वह कहा नहीं जा सका। कहानी की अंतिम पंक्ति है - 'वह मेरी आत्मा की लाश थी'। किन्तु इसके विपरीत कहानी के अन्त में हम आत्मा की लाश नहीं, अन्त में हम पाते हैं कि नायक सजीव आत्मा को अपने कन्धे पर रखे वापस लौट जाता है। 'नये नये जाने वाले' (१९६०) में जीवन के नये-नये मूल्य बड़े उत्साह, वास्था और विश्वास के साथ सहे लिये जाते हैं, किन्तु शीघ्र ही जिन्हें वातावरण का अजर निगल लेता है।

'होटे-होटे ताजमहल' (१९६०) में 'वस्तुतः परम्परागत मुदा' प्यार के बड़े ताजमहल के साये में जाने कितने 'होटे-होटे ताजमहल' बिहर जाते हैं। यह जीवन की त्रासदी है, जो वाज के सम्बन्ध में स्पष्ट हुई है। अपनी 'होटे-होटे ताजमहल' को अधिक आधुनिक कहना चाहूंगा, क्योंकि वह संवेदनाओं के जड़त्व को 'धीरे-धीरे' के विलक्षणत्व से मंडित नहीं करती। वह संवेदनाओं और वास्तविकता के अनेक स्तरों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके, उनकी एक-दूसरे के बार-बार जा सकने की प्रवृत्ति, प्रभावित कर सकने या परिवर्तित करने की स्थिति को प्रस्तुत करती है। ताजमहल का प्रतीक भी किसी तर्क के रूप में प्रेश नहीं किया गया। यह पुरुष और नारी में लिंगाव और दुराव के क्षण की कहानी है। मीरा और विजय में यह सब कुछ ताजमहल की छाया में होता है जहाँ दोनों मिले थे और बिना कुछ कहे लौट बाये थे। इस लिंगाव और दुराव को और अधिक पुष्ट करने के लिए इसी कहानी में एक दूसरी कहानी को बुना गया है। - मित्रदेव और राका की कहानी।

१. राजेन्द्र यादव : एक दुनिया समानान्तर (१९६६), दिल्ली, पृ० ३५।

२. वही, पृ० ५३।

इसकी कहानी भी पुण्य की मृत्यु की है। इसके विपरीत यादव ने प्रतीक के रूप में ताजमहल को लिया है जोकि एक रोमांटिक संकेत और मानवता का प्रतीक है। इससे गंभीरता की स्थिति का सहसास नहीं होता।

यह वास्तविक सही ही है कि इस तरह का 'मुरदा भोगवाद' या अनुभूतिवादी दृष्टिकोण क्या हिन्दी कहानी को अमरीकी कथा-साहित्य की राह पर तो नहीं ले जायेगा - और अंत में कहानी के बारे में वह अपना वक्तव्य देते हैं कि - बाहर से सुन्दर और भीतर से प्राणहीन शव। छोटे-छोटे ताजमहल।^१ कहानी का कमबोरी यह नहीं सोची जा सकती कि विजय और मीरा में निर्णय लेने का साहस क्यों नहीं है? अथवा ताजमहल के वातावरण का चित्रण इतना विस्तृत और काव्यात्मक क्यों किया गया? दरअसल हमें यह देखना है कि प्रतीक कहानी की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग न हो कर विपरीत अर्थ देता, आरोपित जान पड़ता है। इस प्रतीक का प्रयोग संवेदना के घरातल पर नहीं, चिन्तन के घरातल पर ही हुआ है। फलतः मन की बहुत अधिक उधेड़बुन को लेखक ठीक से नहीं अभिव्यक्त कर सका है जबकि लेखक का कहना है कि उसने - 'धीम की अधिक से अधिक यथार्थग्राही, प्रभावशाली बनाने के लिये कहानी ने कहीं कविता की वातावरण निर्माण-क्षमता ली है, तो कहीं संगीत की सूक्ष्म लयात्मकता, कहीं चित्रकार के घुले मिले बिम्ब और प्रतीक लिये हैं तो कहीं स्थापत्य की संतुलित घनता।' इस प्रकार यह कहानी वाज के व्यक्ति के बान्तारिक संकट को यथार्थ घरातल पर स्पष्ट करने में असमर्थ रहती है।

किन्तु इसके बावजूद कहानी का कथानक इतना छोटा और सीमित है कि वह कहानी के पहले पैराग्राफ में ही समा जाता है - 'यह बात न मीरा ने उठायी, न खुद उसने। मिलने से पहले ज़रूर दोनों को लगा था कि कोई बहुत ज़रूरी बात है जिस पर दोनों की बातें कर लेनी हैं लेकिन जैसे ही हर जाण उसी बात की वास्तविकता में उसे टालते रहे। बात गले तक वा-वा कर रह गयी कि एक बार वह फिर मीरा से पूछे - क्या इस

१. डा० नामवर सिंह : कहानी - नयी कहानी (१९६६), अलाहाबाद, पृ० १६१।

२. राजेन्द्र यादव : एक दुनिया समानान्तर (१९६६), दिल्ली, पृ० १५६-१५७।

परिचय को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता ? लेकिन कहीं पहले की तरह फिर उसे बुरा लगा तो ? उसके बाद दोनों में कितना सिंवाव और दुराव जा गया था ।^१ कस कहानी इसी सिंवाव और दुराव के साण की हो है ।

निश्चय करके जाने पर भी विजय ने मीरा से इसलिए विवाह का प्रस्ताव नहीं किया कि उसने अपनी बाँहों से एक सप्तवर्षीय वैवाहिक जीवन को विच्छिन्न होते देखा था । इस दूसरी कहानी से यादव पहली कहानी का कारण स्पष्ट कर देते हैं और इस तरह विजय और मीरा एक दोपहर को ताजमहल की छाया में मिले और अपनी अपनी विवृत सामझयाती के कारण लगभग बिना बात किये ही वापस लौट आये । प्रेम की परिणति स्थायी सम्बन्ध में नहीं हो पाती यह मात्र एक वैयक्तिक बात है और कोई भी स्वस्थ सामाजिक संदर्भ उजागर नहीं करती । सारे संदर्भ कस आत्म-परक ही हैं । मीरा और विजय भी 'एण्टी-हीरो' हैं और एक दूसरे के प्रति मली माँति समर्पित न होने के कारण धीरे-धीरे एक दूसरे से अपरिचित हो होते जाते हैं । विवाह न कर सकने की बात मात्र वैयक्तिक स्तर पर चित्रित की गयी है ।

'पुराने नाले पर बना नया फ्लैट' (१९६१) की यह चरमोत्कर्ष की पंक्तियाँ हैं - 'यह घुटन, यह कदबू, सब मेरे ही कारण है । अगर मैं 'वह' होती तो समी कुछ कितना साफ सुथरा होता ।... जाब शायद हवा श्वर की ही है, बड़ी कदबू जा रही है... यह कदबू भी बड़ी कबीब सी है, बड़ी सड़ी-सड़ी-सी... जैसे सन्दूक के पीछे कभी चूहा मर जाता है तो कदबू जाती रहती है न, बेसी ही गंध है ।'^२ और यही आधुनिकता की सड़ांध पूरी कहानी में मरी हुई है । एक जातीयक के अनुसार इस कहानी में प्रेम और अस्तित्व के उन्मूलन की समस्या का आत्मपरक संदर्भों में चित्रण हुआ है । इसमें समष्टिपरक चेतना का अभाव है और लेखक और लेखक कोई स्वस्थ चेतना देने में असमर्थ ही रहता है ।

१. रावेन्द्र यादव : एक दुनिया समानान्तर (१९६६), दिल्ली, पृ० १५७ ।

२. रावेन्द्र यादव : लहर - नयी कहानी विश्लेषण, पृ० २२१ ।

३. डा० लक्ष्मीसागर बाबूजीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),

‘प्रीतीक्षा’ (१९६२) कहानी को तीन-तीन स्तरों पर चलाने का प्रयत्न है - एक स्तर नंदा और गीता का, दूसरा स्तर नंदा और हर्ष का और तीसरा स्तर - गीता और हर्ष का । लेखक के अनुसार इसका कारण है - हर भाव या भावना के सूत्र और रेशे, व्यक्ति तथा परिवेश के भीतर बहुत दूरी और गहराई में समाये, एक दूसरे से बहुत अधिक गुंथे और उसके हुए लगते हैं । इस जटिलता के कारण बाज की कहानी लेखक के अनुसार उपन्यास के अधिक निकट पड़ती है । बाज की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं ।^१ यह कहानी काम-कुण्ठा को जिस स्तर पर स्पष्ट करती है, वह व्यक्ति-सीमित दृष्टिकोण के अनुकूल है । इसमें स्वस्थ जितन नहीं, कुंठित व्यक्ति की दिशाएं स्पष्ट होती हैं, जो जीवन के अंधेरे को और बढ़ाती हैं । यह भी व्यक्ति चेतना की कहानी है ।

‘प्रीतीक्षा’, ‘मित्रो मरबानी’ की भांति लघु उपन्यासों की श्रेणी में गिनी जाती है । जैसे ‘एक पति के नोट्स’ पहले कहानी के रूप में हुई तत्पश्चात् - इसे लघु-उपन्यास के रूप में ढांपना पड़ा । प्रीतीक्षा एक विशेष मनःस्थिति की कहानी है । इसका एक पात्र दुहरी जिवन्मूर्ति जीता है और अपने अवसर की प्रीतीक्षा में रहता है । लेकिन सबकी यातना बाझंका, तनाव और अकेलेपन की पीड़ा गीता ही भोगती है । नंदा के प्रति उसका आकर्षण, प्रेम और उसके विविध स्तर, उसके अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व को ही बताते हैं । एक ओर उसका समतलिक प्रवृत्ति है, दूसरी ओर वह सपत्नी भाव जगाती है और तीसरी ओर तृप्ति का एक तन्मय सुख की अनुमति दे जाती है । एक ओर जाती त उसे कबोटता है और दूसरी ओर वह वर्तमान की बाझंका से संवस्त है । वह कभी नन्दा से तादात्म्य स्थापित करता है और कभी उसके प्रेमी हर्ष से । कभी अपने ही अकेलेपन की पीड़ा भोगती हुई ऐंठती है । किन्तु गीता की यह ट्रेबडी मनोविश्लेषण के प्रयोगों वाली ‘केस-हिस्ट्री’ से आगे जाती है और नये ‘स्प्रिचुअल’ और नैतिक मूल्यों की खोज करती है । राजेन्द्र यादव के अनुसार यह तिहरी प्रीतीक्षा की कहानी नहीं है - बल्कि पुराने सारे मोरत इन्हीं बीजन्स से निकलकर एक ऐसे बिन्दु पर लड़े लोगों की कहानी है, जो अनजाने ही

किसी नये नैतिक धरातल की सोच में बाक़त है। कहानी के तीनों पात्रों में से किन्हीं दो पात्रों के सम्बन्ध नैतिक नहीं हैं और उन्हें लेकर कोई 'गिट्टे' या 'सिन' की अनुभूति उनमें नहीं है बल्कि ऊपर से देखने पर तीनों ही निहायत व्यक्तिगत स्वार्थ दृष्टि से अपने-अपने अवसर का प्रतीक्षा में हैं। मूल्यों के विघटन या 'मोरल-डिस्मोरल' से बागे मूल्यहीन या अमोरल धरातल पर खड़े बनावृत हैं। यह नैतिक संक्रमण से उत्पन्न एक 'वेक़ुम' में एक नैतिक धरातल का प्रतीक्षा की कहानी है। किन्तु गीता और नंदा का अनेक बार रो-रो कर कहानी को गीता करना असंगत जान पड़ता है। यह नारी मनोविज्ञान के अनुरूप तो अवश्य है किन्तु कहानी के कलात्मक पक्ष को दुर्बल बना देता है।

नंदा को बीच में लाकर स्वयं पीछे हो जाता है और गीता के मन में निहित मौन कुंठाओं के सारे स्वर नन्दा के प्रति उसकी मानसिक आसक्ति और बाक़तता के संकेतों द्वारा उद्घाटित कर देता है। नंदा और हर्ष के सम्पुक्त प्रेम-व्यवहार और तन्मय विसर्जन को देखकर गीता के मन में ईर्ष्या नहीं, गहरी तृप्ति का अनुभव होता है। इससे गीता के मन की अधिक गहरी मौन कुंठा का परिचय प्राप्त होता है। गीता नंदा के प्रति अपनी ईर्ष्या को दमित रखती है। इसके दो कारण हैं - एक तो गीता, नंदा को उसकी सम्पूर्णता में प्यार करती है और दूसरे ईर्ष्या व्यक्त करके वह नंदा को सोना नहीं चाहती। नंदा का चरित्र वस्तुतः गीता के चरित्र की कुंठाओं के चित्र के लिये साधन है। नंदा और गीता के परस्पर, प्रेमोन्मत्त व्यवहार प्रतिक्रियाओं में मनोवैज्ञानिक संकेत हैं। मनोवैज्ञानिकता के आवेश या उत्साह में इस कहानी को समलिंगी प्रेम की कहानी भी माना गया है जोकि निर्मूल है और डा० बच्चनसिंह के अनुसार यह कहानी मनोवैज्ञानिक केस पर आधारित है और इसमें व्यक्ति के मानसिक आपरेक्ष से बिपक्षिपाती जीवन-दृष्टि मिलती है। किन्तु शिल्प के प्रति यादव इस कहानी में अत्यधिक जागरूक रहे हैं।

१. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६८), दिल्ली, पृ० १२५।

२. डा० बच्चनसिंह : नयी कहानी - संदर्भ और प्रकृति (१९६६), दिल्ली, पृ० २२५।

‘रोझी कहाँ है’ के बिस्सो के जीवन में वार्षिक सामाजिक अनेक तनाव हैं। उसे उनका पर्याप्त ज्ञान भी है। किन्तु उसका मर्म उस समय सुलता है जब निगम और असुखान्त किशोरी की चादर के दस रूपों उकार जाने की चेष्टा में लगे हैं। इस दूसरों का कठिनाइयाँ हल करने वाला बिस्सो अपनी कठिनाइयों के लिये कोई हल नहीं ढूँढ़ पाता - दो घाघों से रूपों निकलवा लेने की सारी प्रयत्नता और वह किशोरी को बचा कर सहायता करने का सारा बहुष्पन जैसे एक ही फटके में उड़ गया। बिस्सो बाबू स्कदम सुस्त हो गया। वन्ना के प्रति वाच का व्यवहार !... परिस्थितियों के भीतर तनाव का यह सहज मर्म पात्र की भावना के स्तर पर सुलते हुए भी अनुभव सामान्य बन जाता है।

000

‘नीली फील’ (१९६०) पढ़ते वक्त लगता है जैसे नीली फील ही वासपास बहती है। कमलेश्वर की अधिकांश कहानियाँ परिवेशीय अधिव्यक्ति पहले हैं, कहानियाँ बाद में।

‘नीली फील’ एक साथ ही जीवन और सौन्दर्य, वास्तविक घरातलों पर फलीभूत होता है और अपने आप में एक प्रतीक बन जाती है। यह विष्णु और रूप के साथ ही कमलेश्वर की कहानियों में एक सम्पूर्ण चेतना के संक्रमण की चोतक है। वातावरण का वाप्लावन कारी, अधिभूत कर देने वाला चित्रण है। वातावरण की बारीक से बारीक उदास बढ़कें और और में उतर जाती है और सौन्दर्य की एक अतृप्त प्यास अपना सब कुछ दे कर किसी अतीत के क्षण में वर्तमान का तादात्म्य स्थापित कर जुड़े रहने का मोह नीली फील में मूर्त है।

इसमें महेशपाण्डे की एक भूत है - अनाप सी भूत। शायद शारीरिक, लेकिन वस्तुतः वह सौन्दर्य की भूत है जिसकी रक्षा के लिए वह लोगों को धोखा तक देता है। उनके रूपों में हवन कर जाता है और इस सौन्दर्य में मानवीय ही नहीं, एक मानवेतर व्यापक करुणा का सौन्दर्य है - नीली फील वस्तुतः इसी का प्रतीक है। वातावरण की इतनी अधिक सम्पृक्तिन हिन्दी की और किसी कहानी में कम मिलती

विषय की तथात्मकता भी नगण्य है। इसमें कस एक सौन्दर्यानुभूति है जो सारी कहानी में फैली है। कहानी के ताने-पेटे में कविता के धागों को बुना गया है।^१ वातावरण के हल्के से हल्के स्पंदन, अवसाद और उल्लास के परस्पर मिले-जुले रंग... गोला को टूटती आवाजें... पक्षियों के कातर शोर की गूंज... पत्तों के फड़फड़ाने का हल्का-हल्का स्वर तक मूर्त हो उठा है। यह बहुत ही संवेद्य प्रकृति और अत्यन्त तीव्र निरीक्षण शक्ति की शोचक है। इसमें संवेदना (सौन्दर्य) के बराबर पर चेतना का एक सूक्ष्म संक्रमण मिलता है। महेश की वह अनाम सी मूक नीली फील की मसमली नीली लहरों में फलकती है।

महेश का नाचना, फील की ओर से सुने-सुने स्वरों का आना... नीली साड़ी वाली अर्थात् नीली फील की संवेदना अर्थात् सौन्दर्य से अभिभूत हो कर सेलानियों का सामान उठाने को तैयार हो जाना... पैसे पाकर मन मारी हो जाता है... फिर वही सौन्दर्य की मूस और पार्वती को नीली आंखों वाली फेय-सा बना लेने का प्रयत्न। किन्तु इसके विपरीत पार्वती के चेहरे पर नीली लकीरों का जाल बिछ जाता है, उसके हाथ से सोनाफ्तारी का बंडा गिरकर टूट जाता है... स्तना बड़ा असंगुन और संतान पार्वती के गर्म में ही मर जाती है... पार्वती चल बसती है... और अन्त में नीली फील का मालिक महेश पांडे ही रह जाते हैं।

इस लम्बी कहानी में मानवीय संवेदना अपने विस्तार में अंशित की गयी है। इसकी व्यापक परिधि में परायेपन का बोध है, मृत्यु की विभीषिका है, गहन अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्ध का समावेश करते हुए इसमें नवीन नैतिक तथा मानव-मूल्यों को उभारा गया है। कहीं-कहीं दो भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं को एक-साथ रख कर नये जमाने की कुरता और पुराने जमाने के उज्ज्वल मूल्य को अंशित करते हुए यह संकेत भी किया गया है कि पुराने मूल्य सब जगह अग्राह्य नहीं हैं।

‘एक थी विमला’ (१९६२) एक साधारण कहानी है जो बहुत ही असाधारणता से कही गयी है। इस कहानी में एक-सा ही जीवन जीने वाली चार लड़कियों का

चित्रण थोड़ी मावुकता से किया गया है कि ये चार लड़कियां तब उपदेशात्मक वादशवाद के चार सूत्रों जैसी मालूम पड़ती हैं। 'सोयी हुई दिशाएं' (१९६२) वाचनिकता के बेगानेपन को उससे उत्पन्न महन अवसाद को उकेरती है और व्यक्ति को सर्वत्र से काट कर अकेला बना देती है। इसमें द्रैजिक जीवन अपने शहर के विरोध में पूर्ण व्यथा के साथ उभरता है। इसमें वास्था या मृत्यु के प्रति कहीं जागृह नहीं है - फिर भी पूरी कहानी सोयी हुई दिशाओं में दशा-विशेष - अपनेपन का - जबरदस्त संकेत देती है - यह 'राजा निरबंसिया' को भी पीछे छोड़ देती है।^१ इस कहानी से कमलेश्वर के कथा-विकास की सहज उपलब्धि का पर्यवेक्षण संभव हो सकता है। महानगर के जीवन के बहुत सहज और अनुभूत चित्र पहली बार ही इस कहानी में उपस्थित किये जा सके हैं। दिशा प्रमित व्यक्ति की दिशा पाने की वाकुलता का दर्द इसमें साकार हुआ है। महानगरों की 'सिचुरस' ने - एक अनदेखी गहराई और नयी व्याख्या इस कहानी में प्राप्त की। महानगरों में 'पड़ोसियों' के जाने-जाने की सूचना जला सिगरेट की राख, तीली के टुकड़ों, डबल रौटी के रैपर और झिलकों से प्राप्त की जाती है - यह चित्रण सारी बातें ध्वनित कर देता है कि - कहीं वात्मीयता नहीं है, कोई पड़ोसी अपना नहीं है और सर्वत्र एक टूटता अकेलापन ही महानगरों में व्यक्ति की नियति बन गया है।

इस कहानी में वाकुलता है, पीड़ा है जो कभी सीधे व्यक्त होती है और कभी तीखे अथवा करुण व्यंग्य के माध्यम से। हर कहीं अस्वीकृति का एक मूल दर्द है, बेगानापन है किन्तु फिर भी इस कहानी में कुंठा कहीं नहीं है। यह कुंठा का विरोध करती है, अनास्था से दूर इसमें वास्था का जागृह है।

कमलेश्वर के पास कहने के लिये या तो तीक्ष्ण व्यंग्य हैं या फिर बहुत गहरी करुणा। जिन्दगी के थम जाने की वेदना और महानगरों में सम्बेदन के अभाव के सम्बेदन इनके पास बहुत हैं। किन्तु 'सोयी हुई दिशाएं' और 'एक थी विमला' कहानियां उस दबाव से निकलने का प्रयास हैं जो लेखक को विवश करती है कि उसकी अभिव्यक्तियां या तो व्यंग्यात्मक हों या करुणा। ये कहानियां सार्थक स्थलों की तलाश हैं - ऐसे

१. डा० बच्चन सिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य ब - आलोचना की चुनौती (१९६८), बनारस, पृ० ११५।

सवालों की जो जाब जिल्दगी के झूठे पड़ जाने के सन्दर्भ में, संवेदनशील व्यक्ति के अपने परिवेश से कुछ हद तक स्वयं अपने-अपने ही कट जाने के सन्दर्भ में कुछ सार्थक संकेत दे सकें। 'दुःख मरी दुनिया' (१९६२) और 'पीला गुलाब' का स्वर कठुणा का ही है। 'दुःख मरी दुनिया' में कस्बे का मोह भी बना हुआ है जो दीपू को स्मृति-सण्डों में व्यक्त होता है।

000

'मवाली' (१९५८) में उस लड़के के जीवन का एक वंश चित्रित है, जो कमीज़ पहने तफरीह वालों के सामान का मवाली गिरी करता है। किन्तु जिस पर बोरी का फूठा वारोप लगाया जाता है और अन्त में वह अपने नपुंसक वाक्योक्त को सागर की लहरों पर पत्थर मार कर ही व्यक्त कर पाता है।

'परमात्मा का कुता' (१९५८) में पाकिस्तान में विस्थापित एक किसान 'मोंक-मोंक' कर अफसरीयों को अपने प्रति न्याय का व्यवहार करने के लिये बाध्य कर देता है। जब तक वह चुप सावे रहा और शिष्टाचार से काम लेता रहा, तब तक उसका कुछ न बन सका। अब 'बेक्याई' को हथार बरकत मान कर वह अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। इस प्रकार मगवान के कुत्ते ने गतिहीन स्थिति को 'मोंक-मोंक' कर गतिशील बना दिया। कहानी के अन्त में दफ्तर के जड़ व्यक्ति मशानी जीवन का संकेत इस स्थिति को गहराता है, और वातावरण की सृष्टि करता है। इसमें निष्क्रियता को क्रियाशीलता से मरि पराजित दिखाया गया है। 'एक हलाल' में नारी के प्रति सामाजिक अन्याय की ओर संकेत किया गया है। एक असवार बेचने वाला अपने धन को तब तक एक हलाल का पैसा मानता है जब तक उसकी क्रीत पत्नी घर से माग कर घर को लौट नहीं जाती है।

'अपरिचित' (१९५७) में जीवन की विडम्बना इसमें लक्षित होती है कि जो नारी बहुत परिचित है वही अपरिचित बन गयी है, और जो नारी अपरिचित है, वही परिचित लगने लगती है। 'परिचय' का इसमें यह 'नया' सूक्ष्म और गहन-बोध है। 'बादल' (१९५८) में मां की ममता को दो पुत्रों के बीच उधर-उधर बंटते दिखाया

गया है। और इसे गहराने के लिये लेखक ने मादा सुवर और उसके बच्चों जैसे धिनोने प्रतीक का उपयोग किया है। इ: बच्चों वाली मादा सुवर की 'हुंफ-हुंफ' की आवाज़ तथा उसके ऊपर चमकते हुए नक्षत्रों का संकेत अस्पष्ट-सा है। वस्तुतः इस कहानी में उम्र के साथ मिटते हुए बुजुर्गों का ही चित्र है। माता-पिता के प्रति नयी पीढ़ी का क्रमशः बढ़ता हुआ स्वर भी इसमें चित्रित है। अन्त में मां हर हास्य में कपूत (आर्थिक दृष्टि से हीन) पुत्र का साथ देती है। बड़े भाई ज्योति बकील साहब बदले हुए मानवाय सम्बन्धों, और वायुनिकता से उत्पन्न व्यस्तता और यांत्रिकता को उभारने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। 'बासिरी सामान' (१९५८) में वायुनिक युग की विमीशिका और नारी का सामाजिक शोषण चित्रित है - अंत में पत्नी ही 'बासिरी सामान' बन कर रह जाती है। प्रतीक बड़ा सरल है। पति उन्नति के लिये पत्नी को घर के सामान के रूप में आंकता है।

'मिस पाल' (१९५६) में साली डिब्बे एक बेसुर आवाज़ में नायिका के लयों बजते हैं। व्यर्थता-बोध किंन्ति रोमानी बरातल पर और नये लेखकों के लिये नगण्य नारी के माध्यम से किया गया है। 'मिस पाल' किसी को पा लेने के लिये, चिर प्रतीक्षित घर बना लेने के लिये ललकती रहती है। 'मिस पाल' बच्चों को देख कर कहती है - 'कितने सुकसूरत हैं! हैं न।' बच्चे उस पर हंस रहे हैं, बिड़हा रहे हैं - 'यह बीरत नहीं, मर्द है'। मिस पाल को इस बात से तनिक भी दुःख नहीं होता। वह आफिस छोड़ कर बली जाती है क्योंकि लोग सम्य नहीं हैं। वह चित्रकारी करती है - वह भी उसे संतोष नहीं दे पाती। यह नारी होते हुए भी तीन दिनों की बासी सब्जी और रोटियां खाती है, और फिर भी समझती है कि वह 'कुछ है'। जबकि होती वह नियति की विडम्बना भर है। यह एक अस्वस्थ नारी के रिक्त जीवन का चित्रण है। सूने हृदय को किसी सार्थक चीज़ से नहीं - सूने उपकरणों से ही मरने का प्रयास है। इसका संकेत तब मिलता है जब वह बिना बुलाए अपने अतिथि को बस के बड़े तक पहुंचाने जाती है और उसके दोनों हाथों में बिस्कुट के दो साली डिब्बे होते हैं - बिलकुल इन्हीं डिब्बों जैसी ही मिस पाल भी 'साली' होती है - 'मिस पाल' के इस कुंठित जीवन का चित्रण भेयभित्तक स्तर पर हुआ है जोकि मोहन राकेश की कहानी का दूसरा मुह है।

लेखक ने यहां सही नये प्रकार के चरित्र की सृष्टि की है। ऐसे काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि करते समय और कुछ नहीं लेखक का अपना ही जीवन इसके मूल में होता है। मिस पाल एक बहुत बस्वस्थ चरित्र है - बार-बार स्कांत में लौट जाती है, अतिथि से कट जाने की कोशिश करती है, दो लड़कियों को लुसुर-फुसुर से उसके बावमी या बोरत होने का संदेह का संकेत भित्ता है - अस्त-व्यस्त जीवन को इस कहानी में अनावश्यक विस्तार मिला है। मिस पाल के एक-एक चीज़ टटोलने, सलवार-कमीज़ को उठा-उठा कर देखने, से कमीज की सीवनों के सुत जाने के विवरण में लेखक ने असंयम से काम लिया। 'मिस पाल को बेहरा सुद विकृत है, फिर भी वह विकृत बेहरों की ही तस्वीरें उतारती है। इस प्रकार अन्ततः यह एक विकृत चरित्र की विकृत अभिव्यक्ति मात्र बनकर ही रह जाती है। 'मिस पाल' का दुःख असली दुःख नहीं होता - स्त्रीलिर हमें कूता भी नहीं। प्रतीकों की वायोजना वारोप्ति एवं अप्रामाणिक है अतः असंगत परिवेश एवं बेतुकी असामान्य परिस्थितियों को उभार कर बुप हो जाती है। प्रतीक का व्यामोह वादि से लेकर अन्त तक देखा जा सकता है। और इतनी सारी अनावट को बावजूद कहानी मिस पाल के व्यक्तित्व के अनुरूप मोटी रह जाती है।

'सुहागिनी' (१९६१) में पति-पत्नी के नये सम्बन्ध की वैयक्तिक धरातल पर वंक्ति है। इसमें दो विवाहित नारियों के चरित्रों की तुलना की गयी है। 'हेड मिस्ट्रेस मनोरमा का पति उत्तरदायित्वहीन है - पत्नी को लेकर कोई उत्तरदायित्व नहीं महसूस करता... और पितृत्व का दायित्व संभालने से भी कतराता है। मनोरमा को अपना संतानहीन होना हर वक्त काटे को मांति चुमता है। किन्तु दूसरी ओर एक विपन्न उसकी नौकरानी - सुहागिनी है - और यह सुहागिनी न चाहने पर भी बार बार मां बना दी जाती है। एक चाहने पर मां नहीं बन पाती और दूसरी न चाहने के बावजूद मां बना दी जाती है। सुहागिनी के जीवन की यह विडम्बना ही इस कहानी का मूल है। दूसरी बात हेडमिस्ट्रेस से मनोरमा के माध्यम से यह कही गयी है कि विवाहिता स्त्री - नौकरी पेशा इसलिए है कि पति की आय घर के लिये पूरी नहीं

पहली और पति का परिवार सम्हालने के लिये, उसकी वाय और उसकी सहायता अनिवार्य हो जाती है। वह जब कभी नौकरी के कारण उत्पन्न अपनी अनेक परेशानियों के कारण नौकरी छोड़ना चाहती है तो घर के अन्य सदस्य उसे यह निर्णय नहीं लेने देते।

‘कस स्टैण्ड की एक रात’ (१९६१) में सामाजिक विषमता को एक परिस्थिति के चित्रण द्वारा गहराया गया है। माध्यम सदी की रात में घघकते कोयलों की बंगीठी है, जिस पर कस के मैनेजर का अधिकार है और जिसका कुली वादि उपयोग नहीं कर सकते। जीवन की उष्णता समाज में सम्पन्न लोग ही भोग सकते हैं और विपन्न लोगों का कस शीत में ठिठुरें मरना ही अधिकार है। इस कहानी में हास्य का भी हलका-सा फुट मिल जाता है। ‘एक और जिन्यगी’ (१९६२) में पति अपनी पहली पत्नी से तलाक लेकर दूसरी शादी कर लेता है और दूसरी पत्नी को मानसिक रोग से ग्रस्त पाता है और अंत में यह बकेला व्यक्ति पाता है कि इतनी भारी दुनिया में उसका साथी मात्र एक कुता है। यह कहानी भी वैयक्तिक जेतना से अनुप्राणित है। शिल्प में अवश्य एक बड़ा रूपन का प्रयास है। पहली पत्नी में व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की चाह थी जिसे पति स्वीकार नहीं कर पाता। अंततः वह पत्नी भी तलाक को टूटन को स्वीकार कर लेती है और पति दुबारा शादी करके ‘घर’ का सुख प्राप्त करना चाहता है। किन्तु दूसरी पत्नी मानसिक रोग से ग्रस्त है और उसे सुख की जगह अपार दुःख ही दे पाती है... यातना से यह व्यक्तित्व दूर भागना है। लिहाजा रुग्ण पत्नी को सांत्वना देने के बजाय वह फिर पहाड़ों और ‘ढाक बंगलों’ में भटकता घर का सुख ढूँढ़ता है... वह सुख जो उसकी बहुत सुलझी हुई पहली पत्नी के पास था... उसके बहुत सुन्दर बच्चे के पास था... किन्तु जिसे वह अपने वाप नहीं ले सका। अपनी कहीं न टिकने की प्रवृत्ति के कारण अपनी असामान्य प्रकृति के कारण ही वह ‘तलाक’ जैसा निर्णय कर बैठता है और अन्ततः ‘एक और जिन्यगी’ की तलाश में पहली पत्नी के नाम पर ही अपने को घसीटता रहता है। ऐसे असमर्पित व्यक्ति का साथी कस एक कुता ही हो सकता है... कुता जो उसकी सारी कृतज्ञता और असामान्यता स्वीकार कर लेगा...। अंत निश्चित ही अपार याचना लिए हुए है। ‘प्रकाश’ गुल्लत निर्णय का फल भोगता है और एक

अंतहीन तथा समाधानहीन जीवन जीता रहता है। 'एक बार जिन्दगी' की सोच करता रहता है जो कि उसके असमर्पित, एवं कही न टिकने वाले स्वभाव के कारण कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती।

०००

'रानी मां का चकूतरा' में मन्नू मंडारी जानबूझ कर एक मूल्य का प्रतिपादन करना चाहती है - फलतः यह असफल हो जाती है। यह पिछली पीढ़ी के प्रति स्मानी ऋद्धा की कहानी है और एक बारोफ़िस्त वादशं से ओतप्रोत है। 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' (१९५८) में कहा गया है कि 'प्यार का नशा जब उतर जाता है तो इस प्यार की परिणति इतनी जटिल और संश्लिष्ट हो जाती है कि पत्नी पति की मृत्यु तक की कामना करने लगती है। 'घुटने' में - 'मां' बनकर नारी के व्यक्तित्व के विकास न कर पाने की घुटन है।

'यही सब है' (१९६०) में नारी के बाप के नैतिक मूल्यों में जो मूलमूल अंतर आ गया है वही चित्रित है और इस कहानी का वातावरण इतना सजोव है कि पाठक उसे पढ़ता नहीं, जीता है। इसमें प्रेम का वह रूप है जो व्यक्ति की जेतना को पूरी तरह घेर लेता है, जो उन्माद की स्थिति को उत्पन्न करके उसके जीवन को संवाहित करने लगता है। इसी प्रेम में न तो भावुकता जैसा संस्थापन है और न ही वादशं-वाद का फूट और न ही कोई कात्मनिक पलायन। इसमें मात्र ईमानदारी है। इसमें एक लड़की के अन्तर्द्वन्द्व की कथा है जो अपने प्रथम प्रणय से निराश होकर किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगती है। इस प्रेम में वह स्वयं को लो देना चाहती है, किन्तु प्रथम प्रणय की स्मृतियां उसे इस दूसरे प्रणय को भरपूर नहीं जाने देतीं। फिर संजय और निशीथ के प्रेम में अन्तर भी है। जब उसकी निशीथ से फिर भेंट होती है तो वह उसी तरह विमोह हो जाती है। वह उसके लिये सब कुछ कर सकता है किन्तु उसके प्रेम का प्रतिदान नहीं दे पाता। इससे उपेक्षा का आभास पा कर दीपा संजय के आलिंगनों में प्यार डुंधती है। संजय के सामने होने पर उसे लगता है - यही सब है। नारी के जीवन को यहां नितान्त वैयक्तिक घरातल पर प्रस्तुत किया गया है। वैसे नारी इसमें अपनी पूरी गरिमा, देह-सम्पदा, और देहद ईमानदारी से सामने आयी है।

दीपा की आंतरिक द्विविधा में एक कलात्मक रचाव है। इस वैयक्तिक - 'दो' के बीच बंट जाने की द्विविधा को पूरे साहस के साथ उभारा गया है। अभिव्यक्ति बहुत ही आत्मीय और सहज है। मन्नु निःसंदेह अपने पात्रों के साथ बहुत ही आत्मीय होता है। पुराने प्रेम के तिकोन को मन्नु ने इसमें नये ढंग से उठाया है। दीपा की दुःखी रंग मन्नु के हाथ लग गयी है।

कहानी में आत्मीयता, सूक्ष्मता, तरलता, सुकुमारता - सभी कुछ है। शायद मन्नु यह भी कहना चाहती है कि दाणों की अनुमति ही सब है। बाहे इन दाणों का सम्बन्ध संजय से हो अथवा निशीथ से। दाणों की अनुमति को ही इस कहानी में सब माना गया है। दीपा एक साहसी, किन्तु बहुत संवेदनशील लड़की है और कभी भी वस्तुस्थिति से पलायन नहीं करती।

'यही सब है' के संदर्भ में एक समीक्षक का कहना है कि क्या नारी सेक्स है? न इससे ज्यादा न इससे कम। क्या मन्नु व जी इससे सहमत हैं कि नारी एक जाति होती है, व्यक्ति (इण्डिविजुअल) नहीं? किन्तु दीपा मात्र सेक्स नहीं है। उसका अपना बहुत प्रसर व्यक्तित्व है।

'दाय' (१९६१) में पिता के दाय के रोगी होने के कारण परिवार की सबसे बड़ी लड़की को ही सारे परिवार का भार सम्हालना पड़ता है। शुरू-शुरू में तो सम्बन्धी और समाज उसे सहानुभूति देते हैं कि वह अपना जीवन बरबाद करके भी परिवार का अस्तित्व बनाये रहे है। किन्तु फिर धीरे-धीरे उन्हें उस स्थिति के देखने की आवश्यकता हो जाती है और वे इसके विषय में सोचना बन्द कर देते हैं। एक-एक कर के घर के लोग सब अपनी अपनी राह चले जाते हैं और वह लड़की अन्ततः अपने को 'दाय' से ग्रस्त पाती है। 'दाय' ग्रस्त पिता को सम्हालने में, छोटे भाई के अध्ययन का खर्च निकालने को यह लड़की घर से दूर ट्यूशन करती है और धीरे-धीरे स्वयं ही 'दाय' होती रहती है। 'नशा' (१९६२) में भी स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्ध

१. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य - आलोचना को चुनौती (१९६८), बनारस, पृ० ११६।

व्यक्तिक घरातल पर विव्रित हैं । अर्थात् प्रेम में आज व्यक्तिक सम्पूर्ण समर्पण नहीं करता और वाधुनिक प्रेम मात्र एक नशे-जैसा ही है ।

000

‘जिन्दगी और गुलाब के फूल’ (१९५८) उस युवक की कहानी है जिसे, जब वह नौकरी करता है तो माँ की ममता मिलती है, बहन का प्यार मिलता है और शोभा जैसी बड़ी प्यारी लड़की से उसकी सगाई हो जाती है... अर्थात् उसे गुलाब के फूल ही फूल मिलते हैं । किन्तु जब वह आवेश में आकर नौकरी छोड़ देता है तो सगाई भी टूट सम् जाती है, बहन का प्यार भी अपमान में बदल जाता है । बहन फिर नौकरी करने लगती है और लड़की होने की सामाजिक हीनता के बावजूद उसे परिवार में माई से अधिक सम्मान प्राप्त होने लगता है । लड़के की बेकारी और परौपजीवी जिन्दगी - उसका उसका जीना दूमर कर देती हैं । परिवार में बहन का बहुत अधिक सम्मान उसे भीतर तक तोड़ता है ।

इस कहानी में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कहानी मगेतर वाली समस्या को मुख्य मानती है अथवा बहन वाली समस्या को ? कहानी में नौकरी छूट जाने पर बहन द्वारा किया जानेवाला अपमान मुख्य है या शादी का टल जाना ? कहानी की समस्या क्या है यह कहना कठिन है, हाँ, कहानी में अनेक स्थितियाँ उभरती हैं ।

कहानी में गुलाब के फूल कई बार आते हैं । स्पष्ट लगता है कि शीर्षक को सार्थकता देने के लिये ही कहानी में बार बार गुलाब के फूलों के प्रतीक को संदर्भ आता है । माई के सामने तरकारी की दुकान है लेकिन दिमाग में यह ख्याल है कि ‘जिन्दगी ने उसे भी गुलाब के फूल दिये थे ।’ यहाँ तक कि कथानक का चरित्र भी ‘वाधुनिक युवक’ की अपेक्षा पिछले जमाने के मावुक रूमानी युवक का अवलोकन है । अर्थात् सारी कहानी का ढाँचा और विषयवस्तु का ‘ट्रीटमेंट’ या निवाह

१. डा० नामवरसिंह : कहानी - नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद,

काफ़ी पुराना है। यहाँ परम्परा-प्राप्त रूढ़ ढाँचा नयी विषय-वस्तु को भी पुराना का देता है।

यथार्थ की दृष्टि भी कहानी में कई जगह उमरी है - विशेषतः बहन-माई के सम्बन्ध के चित्रण में। नौकरी कर लेने के बाद बहन किस तरह धीरे-धीरे परिवार पर हावी होती जाती है इसके एक-एक व्योरे का बड़ा ही सजीव वर्णन उषा प्रियंवदा ने किया है। 'उसकी सारी चीज़ें वृन्दा के कमरे में जा चुकी थीं, सबसे पहले पढ़ने की मेज़, फिर घड़ी-बाराह-कुर्सी और अब कालीन और छोटी मेज़ थी। पहले अपनी चीज़ वृन्दा के कमरे में सभी देस उसे कुछ बटपटा लगता था, पर अब वह अव्यस्त हो गया था यद्यपि उसका पुरुष हृदय घर में वृन्दा की सेवा स्वीकार न कर पाता था।' ^१ इसी प्रकार अक्सर की बात को लेकर भी अधिकार-परिवर्तन का बड़ा मार्मिक रूप सड़ा किया गया है - 'पहले जब तक वह स्वयं अक्सर न पढ़ लेता था, वृन्दा को अक्सर बूने की हिम्मत न पड़ती थी, क्योंकि वह हमेशा पन्ने गुलत तरह से लगा देती थी। अब उसे अक्सर लेने वृन्दा के कमरे में जाना पड़ता था और इसीलिये उसने घर का अक्सर पढ़ना छोड़ दिया था।' ^२ यह कहानी 'आत्म विडम्बना' के रूप को भी बारीकी से व्यक्त करती है - 'वपने अफसर की वपमान जनक बात सुनकर तो उसने वपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये हस्तीफा दे दिया था, लेकिन अबकहाँ है वह आत्म-सम्मान ? छोटी बहन पर मार बन कर पड़ा हुआ है।' ^३ और अन्त में घर न लौटने का निश्चय करके भी माई का घर लौट जाना तथा तिपाईं खींच कर तालचियों की भाँति जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कौर खाने लगना जैसे कटुतम यथार्थ की चरम स्वीकृति है।

इस कहानी से - कहानीकार की रचना प्रक्रिया की उस संकुमणकालीन स्थिति का पता चलता है जिसमें प्राचीन से नवीन की ओर आदर्शवादी रूमानियत से यथार्थवाद की ओर

१. उषा प्रियंवदा : जिन्दगी और गुलाब के फूल (कलकत्ता), पृ० १५६।

२. वही, पृ० १५८।

३. वही, पृ० १५६।

कगुसर होने का कठिन द्रन्द होता है ।^१ युद्ध की विभीषिका, दिनों दिन बढ़ती कीमती और देश के विभाजन के बाद अब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं तो वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, बल्कि माता-पिता और छोटे भाई बहनों की पालनकर्ता बनीं, तो घर में उनकी स्थिति बनायास ही बदल गयी । और अन्ततः बेरोजगार भाइयों के लिये उनका व्यवहार कहीं-कहीं ऐसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था । और अब माता-पिता की भी इस व्यवहार में कोई असंगति नहीं दिखाई देती । स्वातंत्र्योत्तर इन नवीन मूल्यों को ही दरबसत इस कहानी में बड़ी गहराई से प्रस्तुत किया गया है । परिवार में बेरोजगार भाई की विवशता, अकेलापन, उसकी असफलता की चुप्पन बहुत अधिक मर्मस्पर्शी है । बाहर जा-जा कर भी सुबोध मेले कपड़ों के ढेर और गंदे बिस्तरे में वापस लौट जाता है । जिस जिव्दगी पर वह तानत भेकता है - वही जिव्दगी उसे जीनी पड़ती है । 'आत्म विहम्बना' का इतना सशक्त उदाहरण और कहीं नहीं मिलता । कथात्मक कहानी में प्रबल है । अतः किसी प्रकार का शिल्पगत क्लृप्ताव भी कहानी में नहीं जाने पाता । किसी भी स्तर पर जीते हुए उष्ण प्रियंवदा को लगता है विवेक की तरफदार है, मानो इस तथ्य के प्रति वह बराबर संकेत हैं कि विकासशील जीवन-मूल्य मनुष्य की इच्छा-शक्ति से अधिक उसकी चिन्तन-शक्ति पर निर्भर करते हैं ।

यह कहानी मन पर एक सार्थक प्रभाव डालती है, जिसके पीछे जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क और सूक्ष्म निरीक्षण फलकता है । भावुकता यहां अवश्य है किन्तु उसमें कातरता या दुर्बलता नहीं, विचारों की-सी गरिमा, संयम और गहराई है । वह नियंत्रित है । अपनी संवेदना को वह परिस्थितियों द्वारा ही प्रसार देती है । श्री कुंवर नारायण का कहना है कि उष्ण प्रियंवदा की कहानियाँ आधुनिकता की तरफदार अवश्य हैं - लेकिन अक्सर वे 'दयनीय' की ही अनुभूति कराके रह जाती हैं, 'दुःखान्त' का महत् पक्ष पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो पाता ।

‘पवपन सम्मे लाल दीवारें’ में मुक्ति की सांस लेने की प्रतीक्षा है। और शायद अपने से छोटे, नील के प्यार को छाती से बिपकाये ही सुभामा, अपनी बढ़ती उम्र की वासंकावों को जीत लेना चाहती है, मगर उसके पैरों के नीचे एक घसकती हुई दीवार है - जहाँ उसे समझौता कर लेना पड़ता है। इसमें सारी उष्मता, लगाव और प्रेमजनित उत्साह के बावजूद एक महाशून्य व्याप्त है जिसमें प्रेमिका अध्यापिका के लिये जैसे सब कुछ निरर्थक हो उठा है - इतना अधिक निरर्थक कि वह ठोस निवेदन को भी सार्थक नहीं मान पाती।

‘मोहबब’ (१९५६) की जवला अकेलेपन का स्वेच्छा से वर्ण करती है। वह अपने को दूसरे से सम्बद्ध करते-करते मीगी पलकों की दुनिया में लीट जाती है - क्योंकि अन्ततः यही मीगी पलकों की दुनिया की उसकी अपनी निजी दुनिया है।

‘कुट्टी का दिन’ की माया का जीवन एक रेतीला मैदान है जिसका कोई ओर-ओर नहीं है। अकेलेपन से उसे भी निष्कृति नहीं मिलती।

‘वापसी’ (१९६०) में स्वातंत्र्योत्तर पारिवारिक अजनबीपन की विवेक्युक्त पकड़ है जो कि सामाजिक संदर्भों से भी युक्त है। इसमें ‘लोनली क्राउड’ जैसी कल्पना है। गजाघर बाबू का अकेलापन, आधुनिक जीवन के बीच उमरता हुआ विवशतापूर्ण अकेलापन है। वह इसे चुनने के लिये बाध्य है क्योंकि दूसरा उनके पास कोई विकल्प नहीं है। रिटायर्ड वफसर गजाघर बाबू अपने मरे-पूरे परिवार में वापिस आते हैं, किन्तु वहाँ भी अपने को अकेला, असंगत, अव्यवस्थित और फाटतू पाते हैं। मीढ़ में हर आदमी अकेला है और हर मीढ़ ढेरसरे अकेलों की मीढ़ है - उष्ण प्रियंवदा में यह रहस्य सामाजिक और पारिवारिक घरातल पर है। इसमें परिवार के विघटन की आंतरिक प्रक्रिया को बड़ी सूक्ष्मता से देखा गया है। यह कहानी अनुभव के घरातल पर सार्थक है। नयी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष सबसे पहले ‘वापसी’ में ही सही मानों में चित्रित हुआ था।

‘मिस फिट’ होने की ट्रेजडी ही गजाघर बाबू की ट्रेजडी है। एक दीर्घ अवधि के बाद लौटने पर वह पाते हैं कि परिवार के अन्य सदस्यों के विचारों में और मूल्यों में इतना अन्तर आ गया है कि वह अपने ही घर में अपने को अजनबी पाते हैं। चारपाई की ओर उनकी स्थिति घर में एक जैसी ही मानी जाती है - जैसे किसी

मेहमान के लिये कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सीयों को दीवार से सटा कर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गयी थी ।^१ और गजाधर बाबू को इस घर में अब अपना व्यक्तित्व इसी बैठक में पड़ी चारपाई जैसा ही असंगत लगता था... चारपाई, जो जब तब सुविधानुसार ऊपर-उपर कर दी जाती थी - और तब वह विवश हो कर एक दूसरी नौकरी पर - एक दूसरे अकेलेपन में लोट जाते हैं ।

गजाधर बाबू का यह अकेलापन केवल उन्हीं का अकेलापन नहीं है बल्कि उस सारे वर्ग का अकेलापन है, जो अपने पुरातन संस्कारों के कारण बदले हुए समय के साथ चलने में असमर्थ हैं और अपने ही परिवार में वजनही बन गया है, 'बिरादरी-बाहर' हो गया है और 'मिसफिट' अनुभव करता है । प्रगाढ़ भारतीय संस्कार लिये, समय के साथ न चल पाने वाले ऐसे कितने ही लोग आज के स्वातंत्र्योत्तर जीवन के दृश्य पर से विलीन होते जा रहे हैं । ऐसा अकेलापन बहुत व्यापक है - ऐसा अकेलापन जो कहीं न कहीं आज सबके अंदर मौजूद है परन्तु जिसका सहयोगी कोई निकटतर से निकटतर व्यक्ति भी नहीं हो सकता । इसमें विवाद की हाथा कुंश गहरी ही होती जाती है । अपने 'दर्द' को सब अकेले ही मोगना पड़ता है । इस लिये मोगने के प्रक्रिया में व्यक्ति कुंशः अकेला होता चला जाता है । दूसरा वाक्यी फिर अन-समझा लगने लगता है । जनाकीर्ण रेमिस्तान में तब वह अपने को अकेला पाता है और अकेलेपन से ऊब कर पुनः पीढ़ की ओर, औद्योगिक शहरों की ओर दौड़ता है, किन्तु वहाँ जा कर परिवार के वजनहीपन से अलग एक दूसरा वजनहीपन उसे धर लेता है । यह प्रभाव बाधोपान्त जैसे पूरी कहानी पर व्याप्त है । एक बर वालोचक के अनुसार - इस कहानी की मूल थीम 'पुरानों का काज मिसफिट होगा' नहीं है बल्कि इसकी मूलथीम स्वातंत्र्योत्तर उपजाऊ एक मानसिक अकेलापन है । किन्तु एक अन्य समीक्षक का कहना है कि 'भारतीय जीवन में अकेलेपन की थीम फिट नहीं होती । यह विदेशी पौधे का नाजूक फूल है जो भारतीय गमले में सुराक नहीं पा सकता । इस थीम से भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति की अग्नि

१. उषा प्रियंवदा : बिन्दुगी और गुलाब के फूल (कलकत्ता), पृ० १४७ ।

२. डा० नामवरसिंह : कहानी, नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद, पृ० ६ १६३ ।

नहीं निकलती, देहाती जीवन की गंध नहीं आती, यह धीम नागरिक जीवन में भी रूप नहीं सकी है।^१ एक दृष्टि से यह कथन उचित है। भारतीय समाज में बाज भी परिवार का उतना ही महत्व है और परिवार के महत्व उसकी गरिमा और मर्यादा के आगे कोई भी अपने मानसिक अकेलेपन को प्रश्रय नहीं देता। देना भी नहीं चाहिए।

‘सुले हुए दरवाजे’ (१९६०) उस सोझली हवेली के हैं जहाँ संयुक्त परिवार के सोझले जीवन का चित्रण उपलब्ध होता है। इस जीवन में धुन लगा चुका है और सेक्स की प्यास बन चुकी है। पारस्परिक वेमनस्य की फ्रांक्रियां हैं। दम घोंटने वाले वातावरण की सृष्टि है। इस दमित जीवन का विस्फोट सुले दरवाजों के द्वारा होता है, जिन्हें बंद करने पर एक नारी का पति मृत से घायल हो जाता है।

‘एक कोई दूसरा’ (१९६१) कहानी की नायिका बाज के जीवन-नाटक की नायिका नहीं है जो नायक की काम्य होती है - यहाँ तो नायिका का व्यक्तित्व गुमनाम है। वह विवाहित नायक को ‘एक कोई दूसरा’ बन कर प्यार करती है। उसी में अपने अस्तित्व के होने के सुख का अनुभव करती है। ‘फूँटा दर्पण’ (१९६१) विवाहित जीवन का प्रतीक है जो सबको फूँटलाता है और ‘पूर्ति’ (१९६८) में भी मीठी-मीठी चुटकियों द्वारा विवाहित जीवन का व्यंगात्मक चित्र अंकित है।

‘कोई नहीं’ (१९६२) अज्ञाय और नम्रिता के असफल पुण्य की कहानी है। पुण्य की विफलता के कारण जीवन में रिक्तता, एकरसता, शून्यता की अनुभूति इतनी गहरी हो जाती है कि नम्रिता उसे लोरी गा-गा कर सुताये रखना चाहती है। अनेक सालों बाद दोनों आकस्मिक रूप से मिल जाते हैं तो अज्ञाय अतीत को अमाने का असफल प्रयत्न करता है। कहानी के अन्त में प्रयत्न की इस विफलता का संकेत मिलता है जब दोनों परस्पर विदा लेते हैं -- ‘दोनों बच्चे हैं, मटक गये हैं। दो शिशु डरे हुए, अन्ये में सिसकते हुए।’^२

१. डा० नामवर सिंह : कहानी, नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद, पृ० १६३

२. उषा प्रियंवदा : कहानी, जनवरी १९६२, पृ० २०।

नमिता के जीवन के 'रेगिस्तानी सूखे' के छोटे-छोटे बिम्बों के चित्रण में हम लेखिका की सूक्ष्म निरीक्षण की अपार क्षमता और तीखी पनी दृष्टि सहज ही देख सकते हैं। विश्वविद्यालय के जीवन में, एक बुद्धिजीवी नारी के जीवन में उदासीनता एवं उदासी की विषमता को बहुत गहराई से अनुभव किया गया है और इसे उतनी ही गहरी कलात्मक अभिव्यक्ति भी प्राप्त हुई है। रुढ़ियों, मृत परम्पराओं, जड़ मान्यताओं पर चोट की गयी है। धीरे-दुरे जीवन की उदासी एवं उदासी का एक-एक रेशा कहानी में स्पष्ट उभरा है। मानवीयता तथा कठुणा के स्वर भी फूटते हैं - उससे कहानी का व्यंग्य सौंदर्य भी लगता है। जीवन को यहाँ व्यक्ति-सत्य की क्वांटी पर ही परखा गया है।

000

निम्न मध्यवर्ग के यथार्थ को लेकर भारती जी ने कई कहानियाँ लिखी हैं। इन्होंने बहुत कम लिखा है किन्तु बेहतर लिखना ही इनका धर्म है। सामाजिक परिधि की यथार्थता को बड़ी ही सूक्ष्मता से इन्होंने अभिव्यक्त किया है। समाज के बदलते मूल्यों और उसके बदलते रूपों को भारती जी ने बहुत ही निष्ठ से देखा है और स्वानुभूति के स्तर पर ला कर उसका प्रभावशाली चित्रण किया है। कवि होने के नाते कहानियों में काव्य की मधुरता का आ जाना भी स्वाभाविक था। किन्तु काव्य का यह अंश कहानियों में भावुकता नहीं, संवेदनशीलता उत्पन्न करता है। इनका प्रथम कहानी संग्रह 'चांद और टूटे हुए लोग' प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् उनकी अन्य कहानियाँ - 'गुल की बत्तों', 'सावित्री नं० २', 'यह मेरे लिये नहीं', 'बंद गली का आखिरी महान' तथा 'आश्रम' प्रकाशित हुआ है। इनकी दूसरी उल्लेखनीय कहानियाँ 'मुद्दों का गांव', 'हरिनाकुल का बेटा', 'धुआँ', 'मरीच नम्बर सात', 'कुछटा', तथा 'चांद और टूटे हुए लोग' हैं। 'भारती की कहानियों की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह है कि उनके पात्र एवं स्थितियाँ यथार्थ जीवन के लोगों एवं स्थितियों की व स्याक्नापन्न (सब्सटीट्यूट्स) बन कर उभरती हैं

यही कारण है कि वे हमारे अपने जीवन के विभिन्न रंगों के सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रतीत होते हैं और उद्बुद्धि करते हैं ।^१

नगर का यथार्थ ही उनकी कहानियों की परिधि है । प्रारम्भ में भारती जी प्रगतिशील बान्दोलन के साथ रहे हैं और उनका प्रारम्भिक कहानियों पर इसकी छाप स्पष्ट देही जा सकती है । किन्तु सूखा सिद्धान्तवाद वाला प्रगतिवाद उनके यहां नहीं है । प्रगति उनके यहां एक स्वयमेव होती हुई प्रक्रिया है । उसके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता । प्रगतिवाद से इन्होंने कस, रुढ़ियों को लड़ने में सहायता ली है । उनके यहां मनुष्य के प्रति विश्वास है, संकल्प है और जीवन में संघर्ष की अपूर्व क्षमता है । अर्थात् प्रगतिवाद उनके लिये कोई 'सिद्धान्त' कथवा नारा नहीं, एक दृष्टिकोण भर रहा है । इनका 'प्रगतिवाद' समाज सापेक्ष भी रहा है और व्यक्ति की गरिमा, उसकी प्रतिष्ठा को भी उसने कहीं नहीं मुलाया । और भारती जी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए कहीं भी वह व्यक्तिवाद नहीं होने पाये हैं । व्यक्ति को उन्होंने बराबर समाज के सन्दर्भ में बड़ी तटस्थता एवं विश्लेषणपूर्ण दृष्टि से देखा है । व्यक्ति उनकी कहानियों में कहीं निजीव नहीं हुआ है और समाज भी अपनी चरम सीमा पर उभरा है । व्यक्ति की जिजीविषा के अपूर्व संकेत उन्होंने प्राप्त किये हैं । गहन मानवीय सम्बेदना, सजग सामाजिक चेतना, नवीन मूल्यान्वेषण की समता, नव-मानववाद की स्थापना, वास्तविक जीवन परिवेश में कति-विगड़ते मानव सम्बन्धों की व्याख्या करना ही भारती जी की कहानियों का मूल स्वर है । व्यक्ति और समाज के बहु-विविध पक्षों का उद्घाटन इन्होंने बड़े सशक्त ढंग से किया है ।

उनकी कहानियों में आशा-निराशा, आस्था-अनास्था, क्रोध-दया, विद्रोह और रिजिगनेशन - याने नियति के आगे परास्त होकर बैठ जाने जैसी भावना का कुछ कभी-कभी सम्मिश्रण है । व्यक्ति का व्यक्तित्व बढ़ाएँ रखते हुए भी अन्ततः भारती जी उसे नियति के हाथों में ही सौंप देते हैं । उनकी कहानियों के लोग -

१. डा० सुरेश सिन्हा : नई कहानी की मूल संवेदना (१९६६), दिल्ली,

... टूटे हुए हैं, आत्म प्रवचनों में उलझे हुए हैं, अपूर्ण और कायर हैं, पर (ये लोग चांद ही के टुकड़े हैं, जो) नये जीवन की लोज में, नयी व्यवस्था की ओर लड़खड़ाते हुए बढ़ रहे हैं। और नियति जब उन्हें दबीच लेती है तब यह लड़खड़ाते हुए लोग कुछ भी नहीं कर पाते। सिवाय उस कुर नियति के पंजों में दबपटाने के। नियति के पंजों में व्यक्ति की दबपटाहट को मारती जो ने सूक्ष्मता से फकड़ा है। 'धुआं' और 'मरीज नम्बर सात' में अत्यन्त कष्टप्रद जीवन की तस्वीर उतारी गयी है। 'कुत्ता' और 'आता अवतार' में उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

'हरिनाकुश का बेटा' में जीवन-संघर्ष में डाल कर परिस्थितियों से जूझते हुए पात्र का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सन्दर्भ में विश्लेषण हुआ है। इस कहानी को प्रगतिशील दृष्टिकोण की ही परिणति मानते हैं। इस कहानी में चरम सीमा के फटके प्रायः कम लगते हैं, किन्तु कथ्य की अवगति चरम सीमा पर हो जाती है। चरमोत्कर्ष पर जाकर ही इस कहानी में कथानक के सूत्र स्पष्ट होते हैं। कथानक के हास का रूप इसमें अपनाया गया है।

'गुल की बन्नी' (१९५५) सामाजिक रुढ़ियों पर प्रहार करने वाली अत्यन्त सशक्त कहानी है। शायद उपेक्षित पात्रों के चयन के कारण ही ऐसा कहा गया है। बरना थीम से ऐसी किसी 'बारा' की गंध नहीं आती और यह कहानी नियति के मय से मयभीत साथ ही रुढ़ियों से जकड़ी एक ऐसी कुवड़ी की कहानी है जो लाख समझाने पर भी अपने प्राचीन संस्कारों को नहीं छोड़ती। प्राचीन संस्कारों से उसे कबीर-सा मोह है - वह उन्हें फटक नहीं पाती। और इसी से सौत ले जाने के बाद भी, अपने से बार-बार चालाकियां बरतने वाले पति के साथ वापस लौट जाती है - इस संस्कार के साथ कि मते ही दासी बन कर रह लूंगी - किन्तु रहूंगी तो पति परमेश्वर के चरणों में ही। वह जानती है कि मकान के बारे में भी वह पति द्वारा हसी जा रही है। फिर भी वह यह ब्रता जाना स्वीकार कर लेती है।

गुल की बन्नी में तमाम निराशा है, कटुता है। फिर भी वह एक बहुत उत्कृष्ट कहानी है। शिल्प और थीम के निर्वाह - दोनों ही एकदम निर्दोष हैं। इसे चरित्र-

प्रधान कहानी के वर्ग में रख कर ही संतोष नहीं किया जा सकता - जीते जागते बावर्नी ही इसमें प्रधान है ।

पहले दृश्य में गुल की दुकान लगाकर तरकारियां बेचती है, और बन्धा कुवा के चौतरे पर मुहल्ले के बच्चे गुलकी के कुबड़ेपन का मजाक उड़ाते हैं, फटकी कुबड़ी बनती है और समवेत गायन गाती है । दूसरे दृश्य में गुलकी की चियड़े-चियड़ेहों कर फूलती जिन्सी का चित्रण है । हर जगह उसका तिरस्कार ही और निरादर होता है । गंदी नाली का पानी फेंक कर उसकी दुकान को उठा दिया जाता है । तीसरे दृश्य में फिर बच्चों का प्रवेश होता है और उनके गुलकी को चिढ़ाने के द्वारा गुलकी की दयनीय स्थिति को और अधिक गहराया गया है तथा मुहल्ले की मानवीयता को निरूपित किया गया है । इसी दृश्य में गुलकी के पति को सामने लाया जाता है । वह गुलकी को मुहल्लेसे अपनी रेल और उसकी संतान की सेवा के लिये से जाना चाहता है और बदले में गुलकी को मात्र दो जून की रोटी का ही मरोसा है । और इस पर भी गुलकी तैयार हो जाती है कि उसका मनसेबू उसे ले जा रहा है । अन्त में चौथा दृश्य गुलकी की विदा वेल का है और यह दृश्य - 'भावुकता के उफान में खना लिपट जाता है कि कबरी कुतिया के संकेत - से कहानी का अंत पड़ना पड़ता है । इस तरह 'गुलकी बच्चों' की सृजन-प्रक्रिया दृश्यों के माध्यम से दो अलग-अलग स्तरों पर चलती है जो कभी-कभी एक दूसरे को काटते-झूते हैं और कभी-कभी एक दूसरे से अलग पड़ जाते हैं । भावुक संसार की रचना अपने-बाप में कहानी के लिये निषिद्ध नहीं होती । इस प्रकार डा० मदान के अनुसार 'गुलकी बच्चों' भावुकता का एक संसार मात्र है ।

किन्तु यह कहानी दरअसल हमें अपनी प्राचीन रुढ़ संस्कारों के मोह के ऐसे म्यानक बोहरों में डोड़ती है जहां प्रकाश की एक भी किरण का प्राप्त होना कठिन होता है । प्राचीन रुढ़ियां जो हमें गलीज़ बना देती हैं, उनसे हम फिर भी अपना पीछा नहीं छोड़ा पाते - यह दुःख होता है । वस्तु-निवाह की प्रक्रिया यहां भावुकता द्वारा नहीं, भावों द्वारा संवाहित है और भावों की यह अधिकता भी मारती जी के कवि-व्यक्तित्व के कारण ही आयी है, जो हमें सटकती नहीं बरन् कहानी के प्रभाव को और तीव्र ही करती है ।

‘सावित्री नम्बर दो’ (१९६२) में पति-पत्नी के आत्म-विश्लेषण, उनके आधुनिक सम्बन्धों का चित्रण सामाजिक संदर्भों में हुआ है।^१ विचारोत्प्रेषक प्रताप (रेबलिंग) या चिन्तनशील सूत्रों को लेकर कथानक के ड्रास की प्रवृत्ति इसमें लक्षित होती है। इसमें भी संगीत, चित्र, कविता, डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोताजि, तथा सांकेतिकता जैसे न जाने कितने रंग मिले हुए हैं। कहानी की पूरी वही है - नियति के पंजे में झटपटाता मनुष्य और उसकी जीवनगत संवेदना। आधुनिकता के सभी प्रसाधनों से यह कहानी लैस है - सिम्बालिज्म, अस्पष्टता, शब्दों में दोहरे-तिहरे अर्थ, सूक्ष्मता बहुत अधिक सांकेतिकता से यह सम्पन्न है। किन्तु वन्त तक पहुंचते-पहुंचते लगता है कि इतने दुष्ट पति पर भी वास्था बनाये रखने वाली ‘गुलकी बन्नो’ वाली मारती जी की वास्था अब बन्धेरे गतों में तिरोहित हो गयी है और नियति की चक्की में पीसे जाते व्यक्तियों में अब कस कटुता ही कटुता दिखती है। लगातार पिछते रह कर इन मनुष्यों ने अपना वास्था, अपनी अपूर्व जिजीविषा खो दी है और बहुत गहरी उदासीनता उनमें भर गयी है -- बाबू जब मां को सज्जय कर बट-सावित्री की पूजा के लिये घाल में सूत और रौंदा - नावल रखकर जाते देखा तभी से बेहद बेवनी है कि बाबू तो तुमसे यह सवाल पूछ कर रहूंगी, सत्यवान। जाते-जाते मां की निगाह मेरी इस गंदी बः साल से यहीं पड़ी रोग-रुग्ण पर पड़ी और वे ठिठक गयीं। फिर पूजा की थाली नीचे रख दी। मेरे पास बाई। मेरे स्ने भल-भरे बालों पर हाथ फेर कर बोलीं, ‘सबिचरा बेंटी’। और बांसू पोंछते हुए चली गयीं। सबिचरा - मेरे घर का नाम है - प्यार का (जब मैं प्यार के काबिल थी) - बसली नाम है सावित्री और नहीं तो सिर्फ नाम के नाते ही तुमसे पूछती हूं सत्यवान कि तुम बताओ कि मैं बाबिर कहां तो क्या कहां? हर ओर भटक-भटक कर रोगी ज्वर, बरसों से टाण-टाण धीरे-धीरे मारती हुई यह सावित्री नाम की लड़की अब बहुत थक गयी। रास्ता क्या है सत्यवान?^२ और यह सावित्री अन्ततः अपने ‘जीवन’ से इतनी थक गयी है कि - ‘मैंने थाली नहीं

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १११।

२. यमवीर मारती : सावित्री नम्बर दो : सारिका, जून १९६२, पृ० १२।

हुई। (तामा करना सावित्री बहन !) बहाने से जैसे मुँद कर लकिया से टिक कर बैठ गयी, तो ऐसा लगा, मानों मेरे चारों ओर लोग चुपचाप इंतजार में लड़े हैं कि मेरी मृत्यु की घड़ी टलती क्यों जा रही है ? सबके चेहरों पर शोक भी है, इंतजार भी, जधी रता भी । सब चुप हैं, सिर्फ दीवार पर लगी मेरी शादी की घड़ी टिक-टिक कर रही है । उस पर बना गुलाब बोलता है - गुड नाइट, गुड नाइट, गुड नाइट । कमरे भर में मोगों की तेज महक है, मगर इससे मौत की महक दबती नहीं । मृत्यु की यह दूसरी गाथा है, सावित्री बहन । तुम्हारी गाथा से बिल्कुल प्रयुक्त ।^१ और इस कहानी में दो कथाओं की तुलना करके बीमार सावित्री की व्याधा को और अधिक गहराया गया है । एक प्राचीन तथा एक नयी कहानी की दोहरी शैली इस कहानी में नहीं है वरन् सावित्री यहाँ प्रतीक बन कर आयी है ।

जिजीविषा का इस बीमार सावित्री में कहीं दूर-दूर तक पता नहीं है - 'मेरे लिये किसी का कुछ अर्थ नहीं रहा । न मैं माँ की बेटी रही न सियों की बहन, न उनकी पत्नी, न राजाराम की... ।... सिर्फ यह सिड़की मेरे लिये एक चकोर दुनिया है । पार्थ में सिलते गुलमोहर, कमलतास के रंग हैं, सामने की सिड़की में बठोलिएयां करती लड़की के बाकार हैं, सेलते बच्चों की हंसी की वाबाजें हैं । एक दिन अदृश्य हाथ वा कर इन चोकोर स्लेट पर अंकित बाकारों को मिटा देगा - वाबाजें बंद हो जायेंगी और मैं थक कर बैठ रहूँगी... । लेकिन कब ?' इस बीमार हताशा, कुंठा, वास्थाहीनता एवं बेराश्य-भाव का अपना एक महत्व है जिसे नकारा नहीं जा सकता । कहानी की भाषा कोमल व काव्यमय है और दर्द को पूरी तरह से उमार पाती है । कला-सत्त्व की परम सफलता इस कहानी में देखी जा सकती है ।

०००

लेखक जीजी के पात्र भी ऐसे ही टूटते हुए लोग हैं जो परिस्थितिगत विसंगतियों के

१. कर्मवीर मारती : सावित्री नम्बर दौ, सारिका, जून १९६२, पृष्ठ १३९ ।

२. वही, पृ० ३५ ।

जीव जाते हैं, और संवेदना के धरातल पर इन विसंगतियों से साक्षात्कार करते हैं। इनकी सम्पूर्ण मानसिक कारुणिकता निरावरण होकर हमारे सामने आती है। किञ्चित्ता की चरम यातना को यह पात्र फैलते हैं क्योंकि अन्य कोई विकल्प इनके पास नहीं होता।

शेखर जोशी भी प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कथाकार हैं। इनकी कहानियों में भी गांव के चित्रण में रोमांस कमिलता है। गांव को लेकर रोमांस की भावना इनमें अन्य रोमेंटिक ग्राहीण कथाकारों की अपेक्षा बहुत कम है। गांवों में बाज भी न जाने कितनी सजीव वस्तुएं पड़ी हुई हैं जिनको अभी तक किसी कहानीकार से नाम नहीं मिल सका है। जिन्हें किसी की आँखें नहीं मिल पायी हैं और जो बोल उठने के लिये कथाकार की वाणी मांगते हैं। 'कोसी का घटवार' एक ऐसा ही अनपहचाना घटवार है जिसे शेखर जोशी ने पहचाना। यहाँ निश्चित ही अन्वेषण की ताज़गी है - कोसी नदी के स्नान्त घटवार की सजीव आत्मा है।

'कोसी का घटवार' (१९५७) भी आंचलिक कहानी है और इसमें मनचकी को पहाड़ी संगीत के माध्यम से वातावरण की सृष्टि की गयी है। यों इसमें एक निम्न मध्यवर्ग की विधवा स्त्री का चित्र उपलब्ध होता है जो पति के न रहने पर, रिश्तेदारों को अस्वीकार करके स्वयं अपने पैरों पर खड़ी होती है। यह रोमेंटिक स्पष्ट है रिक्त न होती हुई भी अधिक यथार्थ है।

डा० मदान का मत है कि इसका सृजन काव्यात्मक स्तर पर हुआ है। यह एक लम्बी कहानी है और इसकी सृजन-प्रक्रिया के बाहर-भीतर में पूर्ण सामंजस्य है। 'एक सुनसान' ही इसका प्रारम्भ है और अन्ततः 'एक सुनसान' ही इसकी इति है। अकेलापन कहीं टूटता भी है तो मात्र कुछ क्षणों की और फिर सदा के लिये जुड़ जाता है।

गोसाई का मन चित्त में नहीं लगता। फिर भी वक्त कट जाये, इसलिए वह ठण्डी चित्त ही मुड़मुड़ाता रहता है। उसका स्नान्त और नीरस जीवन सस्सर-सस्सर चक्की के पाट के चलने जैसा, किट-किट दानों के गिरने जैसा और किट-किट काठ

की विडियों के बोलने जैसा ही है। गोसाईं इतना अकेला है और अंत को बार बार जीता है। लक्ष्मा की याद जब तब कसकती है। लक्ष्मा ने देवी-देवताओं की कसम खा कर उसे विश्वास दिलाया था कि गोसाईं की बात पूरी करेगी किन्तु लक्ष्मा का पिता नहीं मानता। वह परदेश में बन्दूक की नोक पर जान रखने वाले को अपनी लड़की नहीं देता। गोसाईं अब अपनी पुरानी जीर्ण फौजी पेंट को कोसता है - इसी पेंट की वजह से शायद लक्ष्मा हो गयी है और उसे ऐसा विस्तृत लाइन मिला है। वह काले बालों को लेकर गया था और खिचड़ी हो गये बालों को लेकर लौटता है। इस बीच लक्ष्मा विधवा हो चुकी है। मोहभंग की अनुभूति बड़ी गहरी है। हर क्षण तनाव बना रहता है - तनाव का दर्द रिसता है। गोसाईं लक्ष्मा की सहायता पैसे देकर करना चाहता है किन्तु लक्ष्मा वाये हुए उस उबाल को अपने इनकार के झींटों से ठंडा कर देती है और कहानी में फिर वही अकेलापन दूर दूर तक बहने लगता है। और अंत में गोसाईं बहुत फिफक कर लक्ष्मा से कहता है - कभी बार जैसे जुड़ बयें जायें तो गंगानाथ का जागर लगाकर मूलबूक की माफंग मांग लेना। पूत-परिवार बालों को देवी-देवता के कोप से बचे रहना चाहिए। लक्ष्मा ने गोसाईं के साथ रहने का वचन दिया था। गंगानाथ की मानता मानी थी और अपने उस वचन को उसने पूरा नहीं किया। इसलिये गंगानाथ के कोप का भय है और गोसाईं को लगता है कि कहीं लक्ष्मा का और अनिष्ट न हो। इसीलिए वह चाहता है कि लक्ष्मा गंगानाथ से क्षमा मांग ले। यहाँ उसे अपना दुःख नहीं साझा, वह तो फिर भी लक्ष्मा का भला ही चाहता रहता है अर्थात् व्यक्ति जो प्यार करता है - आकाश सा विस्तृत हो जाता है। कहानी में रोमांटिक बोध का कुशास जो थोड़ा बहुत होता भी है, अन्त में झट जाता है और अन्ततः यथार्थ के ही दर्शन होते हैं।

कोसी के परिवेश का चित्रण, घट की मंद चाल, जीवन की मंद मन्थर गति, बहुत तोड़ देने वाले अकेलेपन की अनुभूति, घटवार की कसक, लक्ष्मा के डेटे को रौंटी खिता कर गोसाईं का अपने वात्सल्य भाव को शांत करना - सभी कुछ सार्थक है और वातावरण को जीवन्त बनाता है।

‘दाज्यू’ कहानी भी एक पहाड़ी होकर की कहानी है जो अपनी सम्पूर्ण वात्सीयता

और आकुलता के साथ 'पहाड़ी बाबू' को 'दाज्यू' कह कर पुकार लेता है, किन्तु उसकी यह पुकार किसी जेबे कुरें में लगा दी गयी आवाज़ की भांति ही डूब गयी है। सारी स्थितिगत विसंगतियों के बीच अपनी आहत संवेदना और अपनी किंकिता की यातना से इस 'पहाड़ी झोकरे' का साक्षात्कार होता है। अनिश्चितता से उत्पन्न एक मर्मिदी यातना उसे बराबर हेदती रहती है। मानवीय सम्म्यता को फुल्लाने वाली सम्म्यता पर गहरा व्यंग्य है। आज के यथार्थ बोध को, सम्म्यता के लोचलेपन के समूचे प्रभाव को अभिव्यक्त किया गया है। 'दाज्यू' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहानी है। इसमें 'विम्बे' 'विचार' में और 'विचार' व्यंग्य में बदल जाता है। 'दाज्यू' सम्बोधन इस कहानी में प्रतीक बन कर आया है, जिसके द्वारा पहाड़ी झोकरा - 'अपने छूटे हुए गांव के अतीत, ऊंची पहाड़ियों, नदियों झा (माँ)... बाबा... दीदी... मुल्लि (छोटी बहन)... दाज्यू (कड़ा भाई)' सबको पा लेना चाहता है, पर नागरिक संस्कृति इस काल्पनिक प्राप्ति से भी उसे वंचित रखती है। व्यंग्य बहुत निमेष होकर किया गया है, फलतः बहुत तीक्ष्ण है।

000

नरेश मेहता की कहानियाँ सूक्ष्म रागात्मकता से सम्पन्न हैं, और वे आधुनिकता की पदाधार भी हैं। इनकी कहानियों में एक जीवन्त भावनात्मक गरिमा मिलती है - भावुकता इसे नहीं कहा जा सकता। इनकी कहानी का सम्पूर्ण यथार्थ काव्यात्मक स्वर पर अभिव्यक्त होता है। इनकी कहानियों का रंग इनका नितान्त अपना है। यह एक बहुत अनुभूतशील कवि की कहानियाँ हैं - 'तथापि', 'निशा जी' और 'एक समझी महिला' उनकी सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ हैं। इस प्रकार नरेश मेहता 'कहानी के क्षेत्र में अपना कवि-व्यक्तित्व लेकर आये।' कहानी को इन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाया। संक्षिप्त चरित्रों को पकड़ने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में कथानक का हास होना स्वाभाविक था। कथा-सूत्रों का विस्तृतता, संक्षिप्त चरित्रों की अभिव्यक्ति के कारण ही है। अमूर्त प्रतीक-विधान की योजना अपनानी

इनके लिये आवश्यक थी, क्योंकि संश्लिष्ट चरित्रों को प्रतीक और अमूर्त विधान
क्षेत्रों में ही अभिव्यक्त किया जा सकता है ।

नरेश मेहता का कहना है कि 'कहानी अभिव्यक्ति होती है, घटना मात्र नहीं ।
बाज की कहानी फामूला या सोदेस्य कहानी-कला से बागे बड़ चुकी है ।'^१

कहा जाता है कि बाज बादश का क्लिष्ट ही लोप हो गया है और वायुनिक
कहानी यथार्थ के समक्ष उसे कोई महत्व नहीं देती । किन्तु यह प्रातिपुर्ण धारणा
है । बादश बाज भी उपस्थित है, सदैव रहेगा, किन्तु उसका स्वरूप अवश्य ही
समय के अनुसार बदल जाता है -- बाज बादश स्वयं समस्या के रूप में नहीं प्रस्तुत
किया जाता, बल्कि बाज का बादश यथार्थ की यथार्थता में गुम्फित है । बादश
युग की भाषा हमने चाहे होड़ दी हो, पर श्रेष्ठतर बनने की कामना का क्या
तिरस्कार किया जा सकता है ? हत्या को पहले पाप कहा जाता था और बाज
अमानवीय या असामाजिक कृत्य कहा जाता है । हत्या को प्रथम तो कोई भी
लेखक नहीं देगा । यह बादश नहीं तो और क्या है ? और निश्चित ही बाज
के कुछ घोर वैयक्तिक और भ्रष्ट लेखकों में कुछ ही ऐसे हैं जिन्होंने अपनी संस्कृति
के बादश, परम्परागत सामाजिकता को बाज भी उतना ही महत्व दिया है और
इसके मूल में समाज को व्यवस्थित बनाये रखने की कामना ही प्रतिफलित है ।

नरेश मेहता के पात्रों पर आत्मपरकता, कुण्ठा, पलायन एवं रूपान्तर के आरोप
लगाये गये हैं । और इन पात्रों को घोर वैयक्तिक भी माना गया है । किन्तु
वस्तुतः यह आरोप निराधार है - 'नरेश मेहता की कहानियों में सामाजिकता एवं
सोदेस्यता समकालीन परिवर्तनशीलता तथा नये उमरने वाले मूल्यों के सन्दर्भ में स्पष्टतया
लक्षित किये जा सकते हैं । उनमें सजा सामाजिक चेतना, नवीन मूल्यों के अन्वेषण
एवं परिवर्तित मानदण्डों को अपनाने (दुर्गा, वह मर्द थी, तथापि बादि कहानियाँ)
की वाकुलता सशक्तता से अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी है ।'^३

१. नरेश मेहता : तथापि, निवेदन (१९६२), बम्बई ।

२. नरेश मेहता : एक समर्पित महिला (१९६८), कलकत्ता, पृ० १२ ।

३. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी कहानी - उद्भव और विकास (१९६६) दिल्ली,

कहानी मात्र मनोरंजन के लिये नहीं होती, अतः कहानी के लिये बहुत ही परिष्कृत भाषा और विशिष्ट संस्कार आवश्यक हैं। नरेश मेहता का कहना है कि -
 'साहित्य भी संस्कार होता है। लेखन से व्यक्तित्व का पता चल जाता है।'^१
 कथन के अनुसार ही लेखक की कहानियों की भाषा अत्यन्त परिमार्जित, विशिष्ट एवं बाह्य संस्कारशील रही है। यहां कहानियों की नयी दृष्टि तथा नया संस्कार मिला है किन्तु वही भाषागत पच्चीकारी उनकी कहानियों का सबसे बड़ा दोष है।

'तथापि' (१९६१) पहले प्रकार की कहानी है, जिसमें पास्त ने वर्तमान को प्रयोजन हीन कहा है - 'चाहा था, सम्पूर्ण स्वत्व से चाहा था, विपिन ! गंज में वह चौबरी की दुकान के पास, बाद में मामी ने मज़ाक भी किया था किन्तु विपिन बाबू ! हम अनागत बनकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं। कदापि नहीं ! कदापि नहीं ! और वर्तमान तो असंगति की सोखल है, निष्प्रयोजनहीन !!'^२
 वर्तमान से पलायन की यह स्थिति बाब की यथार्थता को अधिक सूक्ष्म और व्यर्थपूर्ण बनाती है। वास्तविक यथार्थबोध की जटिलतम समस्याओं से यह कहानी निरन्तर अनुप्राणित है और कलात्मक विधान में भी पर्याप्त गतिशीलता दिखाई देती है। किन्तु कहीं-कहीं स्पष्ट लगता है कि लेखक बचना चाहते हुए भी विवेकपूर्ण बौद्धिक चमत्कार के प्रलोभन से बच नहीं सका है।

'तथापि' कहानी का विपिन पास्त को सामने देखकर भावुक भी हो जाता है। जलपरी बाँझों से उसे निहारता है, और परम्परावादी प्रेमियों की मांति ही प्रेम की लम्बी-लम्बी बातें सोचता है किन्तु अन्त में जब वह कहता है कि - 'चलो पारु ! हम न तो पहले थे ही और न हैं ही, हमें तो होना है, यह होना ही हमारी संगति है, झुंझता है।'^३ तो लगता है कि 'होने' की यंत्रणा ही यहां सब कुछ है। यह वह बिन्दु है, कहानी जहाँ भावुकता से हट कर वास्तविक भाव-बोध से संश्लिष्ट

१. नरेश मेहता - तथापि (१९६२), बम्बई, निवेदन।

२. नरेश मेहता - वही, पृ० ११८।

३. वही, पृ० ११८।

हो जाती है। यह संवेदना का स्तर न हो कर बौद्धिक स्तर है, सृजन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन सका है।

‘निशाजी’, ‘वह मर्द था’, ‘किसका बेटा’ तथा ‘चांदनी’ आदि प्रचलित कहानियों के रागात्मक बोध, संवेदना, तथा धेतना से पर्याप्त भिन्न हैं। इनमें एक बौद्धिक अभिव्यक्ति है। ‘वह मर्द था’ तो विभाजन पर लिखी राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित बहुत जानदार कहानी है और ‘निशा जी’, वरुण के अर्थपूर्ण प्रतीक-प्रयोग के कारण इलेक्तीय का पढ़ी है।

‘वनवीता व्यतीत’ में पति-पत्नी के वास्तुनिक अजनबीपन का चित्रण आत्मपरक दृष्टिकोण से ही किया गया है। इसका मानसिक द्रव्य एवं विश्लेषण पर्याप्त संभव है।

000

‘राजनीतिक विघटन और सामाजिक संक्रास को सातवें दशक के कहानीकारों में व्यापक सन्दर्भों में सुरेश सिन्हा ने ही अपनी कहानियों में उठाया है। उनकी कहानियां नई पीढ़ी की निष्क्रियता, राजनीतिक प्रस्थाचार और दायित्वहीनता को यथार्थ धरातल पर ह्वायित करती हैं। इस दृष्टि से ‘कई आवाजों के बीच’, ‘नया जन्म’, ‘कुछ मरे हुए और’ तथा ‘हत्यारे’ कहानियों का विशेष महत्व है। ‘कई आवाजों के बीच’ युवा वर्ग के आक्रोश, निष्क्रियता, फुटन एवं संक्रास को वास्तुनिक परिवेश में चित्रित करती है। ‘नया जन्म’ प्रस्थाचार, माई-भतीजावाद एवं बेरोजगारी में एक युवक की कुचली गई आकांक्षाओं का मार्मिक दस्तावेज है। ‘कुछ मरे हुए और’ में राजधानी में राजनीतिक नेताओं के हथकण्डों एवं विश्वविद्यालयों के विष्मन्त युवकों का यथार्थ परिप्रेक्ष्य में चित्रण किया गया है। ‘हत्यारे’ बंगला देश में पाकिस्तान के अमानवीय कुत्त्यों एवं युद्ध के परिवेश में मानव-सम्बन्धों का मर्मस्पर्शी विश्लेषण है। सुरेश सिन्हा की कहानियों में आज की राजनीतिक एवं सामाजिक धेतना को स्पष्ट और उजागर करने का आग्रह है। यह एक प्रकार से

नूतन अभिव्यक्ति है। उनकी कहानियों में युग बोध को विशाल चित्रफलक पर चित्रित करने का प्रयास निरन्तर लक्षित होता रहता है। उन्होंने रुढ़ियों, वर्जनाओं, बन्ध-विश्वासों, जड़-मान्यताओं और मिथ्या-आडम्बरो का सोसतापन अत्यन्त यथार्थ सन्दर्भों में उद्घाटित किया है। बाज समाज में राजनीतिक विडम्बनाओं के कारण जो चुनौतियाँ उपस्थित हो गई हैं, सुरेश सिंह ने कतराने के बजाय उनसे साक्षात्कार करने की चेष्टा की है और इसीलिए ये कहानियाँ रुढ़ और जड़ को लण्ड-लण्ड कर समाज के परम्परामुक्त मार्ग को बदलने का संकेत देती हैं।

'दुःस्वप्न' में दुःनाथ सिंह ने योजना-विहान, निष्क्रिय, स्वाधीन और डाढ़ युवक का चित्रण किया है, जिसके पास कोई कार्यक्रम नहीं है। वह कायर है। वह चिन्तक बनने का डोंग करता है, किन्तु वास्तव में वह मर्मन्व्य एवं वात्सरत है। वह किसी आदमी के मर जाने पर मात्र इसलिये पत्तायन कर जाता है कि कहीं फंस न जाए। इस कहानी में कोई व्यापक सन्दर्भ नहीं मिलता। सामाजिक परिवेश से जुड़ने का प्रयास भी लक्षित नहीं होता, इसीलिए वह कुण्ठाओं का विवरण मात्र बनकर रह जाती है।

गिरिराज किशोर की राजनीतिक जीवन पर लिखी गई कहानियाँ कहीं अधिक व्यंग्य से पूर्ण हैं और समाज की विषमताओं पर गहरी चोट करती हैं। उन्होंने राजनीतिक जीवन में व्याप्त सङ्घर्ष को निकट से अनुभव किया है और अपनी कहानियों में उन्हें सहज-स्वामाधिक ढंग से चित्रित किया है।

५. चौथा अध्याय : वार्षिक ढांचा और टूटी हुई बेसाहियां

- वार्षिक पुनर्निर्माण के सोलते प्रयत्न और विश्रुतता का व्यापक विस्तार
- वार्षिक विवशता एवं कुण्ठा की अभिनव दिशारं
- मोह-भंग और नेराश्य की रेसारं
- दिशाहीन विद्रोह और पीढ़ियों का संघर्ष
- महानगरों का यांत्रिक जीवन और उसड़े हुए लोग
- संयुक्त परिवार पृथा का विघटन

● आर्थिक पुनर्निर्माण के लोसले प्रयत्न और विश्रुतता का व्यापक विस्तार

स्वतन्त्रता मिलने के साथ ही हमारे देश में समाजवाद स्थापित करने का स्वप्न देखा जा रहा है । समाजवाद में शासन ही सब कुछ होता है । कड़े प्रतिबन्धों एवं कठोर अनुशासन के द्वारा ही समाजवाद को क्रियान्वित किया जा सकता है । किन्तु नेहरू जी की हुलमुल नीति के वन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के नाम से जो सरकारी उद्योग-व्यापार कायम किये गये, वे आगामी समाजवाद के लिए धन पैदा करने का साधन न बनकर उल्टा धन नष्ट करने का ही साधन बन गये ।

इस प्रकार सरकारी उद्योग तो घाटे में पड़े ही, दूसरी तरफ़ अनेक शिक्कों में जकड़े निजी उद्योगों के लिये भी यह संभव नहीं रहा कि वे पूंजी व नफे का चिन्ता से मुक्त सरकारी उद्योगों का मुकाबला कर सकें । अतः उनकी पैदावार और नफे का अनुपात भी बराबर घटता गया । कितने ही कारखाने ठप्प हो गये अथवा सरकारी कर्मों के जोफ़ तले दब कर बिक गये । इससे सरकारी क्षेत्र की परिधि तो ज़रूर कुछ बढ़ी, लेकिन कुल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की नफा पैदा करने की क्षमता और घट गयी । साथ ही क्योंकि लोगों के लोकतन्त्रीय अधिकार भी बने रहे, इसलिए कोई कड़ा प्रतिबन्ध या अनुशासन तो दूर उल्टे इस विषय में अधिकाधिक सुविधारें ही दी जाती रहीं । काम के घटे, हुट्टियाँ, वेतन-स्तर, रहन-सहन और भोगविलास में बराबर कूट ब दी जाती रही । नतीजा यह हुआ कि सुस्ती, कामचोरी, बेईमानी और भ्रष्टाचार को भी प्रोत्साहन मिला ।

इस तथाकथित मिश्रित के स्थान पर यदि पूर्ण लोकतन्त्रीय निजी उद्योग को कूट दी जाती तो लोगों की ज़रूरत की सभी चीज़ें ज्यादा से ज्यादा परिमाण में तैयार होतीं क्योंकि वे मांग के अनुसार होतीं और खुले मुकाबले से बाजार में बिकतीं । परस्पर स्पर्धा में एक तरफ़ तो उनकी कीमतों पर अंकुश लगा रहता और दूसरी तरफ़ उनका स्तर भी निरन्तर ऊँचा होता । नफा बढ़ने से और अधिक चीज़ें बनायी जातीं, जिसे लोगों को रोज़गार भी अधिक मिलता और वेतन स्तर भी ऊपर उठता । साथ ही सरकार को भी प्रशासन व कल्याणकारी कामों के लिये करों के रूप में आमदनी भी अधिक होती ।

सरकारी नीति का प्रतिफल यह हुआ कि जहां तीसरी योजना का हमारा लक्ष्य था कि हम उद्योग के क्षेत्र में प्रतिवर्ष ११ प्रतिशत उत्पादन बढ़ा कर योजना के अंत तक ७० प्रतिशत तक पहुंच जाएंगे केवल ४० प्रतिशत ही पहुंच पाये । सन् ६५-६६ में तो उन्नति और भी कम हुई और उत्पादन केवल चार प्रतिशत ही बढ़ा ।

विदेशी सहायता का अर्थ केवल विदेशी सहायता ही नहीं है, बल्कि कच्चे पदार्थ, मशीनरी और तकनीकी ज्ञान भी है । तकनीकी ज्ञान हमारे लिये आवश्यक तो है किन्तु हम यह भी चाहते हैं कि हमारे अम्र का भी अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए । हमारा आर्थिक विकास ऐसे ही तकनीकी ज्ञान अर्थात् अम्र का अधिक से अधिक उपयोग करके ही हो सकता है । हम अपने अम्र का उपयोग न करके केवल विदेशी सहायता ही लेते जा रहे हैं । इससे हमारी बेकारी की समस्या हल होने की बजाय और बढ़ती जा रहा है ।

१९६५ में भारत-पाकिस्तान संघर्ष के बाद अमेरिकी सहायता लगभग बिल्कुल बन्द हो गयी । उसके बाद पी० एल० ४८० के अधीन अन्न सहायता के लिये तो कर्ज फिर दिये जाने लगे, लेकिन अन्य सहायता अब भी लगभग पूरी तरह बन्द है । निक्सन प्रशासन बंगला देश की समस्या को लेकर किस प्रकार पाकिस्तान के राष्ट्रपति याह्या खां को न केवल सहायता दे रहा है, वरन् प्रोत्साहित कर रहा है, उसका भी हमारी अर्थ व्यवस्था पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है । भारत को न केवल बंगला देश से वार शरणार्थियों पर खर्च करना पड़ रहा है, वरन् सुरक्षा के लिए सैन्य संगठन पर भी अधिक व्यय करना पड़ रहा है ।

सांप-बहुंदर वाली इस स्थिति में योजना आयोग चौथा पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर रहा है । सरकारी अनुमान (या आशा) के अनुसार १९६६-७० में लगभग ७०० करोड़ रुपये मूल्य के विदेशी कर्ज मिल जाएंगे, जिनमें से लगभग ३०० करोड़ रुपये व्याज और मूल की अदायगी के बाद लगभग ४०० करोड़ रुपये सरकार के पास नये कर्ज के रूप में बच जाएंगे । अगर यह आशा सच भी साबित हो जाये तो आगे क्या होगा ? व्याज और मूल की रकम जिसकी अदायगी करनी होगी, हर

वर्ध बढ़ती जायेगी । इस प्रकार 'उधार ली' नीति के परिणाम भयंकर हो नज़र आते हैं । अभी तक बोधा योजना का कोई निश्चित रूप सामने नहीं आ पाया है ।

● आर्थिक विवशता एवं कुण्ठा की अभिनव दिशाएं

विदेशी ऋण की अधिकता के कारण भारत सरकार को रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा - यह ऊपर कहा जा चुका है । इससे विदेशों में हमारा सास बहुत ही गिर पड़ी । जनता भी अनास्था, आश्चर्य और निराशा में जाकूट हो गयी और उसमें असुरक्षा की भावना घर करने लगी । इस प्रकार यह रुपये और सरकार का ही नहीं हमारी वास्था का भी अवमूल्यन सिद्ध हुआ । इससे महंगाई बढ़ी और सरकार इस बढ़ती हुई महंगाई को रोकने में असमर्थ रही । महंगाई बढ़ जाने से असंतोष बढ़ा । असंतोष को रोकने के लिए ही भारत सरकार ने कृषि को अमेरिका के हाथों गिरवी रख दिया ।

एक ओर विदेशी मुद्रा की तत्काल बढ़ती जा रही थी तो दूसरी ओर देश के शरीर पर जॉक की तरह चिपके काले बाज़ार ने भी इसे अपने धीरे में फांस रखा था । डालर और पाउण्ड काले बाज़ार में बहुत महंगे थे । इस नकली तेज़ी ने अर्थ-व्यवस्था को बहुत नुकसान पहुंचाया - निर्यात हानि पहुंचाने वाला बन गया और आयात बन गया लाभदायक धन्या । सरकार ने आयात पर नियन्त्रण लगाया, पर इससे कच्चे माल की कमी हो गयी, और देश के कई उद्योगों की पूर्ण उत्पादन क्षमता पर इसका हानिकारक असर पड़ा । इससे एक के बाद एक कई हानियां सामने आयीं - कारखानों का बन्द होना, बेकारी फैलना, उत्पादन में लगातार कमी और दूसरे देशों की तुलना में कीमतों में सत्तक लगातार तेज़ी... और जब किसी देश की कीमतों और दूसरे देश की कीमतों में असमानता अधिक आ जाती है तो अवमूल्यन जरूरी हो जाता है ।

अवमूल्यन से कीमतें बढ़ गयीं और उपभोक्ता वर्ग और साधारण तथा मध्यम श्रेणी के लोग और अधिक कष्ट में पड़ गये । अवमूल्यन आर्थिक रूप से देश में कीमतें बढ़ाने का कारण बना । उन वस्तुओं की कीमतों पर जो विदेशी सामग्री अथवा विदेशी

आयात पर निर्भर हैं, कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई। विशेषकर विलासिता की वस्तुएं जैसे मोटरें, रेफ्रिजरेटर एवं अन्य आयातित वस्तुओं की कीमतें बढ़ गयीं। उपभोक्ता वस्तुओं - वनाज, तेल आदि जोकि विदेश से आता है, इनकी भी कीमतों में बढ़ाव ही अधिक आया। अवमूल्यन के बाद तुरंत ही कलकत्ता, बम्बई जैसे महानगरों में तो उपभोक्ता-सामग्रियां बाजार से अचानक गायब हो गयीं। छोटे-छोटे नगरों और गांवों का उपभोक्ता-वर्ग भी अपनी ज़रूरतों का चीजें पाने के लिए यहां-वहां मटकने लगा।

अवमूल्यन से महंगाई बढ़ जाने के कारण सरकार को अपनी योजनाओं की व्यवस्था के लिए और अधिक धन जुटाना आवश्यक हो गया। इससे जनता पर नये टैक्सों पर का बोझ निश्चिन्त होकर लाद दिया गया। अवमूल्यन से ताने, पातल, आदि के कर्तन, साड़ियों आदि के कारखानों की उत्पादन-क्षमता भी कम हो गयी। और देश की उत्पादन-क्षमता कम हो जाने से बेरोजगारी भी बहुत बढ़ गयी। आयात कम हो जाने से देश के उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ा। उद्योगों के बंद पड़ जाने से बेकारी बहुत ही बढ़ गयी। महंगाई का तो पूछना ही क्या था। गेहूं जो ४७ रु० माव का था, ५६ रु० क्विंटल हो गया। सरसों के तेल तथा अन्य साध तेलों में ७५ प्रतिशत बढ़ोतरी हो गयी, दालचीनी, लींग, इलायची चीनी - यहां तक कि दियासलाई तक के दाम बढ़ गये। दो-दो युद्ध भी हमने उभर ही केले थे (चीनी, और पाकिस्तानी आक्रमण)। महंगाई इसी कारण और भी बढ़ गयी।

● मोहम्मद और अफ नैराश्य की रैतारें

जनतंत्र राजनीति के क्षेत्र में तो सफल हुआ किन्तु सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में यह आज भी बुरी तरह असफल है। न प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार मिल सके और न ही उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो सका। समाजवाद का अधिक से अधिक प्रयत्न रहा कि वह आर्थिक विषमता दूर कर सके किन्तु दिनोंदिन पुष्ट होते पूंजीवाद ने ऐसा नहीं होने दिया। मध्यम वर्ग ही सबसे बुरी तरह बाह्य है। इस अकेले वर्ग में ही तीन वर्ग हो गये --

० मध्यम-मध्य वर्ग

० निम्न-मध्य वर्ग

उच्च-मध्यम वर्ग तथा मध्यम-मध्य वर्ग में दोनों ही 'ब्लैकस्ट कातर क्लास' के अन्तर्गत आते हैं। यह उच्च वर्ग से अपना सम्बन्ध जोड़े हुए हैं और निम्न मध्यम वर्ग से अपने को बहुत ऊपर समझते हैं। उच्च वर्ग जैसी सुविधाएं भी यह वर्ग चाहते हैं और इसी कारण स्वार्थवश सभी अपने-अपने पेशे और अपनी-अपनी आमदनी की वृद्धि चाहते हैं।

औद्योगीकरण के प्रसार के फलस्वरूप हमारी प्रवृत्ति भी व्यावसायिक होती जा रही है। प्रत्येक 'वस्तु' को हम लाभ और व्यवसाय की दृष्टि से ही देखने लगे हैं। सम्बन्धों तक का व्यवसाय होता है - पति अपनी प्रगति के लिये अपनी पत्नी का उपयोग करता है। यह स्थिति कहानियों में ही नहीं, बरन् जीवन से ही कहानियों में आ रही है। त्याग भावना का तो लोप ही हो गया है - हर जगह वही स्वार्थ, वही असहिष्णुता, वही आत्मसंकेन्दुता।

उपभोग और उग्रता की भावनाओं के पीछे विदेशों के समकक्ष आधुनिकता और उत्पादन के पिछड़ेपन का असंतुलन ही है। निर्वन हम इतने हैं कि कर्ज पर कर्ज लिये जा रहे हैं। किन्तु फिर भी विदेशों के समकक्ष ही अपना जीवन-स्तर रखना चाहते हैं। विदेशों से झोड़ लेने की भावना इस निर्धनता में हमारे लिए हानिकारक है। एक ओर तो निर्धनता बढ़ती जा रही है, दूसरी ओर महंगाई और तीसरी ओर सरकार हम पर टैक्स पर टैक्स लादती जा रही है।

सारे आम भ्रष्टाचार, उत्तरदायित्वहीनता और नैतिक एवं चारित्रिक पतन के कारण ही हो रहा है। चारों ओर स्वार्थ, 'फ्रैडा, कुर्सी' की लोलुप्ता का हाहाकार है। शिक्षा और सेवा का सरासर दुरुपयोग होता है। कृषि ही क्या हैक हम से ही जो बुराता है। 'ऐसों के लिये ही श्री नेहरू ने 'बाराम हराम है' का नारा लगाया था किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ और गैरजिम्मेदारी तो इतनी बढ़ गयी है कि

१. मोहन राकेश : फौजवादा का आकाश (कहानी)

जाण-जाण तलाक हो रहे हैं या बरिबरीन माता-पिता स्वयं ही उत्तरदायित्व से बचने के लिये अपने बच्चों को 'रिफारमेटरी स्कूल' भेज देते हैं ।

निरन्तर प्रहार और बर्ताचार से लोगों की सहन-शक्ति समाप्त हो गयी है और अब वह कुंठित, विदुष्य एवं अनास्था से भरते चले जा रहे हैं । जीवन की विसंगतियों से बचने के लिए आत्महत्या की भावना तक उनमें आ गयी है । जग से पलायन का यह नया तरीका है । विश्वयुद्ध का स्तरा हमारे सिर पर हर जाण मंडरा रहा है । अहिंसा का परित्याग करके अब फिर हम हिंसा पर विश्वास करने लगे हैं । अतः हिंसात्मक वृत्तियों एवं विश्वयुद्ध के मय के कारण मृत्यु-संक्रास तो मौनना ही पड़ेगा । वैसे यह आत्महत्या की भावना, और मृत्यु-संक्रास जैसे दोष हमें पश्चिम से ही मिले हैं ।

● दिशाहीन विदोह और पीढ़ियों का संघर्ष

वार्थिक विवशता के फलस्वरूप कुंठा, अनास्था एवं विकृतियों के कारण व्यक्ति आज मानसिक असंतुलन की अवस्था में आ गया है । चिन्ताओं और उन पर चिन्तन का कोई ओर-झोर न होने के कारण ही जगह-जगह आज 'ब्रेन वाइम्प्रासिस' और अन्य मानसिक बीमारियों के केस सुनाई पड़ते हैं । लोग स्लीपिंग पिल्स लेने पर सो नहीं पाते ।

महानगरों के जीवन में ही इन निरर्थक मूल्यों को स्थान मिला है । महानगर यांत्रिक हैं, कठोर हैं, निर्विकार, भावहीन, संवेदन निरपेक्ष हैं । अतिशक्तिशाली हैं, मानवीय नहीं, आसुरी हैं, उदात्त नहीं प्रचण्ड हैं । कस्बों जैसी कोमलता, मानवीयता रसबोध और भावबोध की क्षमता महानगरों में नहीं । कई लेखकों ने महागरों को 'रोबाटों' (यन्त्र मानवों) का शहर कहा है ^१ । यहां व्यक्तियों का बेहरा व्यक्तित्वहीन और सपाट है । महानगर का व्यक्ति संघर्षों, और असंतुलन की बाँव में तप रहा

१. महानगर विशेषांक : ज्ञानोदय, नवम्बर १९६६, पृ० २८५

है। दिशाएं उसकी लो गयी हैं। निरन्तर संक्रास, मानसिक असंतुलन उत्पन्न कर देता है - और यह क्षिप्तताया व्यक्ति और कुछ नहीं तो अपना इस दुर्गति - के लिये पुरानी पीढ़ी को ही गाली देने लगता है और उसे ही अपनी इस दुर्दशा का जिम्मेदार क्ताता है। असंगतियों और विसंगतियों का बोध विद्रोह को जन्म देता है -- विसंगति का सही बोध मेरे अन्दर तीन सत्त्यों को जन्म देता है - जीवन के प्रति मेरी संसक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव ।^१ विद्रोह और अस्वीकृत के भाव का विदेशों की भांति हमारे यहां भी नवीन्मेष हो रहा है। पुरानी मध्ययुगीन मूल्य दृष्टि, मानुक्तापूर्ण रोमान, कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक बोध तथा घरातलीय उदारवाद (जिसे हिन्दी में मानवतावाद अथवा तथाकथित भारतीय परम्परा की संज्ञा दी जाती है) के धुन्ध को इस नयी संवेदनशीलता और वस्तुपरक सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि ने सदा के लिये मिटा दिया है। किन्तु विद्रोह की यह भावना कुछ उपादेय सोचने के स्थान पर अधिकांशतः ध्वंसात्मकता का जोर ही बढ़ रही है। कभी-कभी लगता है कि मानव-सम्पत्ता के तहस नहस होने में अब अधिक देर नहीं है। चीन में रेडगाई, यूरोप-अमरीका में बाटल या हिप्पी के रूप में पुरानी सभी मान्यताओं के प्रति विद्रोह हो रहा है। हमारे देश में जाये दिन विद्यार्थियों का अपने शिक्षकों या बांस्स चान्सलरों आदि कि के खिलाफ प्रदर्शन, नारे लगाना, मूस हड़ताल करना - यह सब समाज की विद्रोही प्रवृत्तियां ही हैं। घर में विद्रोह, समाज में विद्रोह और देश में विद्रोह। मर्यादा, शीलता और त्याग की बातें आज की पीढ़ी को निरर्थक तथा मूल्यहीन लगती हैं। नयी पीढ़ी निरन्तर अवसरवादिता तथा मौलिकवाद से घिरती जा रही है। यह लोग कोई भी निषेध वृत्ति नहीं मानना चाहते। निषेध-वृत्ति की अवमानना नयी पीढ़ी को गैरजिम्मेदारी नहीं लगती - बल्कि वह समाज के प्रति अपने इस विद्रोह को 'अतिजिम्मेदारी' समझती है।

युवापीढ़ी अपनी विकरास परिस्थितियों से स्वभावतः परेशान है। इस वातावरण में उसका दम घुट रहा है। विद्रोह की दिशा भी स्पष्ट नहीं है। चाय की मेज पर

ताने उसे दिन भर बाहर रहने को मजबूर करते हैं और दिन भर की मजबूरियां उसे रात तक वापस घर भेजती हैं। परिणामस्वरूप उसके स्वभाव में फनकड़पन नहीं, सिजलाहट है, सिसियाहट है। हर समय नयी पीढ़ी रिक्तता का अनुभव करती है और अपने भीतर एक सोलतापन पाती है। इसलिये न तो युवा पीढ़ी में कोई आत्मविश्वास है और न ही वह सही ज्यों में क्रांतिकारी है। उसे तो क्रांतियों के बारे में पढ़ने का फुर्सत तक नहीं है। सब बात तो यह है कि युवा पीढ़ी को हर बात से घृणा है क्योंकि वह आशंका से भरपूर है और सोचता है कि वह किसी ओड़े आचरण को ढंक्ने की बात न हूँ। पुरानी पाठियों की 'अच्छी-बच्छी' बातों ने कल्पना और भ्रम की दावार खड़ी करने की अतावा और क्या किया है ?

युवा पीढ़ी की कल्पना में राष्ट्र की भावना नहीं समा पायी है। धर्म, भाषा, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि संकीर्ण इकाइयों का प्रभाव इतना गहरा रहा है, इन संकीर्णताओं को ही बुनियादी मूल्यों का जामा पहना कर पिछले दो दशकों में हर प्रकार के मंच पर से इतना शोर किया गया है कि युवा पीढ़ी इसी आतावरण से ग्रहण किये गये संस्कारों में अपने को जकड़ी हुई पाती है। हर पार्टी दूसरी पार्टी का जिस मूल या प्रमाद के लिये आलोचना करता है, स्वयं उसी मूल या प्रमाद का शिकार हो जाता है। जिन दोषों के लिये वह दूसरे को निन्दा करती है वे दोष उसमें भी भरे होते हैं। स्थिति की गंभीरता का अनुमान देश में दिनोदिन बढ़ती अनुशासनहीनता और तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति से ही लगाया जा सकता है। नियम और कानून की अवहेलना और असंतुष्ट युवा पीढ़ी को एक निर्दय और क्रूर संतोष प्रदान करती है।

युवा पीढ़ी क्या तोड़ना ही तोड़ना चाहती है ? या तोड़ने के बाद कुछ बनाना भी चाहती है ? शायद वह कुछ 'नया' करके दिखना चाहती है। लेकिन वह 'नया' क्या होगा ? इसका उसे अभी सहसास नहीं है। इस अजाने 'नये' की खोज में ही नयी पीढ़ी ने देश की राजनीति उल्ट दी। पारिवारिक सम्बन्ध नष्ट भ्रष्ट कर दिये। पुरानी पीढ़ी को निकम्मा घोषित कर दिया, पर उसकी नये की प्राप्ति की साथ साथ तक पूरी नहीं हो सकी। और इसी कारण नयी पीढ़ी मजबूरियों का

शिकार बनता जा रहा है। राष्ट्र के रूप में उसके सामने कोई आदर्श नहीं है, कोई नीति नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है और इन त्रुटियों को दूर करने के लिये - न तो उसके पास सम्पन्नता में सिद्ध संकल्प-शक्ति है और न ही कोई उचित दिशा।

पुरानी पीढ़ी के पास वास्था थी। उसने गांधी जी के नेतृत्व में एक ऐसे भारत का सपना देखा था, जिसमें निर्बल को भी न्याय मिलेगा और युग-युग से सताये गये किसानों - मजदूरों के बच्चे राष्ट्र की बागडोर सम्हालेंगे और इसी कारण पुरानी पीढ़ी इसी सपने के सच्चे होने के इंतजार में अपना जीवन काट ले गयी। लेकिन नयी पीढ़ी यह पाती है कि बिना पैसे या पैरवां क्यवा 'सोर्स' के कोई काम नहीं होता। न्याय, त्याग और तसस्सा आज इतने महंगे हैं कि नयी पीढ़ी उनका मूल्य ही नहीं चुका सकती। इन भीषण परिस्थितियों में क्या रता, ही उसे उत्तराधिकार में मिली है।

इस प्रकार 'नया पुराना' या 'पुराना नया' इसके चक्कर में हम कमी पीढ़ियों का नारा देते हैं और कमी ऐसे व्यस्त-स्वार्थों के आधारपर विभाजन करते रहे हैं कि पूरा भारतीय परिवेश ही एक घोटाले की स्थिति में धंसता जा रहा है। गलती सब हमारी है। क्योंकि जितना हम बदले नहीं हैं, उससे कहीं अधिक हम अपने बदल जाने की कसमें खाते हैं। और नये पुराने का यह फगड़ा यों तो हर क्षेत्र में है किन्तु साहित्य के क्षेत्र में बहुत अधिक है।

नये-पुराने का दिशाहीन असंतुलित संघर्ष गहराई तक पैठा हुआ है। आज की निराशा, पराजय-वृत्ति, आस्थाहीनता, आत्म-हत्या की प्रवृत्ति, मृत्यु-संक्रास, व्यक्ति को सहज नहीं रहने देती। हताशा के मंवर जाल से निकल कर 'कई कुहरे' साफ करके तथा 'कई जावाजों के बीच' रहते हुए भी अंतरात्मा की जावाज सुनने पर ही हम इस मानसिक असंतुलन और विसंगतियों के बीच सहजता से रह सकते हैं। निश्चय-अनिश्चय, संगति-विसंगति की स्थिति को हर काल में रहती ही है अतः आज के व्यक्ति को भी धैर्य से काम लेना चाहिए। फूँटे तनाव और दिशाहीन विद्रोह से नयी पीढ़ी को कोई भी फायदा नहीं होगा। वरन् उसकी कुंठा और संक्रास बढ़ते ही जायेंगे।

● महानगरों का यांत्रिक-जीवन और उसड़े हुए लोग

अकेलेपन, अजनबी स्थिति, आत्महन्ता मनोवृत्ति, संक्रास, उमस, कठघरे, बदनसीब निवासिन, अनावश्यक त्रासदी पर ही हमारी दृष्टि बाज ठहर जाती है। यह सारा प्रवृत्ति बाज के मनुष्य को महानगरों की ही देन है। पसीने से लथपथ सूरज, धुवाँ में भटकती सुबह रोज़गार-दफ़तर के सामने कन्धे झालता भीड़ - बस-ट्राम-ट्रेन के पक्षियों पर बदहवास लोग - अपने-अपने नशे में गर्क अपना-अपना बात करती शामों या फुटपाथ पर बायी रात नांद की गोला का असर उतरने पर खुली हुई बु यतीम की आँखों की ही चर्चा बाज महानगर की चर्चा है। किन्तु पूर्वजों से खुली और साफ़ देखनेवाली वायुनिकता भी इन्हीं महानगरों में ही है। गगनबुम्बी अट्टालिकारं, कार्बोजिरे का शिल्प, औद्योगिक उपलब्धियाँ, मशीन की रेडीमेड सुविधारं, ऐशोबाराय की रंगीनी, फिलमिलातीनियान लाइट्स, सुशुभना सुबह, परियों की मांति मस्त-मस्त उड़ती शाम भी इन्हीं भयंकर शोर वाले महानगरों में हैं। यही नहीं अंतरिक्ष में बनती सुरक्षा-कालोनी, चांद पर गड़ते हुए फंडे, एक हरी बटन और नाकती हुई मशीन, एक लालबटन और एक जाण के संकेत में महाद्वीप के महाद्वीप ध्वस्तं, सटकते कम्प्यूटर, सलाम बजाते रोबोट, विज्ञान का जगमगाता हुलाहू... यह मोहक सम्भावना भी महानगरों में है। प्रत्येक शिल्पी, चित्रकार, दार्शनिक, सुधारक, साहित्यकार और वैज्ञानिक नगर को बेहतर, और बेहतर बनाने का कोशिश में ही लगे हैं। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली... एक दौड़ लगी महानगर की तरफ़ भागने की और महानगर भी बड़े बेय से मड़े की मांति जाल डाल कर बैठ गया... काफी हाऊस, बार, नाइट-क्लब, जमजमाते होटल, फिलमिलाते सिनेमा हाउस।

साथ ही परम्पराएं टूट रही हैं। शास्त्रीय और गंधीर संगीत के स्थान पर हिक्ला, उथला और शोर मचाने वाला फिल्मी संगीत लोगों को अधिक पसन्द जाने लगा है। शास्त्रीय नृत्य जो हमारी आत्मा तक पहुंचते थे, भी अब वच्चे नहीं लगते। उनका स्थान अब पाश्चात्य नृत्य - 'ब-ब-बा', 'ट्रिबस्ट' और 'राक एण्ड रोल' बेगरह लेते जा रहे हैं - ऐसे नृत्य जो नंगी मांसल टांगों से लेकर केवल कूल्हों तक पहुंचते हैं और आत्मा से उनका कोई मतलब नहीं होता। प्राचीन रीति रिवाज

जो अच्छे भी हैं उनका मजाक बनाया जा रहा है। पंपराएं टीन-टम्पर सहित उड़ी जा रही हैं और उनके स्थान नये हो गये हैं। कोई भी नयी परम्परा इतनी सशक्त नहीं है जो रिक्तता को भर सके और हमारी वास्था पर हाया कर सके। विवाह, प्रेम, सेक्स सम्बन्धी मान्यताएं तो बहुत ही आगे निकल गयी हैं - विवाह, अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय लेकिन मात्र डिगियों का टकराव है। जीवन-साथी का चुनाव कम ही करते हैं और सेक्स तो फ्रायड से भी आगे निकल चुका है - देहवाद, औरतवाद, भोगवाद और अन्त में नग्नतावाद... यही शायद आज का सत्य है। असंतोष की आंधी के सामने लोग ठहर नहीं पा रहे हैं। रह-रह कर उसड़ते ही जाते हैं। कब आंधी शांत होगी, कौन कह सकता है। लेकिन इस आंधी को लाने में पश्चिम का हाथ है और अभी भी ऐसे बहुत से लोग हैं जो निर्भीक इसका सामना कर सकते हैं -- पश्चिम की युवा पीढ़ी अतिशय भौतिकता से झुटकारा चाहती है। उसमें आध्यात्मिक मूल्यों के लिये झटपटाहट है। हमारा समाज कभी भी अतिशय भौतिक नहीं रहा - आज भी नहीं है... भारत एक गरीब देश है। भारत जैसे देश में युवा पीढ़ी को एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी ही होगी। वह एक प्रयोजनहीन जीवन बिताने की स्थिति में नहीं।^१ ईश्वर करे श्रीमती गांधी की यह वास्था और विश्वास सब साबित हों।

संयुक्त परिवार पुरा का विघटन

जब तक समाज प्रारंभिक अवस्था में था, तब तक सामाजिक संगठन में 'केन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति थी, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, वर्तमान सम्पत्ता (पश्चिमी सम्पत्ता) की तरफ़ धेर बढ़ाता गया, त्यों त्यों सामाजिक संगठन में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका व्यक्ति के जीवन पर एक गहरा प्रभाव देखने लगा। जब तक व्यक्ति का जीवन विरादरी में ओत-प्रोत था, तब तक वह विरादरी की हर बात में ज्यादा से ज्यादा भाग लेता था, तब माई माई के ज्यादा नजदीक था, रिश्तेदारी को बहुत महत्व देता था। किन्तु आज तो अपने किसी स्वजन की मृत्यु

का तार पाने पर हम या तो आर्थिक रूप से विवश होते हैं या फिर यह कह कर अपने को समझा लेते हैं कि मरने वाला तो मर ही गया, अब गांव जा कर क्या होगा ? कोई रिश्तेदार बीमार होता है तो जाने के फगड़े से बचने के लिए हमारी पूरी कोशिश यही रहती है कि टेलीफोन से हालचाल पूछ लें और सांत्वना प्रकट कर दें, बस ।

‘विकेन्द्रीकरण’ की प्रक्रिया व्यक्ति को जात-बिरादरी के बंधनों से मुक्त कर देती है, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को फफों का अवसर देती है, वह बिरादरी के दकियानूसी न्याय से शासित होने के बजाय एक संगठित न्याय-व्यवस्था से शासित होने लगता है, बिरादरी के संकुचित-क्षेत्र में चलने के बजाय विशाल-समाज के विस्तृत-क्षेत्र में चलने लगता है, उसमें शिक्षा-दीक्षा लेने लगता है, उसका व्यक्तित्व उभरने लगता है ।^१

बाजीविका के लिये ही ‘रुधिर तथा मूत्र’ के सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ था, जब यह सम्बन्ध बाजीविका के प्रश्न को हल करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब मनुष्य इन सम्बन्धों को तोड़कर अलग हो जाता है, अपने जीवन के क्षेत्र को विकसित करने लगता है, उसके लिये जात-बिरादरी के संकुचित दायरे में से निकलना और विस्तृत क्षेत्र के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक हो जाता है । बाजीविका के प्रश्न से विवश हो कर वर्तमान सम्य मनुष्य को अपने जीवन की दिशा बदलनी ही पड़ती है । इससे रुधिर के बंधन भा टूट गये, जात-बिरादरी के तो बंधनों को पूछता ही कौन है ?

तलाक और संतति-निरोध जैसे तरीके भी हमारी पारिवारिक भावना पर भयंकर प्रहार कर रहे हैं और पारिवारिक विघटन को लिये काफी सामा तक जिम्मेदार हैं । कुंठा, उदासीनता और अजनबीपन को यह नयी वृत्तियां तो पारिवारिक बंधनों के लिये अत्यन्त ही घातक हैं । आस्था और विश्वास के बल पर ही परिवार बने रह सकते हैं । संशय और अविश्वास तो उन्हें एक पल में तोड़-फोड़ डालते हैं ।

इस प्रकार संयुक्त परिवार की हमारी भारतीय-प्रथा पाश्चात्यकरण, बांधोगीकरण एवं रोजी-रोटी की समस्या के कारण टूटती जा रही है। किन्तु केवल रोजी-रोटी ही नहीं, आज हमारे घरों में 'कुछ ऐसा' है जो घर के भीतर कुछ और है और घर के बाहर कुछ और। घर के सदस्यों को ही एक दूसरे पर अविश्वास और आशंका है। इसलिए भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिये भी परिवार टूट जाते हैं। परिवार तो श्रमानदारी से ही बने रह सकते हैं।

इस प्रकार सम्मिश्रित परिवारों के टूट जाने से अब सेक्स का सामाजीकरण भी नहीं हो पाता है। चाची-बाबा, बुआ-फूफा, दादी-दादा, मामी-मामा, भाई-भाभी जैसे रिश्ते संयुक्त परिवारों के टूटने के साथ ही टूटते जा रहे हैं। नजदीकी रिश्ते अब बस कुछ ही रह गये हैं - पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका अथवा मित्र-मित्र जैसे थोड़े से रिश्ते। इस प्रकार भारतीय परिवार आज काफी बदल गया है। पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-बहन, सभी रिश्तों में जमीन-वासमान का अंतर आ गया है। माता-पिता पर अब तो आलोच्य दृष्टि से कहानियाँ तक लिखी जाने लगी हैं।

000

अमरकान्त की 'जिन्दगी और जॉक' (१९५६) का खूबो यद्यपि स्वयं उत्पादक स्काई नहीं है, पर वह दूसरों का गवाह भी नहीं है। वह अपनी दारुण परिस्थितियों का गवाह स्वयं है, जो अस्तित्व के संकट को फैल रहा है और मौत को इतल रहा है। यद्यपि लेखक ने अन्त में 'सुतासा' देकर कहानी के सौन्दर्य को थोड़ी क्षति पहुँचाई है, फिर भी ये वाक्य खूबो को संपूर्ण संकट में अभिव्यक्त करते हैं - पीस्टकाई लौटाते समय मैंने उसके चेहरे को गीर से देखा। उसके मुँह पर मौत की भावना छाया नाच रही थी और वह जिन्दगी से जॉक की तरह विम्टा था - लेकिन जॉक वह था या जिन्दगी? वह जिन्दगी का सून चूस रहा था या जिन्दगी उसका? - मैं तय न कर पाया।

खूबो सन्दर्भ से कटा हुआ व्यक्ति नहीं है। वह अपनी जिवीविषा के कारण जीवन के सारे सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। मनुष्य की जिवीविषा फिर-फिर जीती रहती

हे, यह मानव जीवन का कठुण इतिहास है और इस कठुणा को लेखक ने पूरी कुशलता से इस कहानी में चित्रित किया है। बहुत घुटन, टूटन, ऊब तथा विवाद में जीता हुआ रज्जा एक-एक क्षण को दांत से पकड़ता है।

नई कहानी में प्रेम सम्बन्धों की सारी प्रतीति ही बदल गयी है। रज्जा एक दिन पुलिस चौकी के पास घूमता हुआ दिताई देता है - चौकी के सामने बेंच पर बैठे पुलिस के दो-तीन सिपाही कोई हंसी-मजाक कर रहे थे और उनसे थोड़ी ही दूर पर नीचे एक नंगी औरत बैठी हुई थी। वह औरत एक पगली थी, जो कई दिनों से शहर का चक्कर काट रही थी। वह औरत बक्सूरत, काली तथा निहायत गंदी थी।... रज्जा उस पगली के पास हा सड़ा था। वह कभी संकित बांतों से पुलिस वालों को देखता, फिर मुंह फैला कर हंस पड़ता और मुट्ठर-मुट्ठर पगली को ताकने लगता।... रज्जा पुलिस वालों की लापरवाही का फायदा उठाते हुए (और) बागे बढ़ गया था और सिर नीचे झुका कर बत्यन्त ही प्रसन्न हो कर हंस्ते हुए पुचकारती आवाज़ में पूछ रहा था - 'क्या है पागलराम, भात सावोगा?' इतने में पुलिस वालों में से एक ने कड़क कर प्रश्न किया, 'कौन है बे साजा, बलता बन, मारते-मारते मूसा बना दूंगा।' रज्जा वहां से थोड़ा हट गया...

उसके बाद - किन्तु मामला यहीं सत्म नहीं हो गया। (देखा) रज्जा नंगी पगली के बागे जागे जा रहा था। पगली कभी इधर-उधर देखने लगती या लड़ी हो जाती तो रज्जा पीछे हो कर पगली की अंगुली पकड़ कर थोड़ा बागे ले जाता।... वह पगली को सड़क के दूसरी ओर स्थित क्वार्टरों की छत पर ले गया।... क्वार्टरों की छतें सुती थीं। उन पर मोहल्ले के लोग जाड़े में घूम लिया करते और गरमी में रात को लावारिस सोबा करते थे...

रज्जा और पगली वहीं छत पर चले गये। फिर रज्जा काम करने चला गया और जब दो-तीन दिन वह नजर नहीं आया तो लेखक ने कहा - '... पत्नी ने मुस्करा कर बताया - 'बरे वही बात है। रज्जा पगली को छत पर झोड़ कर नरसिंह बाबू केवहां काम करने चला गया।... वह एक काम करताओर मौका देख कोई बहाना बनाकर क्वार्टर की छत पर जा कर पगली का समाचार ले जाता।

नरसिंह बाबू की स्त्री ने जब उसे खाना दिया तो उसने वहाँ भोजन नहीं किया, बल्कि खाने को एक कागज़ में लपेट कर अपने साथ लेता गया। उसने वहाँ खाना खुद थोड़े खाया, बल्कि उसे वह ऊपर छत पर ले गया। रात के करीब ग्यारह बजे की बात है। रजुआ जब ऊपर पहुँचा तो देखा कि पगला के पास कोई दूसरा सोया है। उसने आपसि की तो उसको उस लफंगे ने खूब पीटा और पगला को लेकर कहाँ दूसरी जगह चला गया... तभी से रजुआ बरन की बहू के यहाँ पड़ा हुआ है।

जेनेन्द्र-अज्ञेय के उस द्वायावादा प्रेम से इस प्रेम का स्वप्न कितना भिन्न है उसे सहज ही समझा जा सकता है। यह प्रेम वायवाय नहीं, ठोस व्याथ के परातल पर सड़ा है।

‘टु द लास्ट मोमेण्ट’ फास्ट’ का ‘जिन्दगी और जॉक’ से सबसे ज्वलंत उदाहरण है। ‘स्ट्रगल’ या ‘फास्ट’ शब्दों में जो अर्थवत्ता है, अर्थात् जीने की जो उदाम कामना है, इस विषय को लेकर लिखी गयी ‘जिन्दगी और जॉक’ अपने ढंग की अपूर्व कहानी है। दृढ़तम व्यक्ति भी दर्मनीय परिस्थितियों में किस तरह जीवन वरेण्य मानता है और अंतिम दम तक जीने का मोह मोह नहीं बमिताया, त्याग नहीं पाता - अमरकान्त ने उसे बड़ी ही गंभीरता एवं तन्मयता से चित्रित किया है। रजुआ का या रजुआ साला जयवा रजुआ भगत निरपराध पिटता है। व्यक्तियों के स्वार्थ के कारण उसका सामाजीकरण हो गया है। वह सदा उत्साह की मुद्रा में रहता है - बाहे औरतों से दिल्लगी करते समय, पगली के साहचर्य में, भगताई में, हेजे में, सुजली में, यानी अपने तन में निपकी प्रत्येक विभीषिका में। और जब वह मौत की मोचण-द्वाया के बीच धिरा है तब भी पत्र लिखाकर सिर पर कोर के बैठने से जाने वाली अशुभ मृत्यु को टोटका करके टाल देने की तत्पर है। इस कहानी में अपूर्व कुछ है तो वह मानव का अपूर्व जिजीविषा।

अमरकान्त कभी फेसल के चक्कर में नहीं पड़े। न रंजमात्र जिन्दगी से घटके ही। ‘जिन्दगी’ पर उनकी पकड़ बचूक है। शिल्प भी इनका सरल और सहज है। यह भी प्रगतिशील आंदोलन से सम्बद्ध रहे हैं। अतः अशु जी के अनुसार सीधी सरल, सोदेश्य और प्रगतिशील कहानियाँ लिखते हैं।

वास्तव में यह कहना ठीक है कि अमरकान्त के बिना आज की नयी कहानी की कोई माँ बर्बाद अधूरी है। जब कहानी में काव्य-कला, बिम्ब-संकेत और संगीत के राग की तलाश हो रही थी, तब अमरकान्त की कहानियों ने इनमें से किसी की माँ परवाह किये बिना अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। इसका कारण उनकी कहानियों की निहायत सामान्यता और साधारणता है। इन कहानियों के मूल में सहज मानवीय यथार्थवाद की संवेदना है, जो बिना किसी कला और 'वार्टिस्ट्री' के अभिभूत करती और अपने सहज प्रवाह में पाठक को 'ड्रिफ्ट' कर जाती है। इसे 'ड्रिफ्ट' में जो आभास हीनता और सादगी, साथ ही एक दुर्निवार धारा का तेज प्रवाह है, वही अमरकान्त की शक्ति है।

अमरकान्त की शैली जितनी सीधी, सरल और निर्व्याज है, जितनी शिल्पहीन सादगी है, उतनी ही गहरी अन्तर्दृष्टि और तरल मानवीय संवेदना है। व्यावस्तु और पात्रों के प्रति उनका रागात्मक सम्बन्ध उतना ही निबिड़ है। उनकी कहानियों में वस्तु-पात्र के चुनाव का कोष ही उतना प्रत्यक्ष (डायरेक्ट) और सहज है कि वही सहजता और सादगी, अभिव्यक्ति तक ज्यों की ज्यों चली जाती है - सहज अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति। कहीं कोई दुराव-द्विपाव, उत्पन्नाव अथवा कटाव-हंटाव नहीं है। यथार्थ के सशक्त और जीवन्त चित्रों का यथार्थवादी चित्रण ही हर जगह हुआ है। ये कहानियाँ ऐसी हैं जो बिना किसी वाक् चातुर्य, कोशिल अथवा चमत्कार के जीवन की उद्दाम मानवीय जिजीविषा को मूर्त कह करती हैं और सामान्य जीवन से ही विराट् संभावनाएं उकेरती हैं। नवीन आर्थिक परिस्थितियों से जूझता मध्यवर्गीय समाज, उसकी विवशताएं, पीड़ाएं, प्रवचनाएं और जीवन की दुर्दमनीय भूल का जैसा मर्मस्पर्शी चित्रण अमरकान्त ने किया, वह नयी कहानी की सशक्त कड़ी है।

'जॉक' प्रतीक अवश्य है किन्तु इस तरह के प्रयोग प्रयोग की दृष्टि से बदलने में सहायक हैं। प्रयोग, जो प्रयोग के लिये नहीं किया गया। यों प्रतीक का सांकेतिक सार्थकता, बड़ी बात को संकेत और व्यंजना द्वारा स्पष्ट कर सकना, पूरे परिवेश को घुनित कर सकने की शक्ति और संश्लेषण की सार्वभौमिकता - स्थिति को समझने, उसकी गहराई या घनत्व (इन्टेन्सिटी) के संवेदन में सहायता अवश्य देती है, किन्तु गतिशील यथार्थ को समझने का जो प्रयत्न विन्दगी और जॉक में किया गया

हेवह वस्तुतः प्रतीकों के प्रयोग की दृष्टि को ही बदल देता है । और लगता है प्रतीक, प्रतीक नहीं लाने चाहिए, अलग से उनका कोई अस्तित्व भी नहीं होना चाहिए । प्रतीकों को कहानी में ही समा जाना चाहिए ।

एक समीक्षक के अनुसार अमरकान्त की लम्बी कहानी 'जिन्दगी और जोक' स्तनी बिखर जाती है कि अंत में इसे सम्हालने की कोशिश बेकार होती है । इसकी रचना उन्हें व्यंग्य और करुणा के स्तर पर हुई लगती है । किन्तु केवल व्यंग्य एवं करुणा के बल पर कहानी कैसे लिखी जा सकती है, फलस्वरूप - सुक-सुकी या पति-पत्नी के माध्यम से एक भिन्नमंगे की गाथा को उसके बदलते उपेक्षित व्यक्तित्व को चित्रित करने का प्रयास और लेखक के बार बार कहानी और पाठक के बीच लड़े होने से सृजन - प्रक्रिया को स्तनी चोटें लगती हैं कि कहानी में स्तनी दरारें पड़ जाती हैं कि इसका शेरजा बिखर जाता है । सण्डहर का भिन्नमंग गोपालराम से खुवा बनता है, खुवा से बु खुवा साता, खुवा साता से खुवा भगत । वह अपनी हस्ती को बनाने के लिये अपना मजाक उड़वाता है और मार भी साता है । छोटी जात की औरतों से बेइश्वाड़, पगला से गृहस्थी स्थापित करने की उसकी कोशिश, बीमारी से घिरकर बच निकलने की उसकी किस्मत जादि के विवरण सुक-सुकी शैली में दिये गये हैं । इसी तरह शनीवरी देवी के विवरण जादि कहानी में अनावश्यक विस्तार की जरूरत सूचना देते हैं । लेखक न केवल इन विस्तारों से कहानी की सृजन-प्रक्रिया को मंग करते हैं, अपनी सस्ती भावुकता से इसे अवलूट भी करते हैं । वह सीधे पाठक से सम्बोधित होकर दखल देने का परिचय अनेक स्थलों पर देते हैं । इसी तरह भिन्नमंगे की जो खाने की मिलता है उसका एक-एक विवरण भी अनावश्यक जान पड़ता है । कहानी के अन्त में इसके स्तर को इन शब्दों में उठाया गया है... 'लेकिन जोक वह था या जिन्दगी ? वह जिन्दगी का खून बूस रहा था या जिन्दगी उसका ? - मैं तय न कर पाया ।' इस संकेत से मन को गहरी ठेस तो लगती है, लेकिन यह इतनी गहरी नहीं कि कहानी की दरारों को मुलाकर बेसुब कर सके । 'मैं तय न कर पाया' - जिस तरह आवश्यक है उसी तरह कहानी अनावश्यक विवरणों से लटी हुई है । यह पता नहीं चलता कि दरारें कहानी की गवाही देती हैं या कहानी दरारों की ।^१

इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अनावश्यक विवरण जैसी कहानी में कोई दरार नहीं है वरन् यह विवरण-वातावरण की सजीवता एवं कहानी की संवेदना को प्रसर करने में और सहायक ही सिद्ध होते हैं। हां, लेखक का रूप सामने आ जाना (पति-पत्नी के रूप में ही) कहानी को कमजोर बनाता है। रज्जुवा के जो 'हमेश्वर' पति-पत्नी के माध्यम से लेखक ने दिये हैं, उन्हें उनके बिना केवल रज्जुवा के ही माध्यम से दिया जा सकता था। कहानी तब निश्चित ही और भी सुन्दर बन गयी होती।

एक 'डिप्टी कलकटरी' (१९६६) के शकलदीप बाबू हैं जो 'डिप्टी कलकटरी' की लिस्ट में लड़के का नाम न देस कर भी वाशा लाये रहते हैं - शायद अगली बार नाम आ जाये। अपनी उपहासास्पद स्थिति का रहसास होते हुए भी कितनी ही लोग प्रगति की वाशा लाये 'प्रतीक्षा' कर रहे थे। धीरे-धीरे का बांध एकदम न टूटा था। पीड़ा भरी प्रतीक्षा इस कहानी क्या, इस काल की कहानियों का मुख्य स्वर है। कुछ लोगों ने इस भाव-बोध को 'रोमांटिक' भी कहा है किन्तु वस्तुतः इसमें जीवन का गहरा पीड़ा-बोध है, वह हर तरह की तीव्र रोमांटिक भावनाओं से सर्वथा भिन्न है। जहाँ भी जिन्दगी गंभीरता से ग्रहण की जाती है, वहाँ निराशा अनावश्यक लगने लगती है।

यथार्थ के लण्ड को नये-नये पहलुओं की उभारने और उसके अंदर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों के चित्रण इस कहानी की कलात्मक अन्विष्टि है। इसमें लेखक चूंकि अनुभव की निष्ठा से ऊपर उठा है और बड़ी वास्तव्यता तथा जीवनगत विश्वास रखता है। कलात्मक कलातत्त्व की भी परम सफलता इस कहानी में देखी जा सकती है। कलागत यह सफलता कहानी में अतिरिक्त शक्ति ही नहीं देती, वरन् इससे कहानी में अनुभूति की प्रसरता और ऊपर से बिसरती दिखती हुई व्यथा स्थितियों को, हेतु के प्रकाश को उजागर करने की सहज क्षमता प्रदान करती है।

जैसे स्वातंत्र्योत्तर भारत प्रगति की वाशा लगाये प्रगति की प्रतीक्षा करता है बिल्कुल वही डिप्टी कलकटरी के शकलदीप बाबू में साकार हुआ है। माता-पिता या इस वर्ग के प्रति नयी पीढ़ी का क्रमशः बदलता हुआ स्वर भी इस कहानी में चित्रित हुआ है।

‘डिप्टी क्लक्करी’ आज के मध्यमवर्गीय प्रत्येक व्यक्ति का आकांक्षा की सीमा दिखाती है। स्थिति फूटी है, अनिश्चित है, अभावग्रस्त है, भविष्य का कोई तय नहीं और इन्हीं सुशियों के सहारे बड़े-बड़े सपने देखने के निरर्थक प्रयास हैं। जिन्दगी जुवा है। नारायण वह शक्ति है जिसका शिक्षित होना ज़रूरी समझा जाता है पर उसे पैर रखने और जमने का ‘सोर्स’ नहीं। वह बलक भी हो सकता है, बड़ा अफसर भी हो सकता है, बेकार भा रह सकता है, सब संयोग है। फलतः मुस्तार साहब डिप्टी के पिता, उनकी स्त्री डिप्टी की माँ, बहू डिप्टी बनने की लम्बी साध में, एक भयंकर मिथ्या के शिकार हैं। ‘डिप्टी क्लक्करी’ में मध्यवर्गीय जीवन का एक व्यापक स्तर पर हाँसला - उसके चित्रण का लेखक का प्रयास स्लाघनीय है। कहानी में विभिन्न स्थितियों का जिक्र है। जूझने, संघर्ष करने के मर्म की बड़ी तल्लीनता से उतारा गया है।

अमरकांत की करीब-करीब हर कहानी में स्वातंत्र्योत्तर नवीन आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने वाले निम्न मध्यवर्गीय व्यक्तियों की लाचारी, पीड़ा, आत्म प्रवचना और जिजीविषा आदि मनःस्थितियों का कलापूर्ण मार्मिक चित्रण मिलता है।

‘डिप्टी क्लक्करी’ और ‘जिन्दगी और जॉक’ के लिये डा० बब्बनसिंह का कहना है कि - अमरकांत की ‘डिप्टी क्लक्करी’ तो एक न्यूरोटिक मात्र की कहानी है। ‘जिन्दगी और जॉक’ उस तरह के प्रभावों से मुक्त होकर आधुनिकता के बोध को जगाती है।^१

‘दोपहर का भोजन (१९५४)’ कहानी में भी सामाजिक चेतना को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न संकेतों द्वारा उमारा गया है। अमरकान्त सोदेश्य लिखते हैं। इनकी जीवनदृष्टि समष्टिमूलक है, जिसमें प्रगतिवादी चेतना की भी सूक्ष्म अभिव्यक्ति मिलती है। ‘दोपहर का भोजन’ में एक विपन्न परिवार के जीवन का कठुण चित्र है। सिद्धेश्वरी - माँ अपने तीन पुत्रों और पति को दोपहर का भोजन

१. डा० बब्बनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य - आलोचना की चुनौती
(१९६८), बनारस, पृ० १११ ।

करवाते समय उस विपन्नता, विवशता की ओर संकेत कर जाती है जो समाज की आर्थिक विषमता का परिणाम है। यह संकेत ऐसा नहीं लगता कि आरोपित है, बल्कि कहानी के माँतर से सहज रूप में उभरता है। पति का पालथी मार कर धीरे-धीरे मौज्ज करना बूढ़ी गाय के जुगाला करने के समान है। अभाव की स्थिति ऐसे चित्रों से गहरी होता जाता है।

मोहन राकेश को लगता है कि इस कहानी की उपज उसी मनोभूमि से हुई है जिससे कोई भी कविता उपजती। परन्तु कविता रूप देने पर शायद वैचारिकता के स्पर्श से न बचा जा सकता। संवेदों की कम्पलेक्सिटी को जो सहजता कविता में प्राप्त होनी चाहिए, वही इस कहानी में संभवतः और माँ कोमल रेशों से लायी जा सकती है। इन कम्पलेक्स संवेदों का क्षुब्ध सहज अभिव्यक्ति और किसी माध्यम से शायद हो ही न पाता।^१

ज्ञाना क्रम है - पति जुगाला करते हुए - गाय की माँति धीरे धीरे खाता है, तो सिद्धेश्वरी की मनःस्थिति एक मथकर रख देनेवाली दमनीयता का संकेत करती है और डा० बाष्णीय के अनुसार वह 'दोपहर का मौज्ज' उसी स्थिति के असंख्य भारतीय परिवारों में होने वाले मौज्ज का प्रतीक बन जाता है, जिसमें यथार्थ के रंग गहरे हैं, व्यंग्य कैपेने बाण हैं और मन-मस्तिष्क को चीर कर रख देने की क्षमता है।^२

डा० बाष्णीय का मोक्ष है कि अमरकान्त प्रगतिशील कहानीकार हैं और प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं।^३ उनमें वही मानवीय संवेदनशीलता है, जीवन का यथार्थ है और वास्था एवं संकल्प है। इनके पात्रों में अपूर्व जिजीविषा है और सबसे बड़ी बात यह है कि एक ऐसा प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है जो जीवन से झुझने को नया प्रेरणा देता है और विषमताओं से ऊपर उठने का आत्मविश्वास भरता

१. मोहन राकेश : दशा, दिशा, संभावना : पृ० ७०

२. डा० लक्ष्मीसागर बाष्णीय; आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६), हलाहाबाद, पृ० १४१।

३. वही, पृ० १४७।

है। इनकी कोई भी कहानी उठा लें - 'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी क्लक्टरी', 'जिन्दगी और जॉक', 'इन्टरव्यू', 'केले, फैसे और मूंगफली', 'एक असमर्थ हिलता हाथ', 'देश के लोग', 'सत्तायक', 'लाटे' आदि सभी में इसी भावना की फाँकी मिलती है। इनकी कहानियों का मूलधार मध्यवर्ग है, जिसमें घुन लग चुका है और लोग बंदर से 'कूजते' हुए भी केवल जीने का कहाना मात्र कर रहे हैं। मनुष्य के जीवन का असंख्य विकृतियाँ, विपन्नता, कुंठा, निराशा, विशृंखलता और अंततः कठोर यथार्थता - एक-एक रेशे को अमरकांत ने बड़ी बारीकी से सुलफाया है और उसे कहानियों में यथास्थान बड़ी सफाई से बुन दिया है। मध्यवर्ग की विपन्नता की घुटन का बड़ी ही गहराई से चित्रण यहां मिलता है। मध्यवर्ग की यह अभावग्रस्तता - जो भोजन को गुस लेती है, दोपहर को गुस लेती है और अन्ततः मनुष्य को। कहानी निस्सन्देह अत्यन्त सफल है।

'दोपहर का भोजन' की नारी सिद्धेश्वरी के जागे मानवाय संकट का बोध है। यह अन्तर्निहित संकेत ही नयी कहानी की यात्रा का प्रथम चरण था, जिसमें उसने झकड़ो या कबीरोगरीब पात्रों को त्याग कर अपने यथार्थ और अपने जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया था। और कमलेश्वर के अनुसार यही कारण है कि 'नयी कहानी' की साकेतिकता अमूर्त नहीं है - वह धनीभूत स्थिति से स्वयं उद्भूत है।^१

और अंततः अमरकान्त - 'बाज के उन थोड़े से इने-गिने कहानीकारों' में हैं जिनमें प्रयासहीन शिल्प के साथ मानवीय संवेदनशीलता एवं सामाजिक दायित्व निर्वाह की भावना सबसे अधिक है। वे मुख्यतया सामाजिक संवेतना के कहानीकार हैं। समाज, लोग, जीवन और दुःख - इन्हीं परिधियों में उनकी कहानी कला का विकास हुआ है।... अमरकांत में एक स्वस्थ जीवन दृष्टि है, यथार्थ को पहचानने की समर्थता है और नवीन सामाजिक संदर्भों को विकसित कर नवीन मूल्यों की स्थापना एवं सत्यान्वेषण की सक्षमता है।

१. कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका (१९६६), दिल्ली, पृ० ३०

२. डा० सुरेश चिन्हा : हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास (१९६६), दिल्ली, पृ० ५९९-६००।

‘हिपकली’ कहानी में भी प्रतीक कहानी का अपरिहार्य भाग है और अन्तर्बुद्धि स्थिति है। ‘नौकर’ नायक कहानी का अन्तु उस रज्जुवा की तरह कुछ-कुछ है जिससे अपनी सुविधा के लिये मालिक काम लेने में आपत्ति नहीं मानता, मले ही वह असमर्थ-असहाय हो। अन्तु के नाम पर नौकर अन्तु बन गया है। ‘केले, फेंसे और मंगफली’ में दिनचर्या जीवन की नियमितता, पारिवारिक जीवन की छोटी-मोटी समस्याओं के नेरन्तर्य की भाँकी है। इसे समस्यामूलक कहानी का स्वल्प माना जा सकता है, क्योंकि इसमें मध्यमवर्ग के जीवन के एक ‘सिलसिलेपन’ को काफी बारीकी से व्यक्त किया गया है, जिसकी रफ्तार हमेशा पुरानी रहती है।

‘इण्टरव्यू’ कहानी में इण्टरव्यू में शामिल होने वालों का सामूहिक अनुभव है। जो इण्टरव्यू में जाते हैं पर एक प्रतिष्ठित भी सफलता की उम्मीद से नहीं। इस कहानी में रोज़गार के लिये फफटने वालों की पीढ़ी, और इण्टरव्यू के अंदर भ्रष्टाचार, अनिश्चितता, मनमानापन और तज्जनिता अपमान की स्थिति पर करारा व्यंग्य है। चुनाव योग्य व्यक्ति का नहीं किसी और का ही होता है और वह भी गुप्त रीति से। कहानी को अधिक से अधिक मौलिक बनाने का प्रयास किया गया है फिर कुछ स्थलों पर बड़ी ही वाम बातें कही गयी हैं - जैसे कहानी के अंतिम वाक्य की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी। गंभीरता नष्ट हो जाती है। जब अत्याचार, जनता की बौद्धिग्राह्य और क्रांति की बात स्वाभाविक ढंग से कह दी गयी तब पीढ़ी में किसी का हंक्ताब कर उठना व उत्तेजना ही हो सकती है। किन्तु अन्ततः

‘इण्टरव्यू’ उन लोगों पर तीव्र व्यंग्य है, जो नौकरी देने को व्यवसाय बना लेते हैं और देश के करोड़ों नवयुवकों के साथ मजाक करते हैं। इसमें वाज की नई पीढ़ी की विभ्रान्तता अपने यथार्थ परिवेश में बड़ी सजीवता से उमरी है।

यों तो अमरकान्त की अधिकांश कहानियाँ वार्थिक मजबूरियों में कराहते समाज की विद्रोह्य आवाज़ें हैं लेकिन ‘जिन्दगी और जोंक’ में जीवन का दुर्निवार संघर्ष और बोझ है। इसमें जिन्दगी के यथार्थ और पात्रों से लेखक को केवल सहानुभूति नहीं है उनके साथ जीने मरने की दुर्लभ मानवीय सम्बेदना है। जब जीवन का अर्थ ही समाप्त हो गया हो, तब भी जीवन की इतनी उद्दाम लालसा जोंक की भाँति चिपकी हुई जिन्दगी... जो रक्त भी चूसती रहती है और छोड़ती भी नहीं... अंततः जीवन का

बोझ झूना दुर्दमनाय हो जाता है कि अस्तित्व की सार्थकता ही मिट जाती है... रजुवा का अस्तित्व कहीं नजर नहीं जाता... बस जीवन का बोझ हा बोझ वह ढोता रहता है ।

‘देश-देश के लोग’ एवं ‘लाट’ में इनकी व्यक्तिमूलक चेतना के दर्शन होते हैं । ‘लाट’ में एक दरोगा अपने अतिथि की लड़की पर मुग्ध हो जाता है और वह लड़की अपने सहपाठी के प्रेम-पाश में पहले से ही बंध चुकी है, जिसका युवक दरोगा को ज्ञान नहीं है । कहानी का स्रोत दरोगा के चरित्र के संस्कार एवं परिष्कार में लक्षित होता है । नारी को सिलौना मात्र समझने वाले इस व्यक्ति को नई दृष्टि प्रदान कर लेखक ने उसकी सारी नारी सम्बन्धी मान्यता को स्पांतरित कर दिया है । इस कहानी में अवश्य ही लेखक की चेतना का स्वरूप व्यक्ति-मूलक है । सामाजिक चेतना अन्ततः वैयक्तिक चेतना में परिणत हो जाती है ।

इसी चेतना की अभिव्यक्ति ‘देश-देश के लोग’ में हुई है । इसमें जीवन-धारा से कटे हुए एक स्नायु का व्यंग्यात्मक रेखाचित्र है जो उदासीनता, रिक्तता एवं शून्यता की गहरी अनुभूति को पाकर एक उदेड़बुन में व्यस्त हो जाता है । कहानी से व्यंग्य उमरते-उमरते रह जाता है । यह कहानी सामाजिक चेतना से इतनी प्रेरित नहीं है, जितनी वैयक्तिक कुंठाओं के चित्रण के उद्देश्य से अनुप्राणित है ।

मनुष्य का सारा इतिहास उसमें अन्तर्निहित दोहरी जिजीविषाओं की जगुगामी परिणतियों से निर्मित हुआ है । अपने प्राण को जीने की जिजीविषा और अपने प्राण के होने की जिजीविषा । प्राण को जीने की जिजीविषाओं में से उसने पत्थर से लेकर परमाणु तक को अन्ततः अन्त, अन्त आयामों में आविष्कृत किया है... और प्राण के होने की जिजीविषा में से आदिम से लेकर औपनिषदिक, तथा औपनिषदिक से लेकर के बीटनिक जीवन-दर्शन तक की सीमातीत मात्रा में की हैं ।

यहां तक जीने की जिजीविषा का प्रश्न है, अमरकान्त की ‘जिन्दगी और जॉक’ कहानी हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय महत्व की रचना है । व्यक्ति की पारिवारिक और सामाजिक विसंगतियों का अत्यन्त सम्येदनशील

रेखांक उनकी 'डिस्टी क्लब्टरी' तथा 'दोपहर का भोजन' जैसी ऐतिहासिक महत्व की कहानियों में हुआ है। अमरकान्त ने अपने रचनात्मक संवेदनों से मानवीय धरातल पर बाकर ही यह कहानियाँ लिखी हैं।

000

राजेन्द्र यादव - 'कलावादी' हैं, जिनपर प्रगतिशीलता या सामाजिक यथार्थ का मुसोटा लगा रहता है। यह मुसोटा इतना महीन होता है कि ज़रा से प्रयास से उसकी परतें उधेड़ी जा सकती हैं और फिर उनकी कहानियों की वास्तविक रंगत सामने आ जाती है, अर्थात् उनकी व्यक्तिमूलक चेतना स्पष्टतया उभर आती है। राजेन्द्र यादव अपने दशक के कदाचित् एक मात्र ऐसे लेखक हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रत्येक कहानी से अपने सहवर्गियों को नहीं, पाठकों को चौंकाना ही रहा है। इसके लिये चौंकाने वाले कथानक, विस्मयपूर्ण लगनेवाले शीर्षक और नये से नये शिल्प-विधान आदि के बन्वेषण के प्रति ही उनकी सारी प्रयत्नशीलता सीमित रही है और, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, वे यथार्थता या जीवन-संवेदनाओं का आभास देने का प्रयत्न करते हैं - 'जहाँ लक्ष्मी केद है', 'लंच टाइम्', 'पास-फेले' तथा 'अविध्यवक्ता' आदि इनी-मिनी कहानियाँ अपवाद हो सकती हैं, पर एक बहुत बड़ी संख्या उनकी कहानियों की ऐसी है जिनमें आत्मनिष्ठता और व्यक्तिमूलक - भावधारा को ही अभिव्यक्ति मिल सकी है।^१

अपने लिये राजेन्द्र यादव का स्वयं का मत है कि कबीर मजबूरी है, अपने से जुड़े सूत्रों को तोड़ देते हैं, तो अपने ही लिये अपरिचित हो उठते हैं, उन्हीं में बँटे रहते हैं, तो उन्हें अपने कुछ न होने का एहसास काटता है। उन्हें लगता है कि वह कुछ नहीं है, संदर्भ और वासंग ही सब कुछ हो गये हैं। इन वासंगों और संदर्भों में घुटने और उन्हें तोड़ कर अपने को ही न पहचान पाने की स्थिति स्थिति से घबरा कर नये संदर्भ और नये वासंग बनाने, उन्हें पुरानों से जोड़ कर परिचित करने की प्रक्रिया का सिलसिला शुरू होता है, दूर सड़े हो कर अपने को पहचानने (आइडेंटिटी

१. डा० लक्ष्मीशानर बाबूजीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १३८-१३९।

की तलाश) न पहचानने की द्विविधा तंग करती है। इन्हें लगता है कि इनका लिखना कुछ इसी सींचतान का प्रतिफल रह गया है। अपने को अपने बाप से नॉच कर 'नये', अनजाने, अनसोचे पात्रों, परिस्थितियों, समस्याओं, स्थितियों में फेंक-फेंका देना, स्वयं अपने बाप से अपरिचित हो उठना, और फिर अपने जैसे उस 'परिचित' व्यक्ति की तलाश में मटकना और अन्त में वह हमेशा यह महसूस करते हैं कि वह 'परिचित व्यक्ति' मीढ़ में उन्हें झू-झू कर निकल जाता है।^१

राजेन्द्र यादव का यह कथन उनकी कहानियों की कहानी स्वयं कहता है। जो व्यक्ति अपनी ही तलाश नहीं कर सका, वह समाज की तलाश करने में क्यों कर सफल हो सकता था? यों राजेन्द्र यादव ब के पास प्रतिभा है। - इस बात में दो मत नहीं हो सकते। यथार्थ को पहचानने और जीवन को समझने की क्षमता भी उनमें सब है किन्तु न जाने क्यों वह 'चोंकाने' वाले कलात्मक चमत्कार से अपने को मुक्त नहीं कर पाते - यही उनकी कहानियों की सबसे बड़ी कमजोरी है। किन्तु राजेन्द्र यादव शिल्प की नवीनता के नितान्त आगुही होते हुए भी प्रमुक्तः सामाजिक संवेतना के कहानीकार हैं।^२

आधुनिकता का चित्रण इनके यहां दो स्तरों पर मिलता है। एक समाष्टिगत स्तर पर और दूसरा व्यक्तिगत स्तर पर। जहां उन्होंने व्यक्ति को और उसके सीमित परिवेश को लिया है भी, वहां भी उनका प्रयत्न आत्मपरकता की ओर न होकर व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश से सम्बद्ध करके जीवन की विराटता का बोध कराना ही है। उनकी कहानियां व्यक्तिगत, अथवा वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के कारण संश्लिष्ट तो हो गयी हैं, पर उनकी सामाजिक संवेतना भी विनष्ट नहीं होने पायी है।

राजेन्द्र यादव की यह विवक्षता भी रही है कि जब जब भी वह अपने परिवेश से सिन्न हुए हैं उन्होंने अपनी व्यक्तिगत दुनिया में लौट जाना चाहा है - चाहे बाद में वह फिर अपने उसी परिवेश में लौट आये हैं। इस इसी परिवेश से सिन्न हो जाने की

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),

इलाहाबाद, पृ० १३६।

२. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास (१९६६) दिल्ली, पृ० ५८७

विवक्षता के कारण ही उनके ऊपर 'व्यक्तिगत' जगवा 'बहुत वैयक्तिक' होने का आरोप लगा है। पाश्चात्य जीवन-पद्धति एवं पाश्चात्य-दृष्टिकोण से भी यादव बहुत प्रभावित हैं। जिसका परिचय हमें उनकी 'वाचनिकता' के सूक्ष्म से सूक्ष्म रेशे में भी मिल जाता है। अपनी कहानियों का निष्कर्ष उन्होंने पाश्चात्य साहित्य की ही बनाया है। फिर भी यह पाश्चात्य वाचनिकता उनकी कहानियों में कहीं भी आरोपित तो नहीं लगती है। सहज स्वाभाविक रूप में वह प्रयोग के दौरान भले ही आ गयी हो।

इनके पात्रों की संख्या विविध वर्गों में फैली हुई है। वे निम्न मध्यवर्ग से भी हैं, मध्यवर्ग से भी और उच्च वर्ग से भी। कहीं-कहीं वे जातीय भी हो गये हैं। इन पात्रों की भाव-मंगिमाओं, जातिगत विशेषताओं, संस्कारों, मर्यादा एवं प्रवृत्तियों का चित्रण करने में राजेन्द्र यादव को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। चूंकि ये पात्र जीवन से लिये गये हैं, इसलिए यादव को न तो इन्हें तोड़ना-मरोड़ना पड़ा है और न ही तराशना और संवारना। किसी तरह के कृत्रिम मुसौटे इन पात्रों के मुंह पर लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। हां, अतिरिक्त बोद्धिक्ता के लोप और चमत्कृत कर देने वाले भाव से यदि राजेन्द्र यादव बच जाते तो अवश्य ही बहुत सफल कहानीकार बने होते। हां, भविष्य के प्रति पाठकों को उनसे उम्मीद बंधती है कि चमत्कार छोड़ देने के पश्चात् अवश्य ही वह ऐसी कहानियां देंगे जो और तराशी हुई, अपनी सहजता और स्वाभाविकता और सादगी में भी बहुत सुंदर होंगी।

इनकी कहानियों में व्याख्या बहुत अधिक होती है। व्याख्या की इस बाध ने शिल्प को चाहे स्थूल अवश्य बना दिया हो किन्तु रचनाओं की यथासंभव सहज भी इसी ने बनाया है और कहीं भी दुस्सहता नहीं आने दी है। व्याख्या से कहानी और सरल हो जाती है, और यह बहुत पुरानी शैली है। किन्तु इस व्याख्यात्मक प्रवृत्ति के बावजूद राजेन्द्र यादव में बोद्धिक्ता का छूट है।

'सैल सिलोने' में बुद्ध की मूर्ति का प्रतीक की तरह उपयोग निस्सन्देह बोद्धिक्ता की ही उपज है। हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर नवयुवक जिस भांति हताश, क्लेश-शांत हो क्लमय ही सोचते-सोचते 'बुद्ध' हो जाता है, वैसी ही स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का

‘नायक’ भी । नवयुवकों का यह असमय ही ‘बूढ़ापन’ इसी स्वातंत्र्योत्तर मूल्यों के विघटन का ही दुष्परिणाम है । इससे बचा नहीं जा सकता । स्वातंत्र्योत्तर मोह-भंग, और निराशा दिनों दिन नवयुवक को हताश और दिशाहारा बनाती गयी थी । अतः नवयुवक जो तोड़ देनेवाले परिवेश के कारण असमय ही ‘बूढ़ा’ होने के लिये विवश हो गया था उसे हमें हीन-दृष्टि से नहीं, सहानुभूति से देखना चाहिए ।

हां, यह सोचना कि ‘नयी कहानी’ कस अतीत की कहानी है, स्कांगी है । नयी कहानी अतीत की होते हुए भी भविष्य की है । उसमें भविष्य की अनेक संभावनाएं ध्वनित होती हैं ।

‘एक कमजोर लड़की की कहानी’ का अर्थ समझाते हुए लेखक ने वर्तमान जीवन के एक अन्तर्विरोध की ओर संकेत किया था । यह कमजोर लड़की प्रेमिका और पत्नी दोनों की भूमिका में एक ईमानदारी से निभाने का ढाँग करती है - ‘ट्रेजेडी यह नहीं है कि वह दोनों के प्रति सच्ची क्यों नहीं है, ट्रेजेडी यह है कि वह दोनों में से किसी एक को अपने जीवन से फटकर नहीं निकाल सकती ।’

जहां अन्तर्विरोध है, वहां विरोधी तत्वों में से किसी को भी फटकर नहीं निकाला जा सकता । यदि कहानीकार कहानी के एक विरोधी तत्व को निकाल देता है अथवा उसे जान-बूझ कर अशक्त कर देता है या उस द्वन्द्व को शीघ्रप्रतिशीघ्र निपटा देने का प्रयत्न करता है, तो वह कथानक को उत्सुकताहीन, चरित्रों को सपाट और वस्तु पर उद्देश्य को आरोपित ही नहीं करता, बल्कि अपनी कहानी को भी सपाट बना देता है । अन्तर्विरोध को अपनी सम्पूर्ण तीव्रता में ग्रहण करके ही कोई कहानी सफल और सार्थक बन सकती है । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि किसी घटना-प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को कम करना सपाटता है तो उसे वास्तविकता से अधिक तीव्र कर देना मावुकता होगी या फिर दिमागी विलास । अवसर देखा जाता है कि जिन्हें अन्तर्विरोध के बीच ठीक दिशा मालूम है, कहानी को बिल्कुल-सपाट बना देते हैं और जिन्हें कोई दिशा नहीं सुझती, वे उसे और अधिक उलझा देते हैं । ‘एक कमजोर लड़की की कहानी’ में यादव ने इसी सत्य को उलझा दिया है । यह कहानी सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार की रुचि रखने वाले पाठकों

के लिये लिखी गयी है ।

एक आलोचक^१ को यह कहानी बनेन्दु कुमार की 'एक रात' कहानी की पैरोकी मालूम होने लगती है । जैसे एक वैज्ञानिक विज्ञान के किसी पूर्ववर्ती नियम को अपने प्रयोगों के दौरान, असंगत पा कर उसकी असंगतियों को दूर करने की कोशिश करता है, उसी तरह इस कहानी में पूर्ववर्ती रोमांटिक कहानियों के तिकोने प्रेम की असंगति का उद्घाटन किया गया है - एक विडम्बनापूर्ण स्थिति के द्वारा । कमजोरी के प्रति विडम्बना का बोध है । और यह विडम्बना का बोध रोमांटिक भावावेग नहीं है, यह गैर रोमांटिक है, इसमें परिस्थिति की जटिलता और गंभीरता का बोध है और मानसिक परिपक्वता है । सविता माडर्न है, और बोल्लू भी । पूरे आत्मविश्वास से अपने पिछले, शादी के पूर्व के प्रेम को स्वीकार भी करती है किन्तु साथ ही यह भी नया स्वर उसके पास है कि -- जब लड़की अपने घर से जाती है तो अपने सारे सम्पर्कों और सम्बन्धों को वहीं छोड़ जाती है । और पति के कहने पर वह प्रेमी को घर, खाने पर बुलाती है । इतनी बोल्लू लड़की जब अंत में इतनी कमजोर पड़ जाती है कि पति के कहने पर प्रेमी को जहर दे देती है - यह कमजोरी हमें सचमुच हतप्रभ ही करती है । इस कहानी में 'प्रेम-त्रिकोण' के चित्रण में भी दृष्टि 'नयी' है - संभवतः व्यक्ति-चिन्तन की ही दृष्टि है ।

'जहां लक्ष्मी कैद है' (१९५७) में कहानी का नाम पड़ते ही एक 'फटको' लगता है । कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी कर्ष निरपेक्ष राज्य में हिन्दुओं के देवता विष्णु की पत्नी लक्ष्मी को कैद कर लिया गया है । किन्तु लेखक इस फटके से अवगत है और तभी कहानी के प्रारम्भ में ही स्पष्ट स्पष्ट करता है - 'जरा ठहरिये, यह कहानी विष्णु की पत्नी के बारे में नहीं 'किसी ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी कैद से छूटना चाहती है । और जिसे केवल लेखक ही जानता है । इस तरह पाठक के हाथ में समस्या का नुस्खा पकड़ा कर कहानी प्रारंभ होती है । साहित्य में कमलेश्वर के अपने मित्र के लिए लाख दलील देने के बावजूद समत्कार एक निहायत घटिया चीज़

१. डा० नामवरसिंह : कहानी : नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद, पृ० २२८ ।

२. कमलेश्वर : नयी कहानी की मूकिका (१९६६), दिल्ली, पृ० २६ ।

ही स्वीकार किया जाएगा। चमत्कार ने इस कहानी के सौन्दर्य को समाप्त कर दिया है। एक आलोचक के अनुसार यह कहानी अविश्वसनीय अंधविश्वास पर आधारित है।^१ इसमें लेखक ने 'लक्ष्मी' - प्रतीक का वाक्य लेकर एक घन के फुजारी तथा महाकंजूस के घर में लक्ष्मी नाम की लड़की की कैद का चित्रण किया है। यह लक्ष्मी बली जाएगी तो उसका घन भी समाप्त हो जायेगा। घन का लोभी उसका पिता इसी अंधविश्वास के कारण उस लड़की का विवाह नहीं करता और उसे 'बाहर' के सम्पर्क में भी नहीं आने देता। फलतः लक्ष्मी नाथ की कैद लड़की, कैद की घुटन के कारण मानसिक रोग से ग्रस्त हो जाती है। घनपति के रूप में एक राजास का ही चित्रण हुआ है जिसने अपने स्वार्थ के पीछे एक लड़की का जीवन बरबाद कर दिया। गोविन्द की कुंठा अवश्य ही वैयक्तिक स्तर पर चित्रित हुई है और भावुकता से परिपूर्ण है। यों इस कहानी का मूल स्वर कुण्ठित, दमघोंट, एवं बंद जीवन के प्रतिफलन की अभिव्यक्ति ही अधिक है। साथ ही यह प्रतीक सामाजिक धारणा तथा उद्देश्य से भी प्रेरित है। जीवन के प्रत्येक प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को पकड़ कर जागरूक कहानीकार उसे सार्थकता प्रदान करता है।

राजेन्द्र यादव ने व्यक्ति के माध्यम से सामाजिकता की उपलब्धि वाली बात उठायी थी। 'बिरादरी बाहर' ही एक ऐसी कहानी है जो नये मूल्यों को स्वाभाविक ढंग से उभारती है। थीम इसकी काफी पुरानी है।^२ 'बिरादरी-बाहर' एक ऐसे परिवार की कहानी है, जिसमें पिता परम्परागत जीवन-मूल्यों के प्रति अपने अंधे मोह के कारण स्वयं को ही परिवार से कटा हुआ पाते हैं। लड़का ने दूसरी जाति के लड़के से विवाह कर लिया था। माझ्यों ने बहनों ने उसका साथ भी दिया। किन्तु एक रुढ़ि-भक्त पिता ही थे जिन्होंने लड़की को बिरादरी से बाहर मान लिया था। किन्तु अंत में हम पाते हैं कि बिरादरी बाहर पुत्री नहीं, पिता स्वयं हो गये हैं।

कहानी में निश्चित ही बाबू दाी पीढ़ियों का संघर्ष आपने प्रसर रूप में ध्वनित है।

१. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य - आलोचना को चुनौती,
(१९६८) बनारस, पृ० ११६।

२. वही।

नयी पीढ़ी 'पुराना' कुछ भी ओढ़ नहीं सकती । वह उसे मूल्यांकित करती है और यदि मूल्यांकन पर 'पुराना' ठहरा नहीं उतरता तो बिरादरी-बाहर कर दिया जाता है । पहले विजातीय विवाह-सम्बन्ध करने वालों को, परम्परागत मूल्यों का विरोध करने वाले को बिरादरी से बाहर कर दिया जाता था किन्तु वाज के इतने परिवर्तित समाज में परम्परागत मूल्यों का उधे हो कर समर्थन करने वाले व्यक्ति को ही बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है व । - ऐसे कितने ही फिदा हैं जो बिरादरी से बाहर अनुभव करते हैं और नयी पीढ़ी के इस वामूल परिवर्तन से अपनी कोई संगति नहीं स्थापित कर पाते । यह कहानी सिर्फ एक व्यक्ति की, सारी पिछली पीढ़ी की है जो प्राचीन निरर्थक मूल्यों से चिपटे होने के कारण नयी पीढ़ी के लिये धीरे-धीरे बिरादरी-बाहर होती जा रही है ।

000

कमलेश्वर भी प्रगतिशील कहानीकार हैं और प्रारम्भ में प्रगतिशील आन्दोलन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे ।^१ ये भी नयी कहानी के शीर्षस्थ लेखकों में से एक हैं । मुख्यतया इन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को ही अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है । यद्यपि अन्य नये कहानीकारों की भांति इनकी भी कहानी कला का विकास समष्टिगत चिन्तन से व्यष्टिगत चिन्तन की दिशा में हुवा है, तथापि इन के पास एक ऐसी यथार्थ जीवन-दृष्टि थी जिसे उन्होंने कभी नहीं छोड़ा । इसलिए अन्य लेखकों की भांति इनकी कहानियों में घोर आत्मपरकता नहीं मिलती ।^२ मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नव-निर्माण की जितनी उत्कट प्यास इस पीढ़ी के कहानीकारों में है, वह पिछले दौर में नहीं थी । वाज के हर कहानीकार ने कुछ 'नया' मोगा है और उस 'नये' को कहने के लिये एक कवक-सी ककुताहट और बेकसी है जो निश्चित ही स्वातंत्र्योत्तर संक्रमण काल की ही देन है । इस काल ने एक ओर हमारी संवेध शक्तियों पर दबाव डाला

१. डा० लक्ष्मीशानर बाबेय्य : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १३६ ।

२. वही, पृ० १३७ ।

और दूसरी ओर हमारी बेतना को जागरित किया। इसीलिए लेखक देखता है कि उसकी कहानियाँ अब कल्पना के पंखों पर किसी आकर्षक देश में नहीं उड़ सकतीं। नयी कहानी के पास 'पंख' नहीं है। वह व्यावहारिक दुनिया की कहानी रही है, और बराबर धरती से जुड़ी रही है। धरती के हर कण-कण के प्रति लगाव, हर मोड़ के प्रति जिज्ञासु भाव और गड्ढे को पाट देने की सहानुभूति कमलेश्वर में है और उसे उनकी कहानियों में पूरी ईमानदारी से चित्रित करती है।

वागे भी डा० वाष्णीय का मत है कि - 'कमलेश्वर की कहानियों में विशदता है, विराटता का बोध है, जीवन के विविध पक्षों का संस्पर्श कर यथार्थ अभिव्यक्ति देने का आग्रह है और आधुनिक भाव-बोध को स्पष्ट करने की समर्थता है।'^१

'पानी की तस्वीर', 'उड़ती हुई धूल', 'देवा की माँ', 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी', 'सौथी हुई दिशायें', 'नीली काल', 'दिल्ली में एक और मौत', 'जार्ज पंचम की नाक', 'तालाश', 'दूसरे', 'ऊपर उठता हुआ मकान', तथा 'मांस का दरिया' आदि अत्यन्त सशक्त कहानियाँ डा० वाष्णीय के मत को पुष्ट करती हैं।

कमलेश्वर समाज के, उसके परिवेश के, समाज के इतिहास और उसके दन्द के सन्ने और बेहद ईमानदार कथाकार रहे हैं। वह स्वीकार करते हैं कि उनका जीवन इतिहास सापेक्ष है। उनके तमाम अन्तर्द्वंद्वों का साक्षी है - व्यक्ति और उसकी सामाजिकता दोनों का। एक ओर समाज क्रूर है जो व्यक्ति के अस्तित्व को दबोचता है और दूसरी ओर व्यक्ति की क्रूरता है जो समाज को लुटे स्वर में नकारता है। इनकी कहानियों में व्यक्ति वैसे ही उतरा है जैसा कि वह था। कहीं कोई बड़ उपदेश, अतिनेतिकता, औपचारिकता अथवा फूँटा आदर्श नहीं है। इनकी कहानियों में समाज और व्यक्ति वैसे ही चित्रित हुए हैं जैसे कि वह मूलतः थे। प्रगतिशील होते हुए भी कमलेश्वर के लिये प्रगतिशील दृष्टिकोण उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना कि व्यक्ति और उसका परिवेश। इनका यह दावा सब है कि नयी कहानी ने व्यक्ति

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १३७।

के माध्यम से परिवेश को, और परिवेश के माध्यम से व्यक्ति की सोज की है।

कमलेश्वर की - किसी भी कहानी को उठा लीजिए, रुढ़ियों के प्रति तिरस्कार, विद्रोह, प्रगतिशीलता एवं नवीन मूल्यों के प्रति बाग़ुह सशक्त रूप में प्राप्त होगा। निर्माण की अकुलाहट और परिवर्तन की बेकसी से उनकी अधिकांश कहानियों के ऐसे संगुणित किये गये हैं।^१

‘फालतू बादमी’ (१९६६) उन्होंने बादमी के अपने फालतू होने के बोध को लेकर लिखी है। उनका कहना है कि - अवसंगति और इस फालतू होते जाने का बोध नयी कहानी में बराबर मिलता है। इसके बहुत से आयात हैं और उन आयातों में इस फालतूपन या अवसंगति का बोध लिये हुए तमाम पात्र बाज की कहानी में मौजूद हैं।^२ बहुत तोड़ देने वाली इन बदलती परिस्थितियों में व्यक्ति अपने को कहीं-कहीं नितान्त फालतू भी पाता है - ऐसा फालतू व्यक्ति भी कमलेश्वर के लिये फालतू नहीं रहा और उन्होंने उसे भी अपनी तमाम कहानियों में सम्पूर्ण अर्थवता के साथ एक सार्थकता प्रदान की।

कहानी की परम्परा बादमी की ही परम्परा ही थी। और इस रुढ़ बादमी तथा परम्परावाद ने वही पहले के नायक, सलनायक, नायिका, सलनायिका आदि के बने-बनाये सचे - नयी कहानी को भी सोंपने चाहे थे। लेकिन नयी कहानी ने इन साँजों को अस्वीकार कर दिया। क्योंकि ‘नये बादमी’ को स्थापित कर पाने के लिये यह सचे अपूर्ण और अशक्त थे। नयी कहानी में धीरे-धीरे अलग से सलनायकों का लोप ही हो गया और नायक ने पाया कि वही सलनायक भी है। इस तरह यह भी नयी कहानी की नयी सोज थी कि एक व्यक्ति नायक भी है और सलनायक भी। सलनायक का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता। कोई व्यक्ति न तो बिल्कुल बुरा ही होता है और न बिल्कुल अच्छा। व्यक्ति में अच्छाई भी होती है, बुराई भी - अर्थात् वह नायक भी होता है और सलनायक भी। नयी कहानी को यह तथ्य

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास (१९६६), दिल्ली, पृ० ५८५।

२. कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका, पृ० १३७।

‘मनुष्य के क्षेत्र’ में निरन्तर प्रयोग करते रहने के बाद ही मिला था ।

‘देवा की मां’ में नवीन नारी का दृप्त स्वर सुनाई पड़ता है, जो नये मूल्यों की सृष्टि करता है । एक अकेले व्यक्ति की घुटन, पीड़ा, निवासन, एक छटपटाहट और अन्ततः अहं का परिष्कार अथवा अस्तित्व की उपलब्धि ही इस कहानी की उपलब्धि है । कमलेश्वर की ‘देवा की मां’ का संसार कितना नगण्य है, किन्तु फिर भी कितना सजीव, कितना अर्थवान !... एक परित्यक्ता और बिना पड़ी लिखी औरत की छोटी-सी समझ और छोटा-सा दायरा... अपने चारों ओर की चीजों पर उसकी छोटी छोटी प्रतिक्रियाएं... और मन में सुलगते हुए प्रश्न... जिनसे उसका बेटा भी बेखबर है और त्याग देने वाला पति तो खर बहुत दूर था । ... अंत तक भी हम इस ‘देवा की मां’ को समझ नहीं पाते... उस उसका अपमानित नारीत्व, टूटता, अपने परिवेश में विवश बकर काटता व्यक्तित्व ही हमारे सामने साकार होता रहता है । किन्तु आश्चर्य तब होता है कि इस परतन्त्र और टूटते हुए परिवेश से भी देवा की मां अपना अस्तित्व खोज लेती है और उसका अहं - उसका अस्तित्व अपने सम्पूर्ण रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है - जब देवा अपने बीमार पिता को देखने के लिये मां से चलने को कहता है और वह ‘ना’ ही नहीं करती वरन् देवा को भी जाने से मना कर देती है । यह अंतिम वातालाप इतना सजीव है कि शब्दों के शाब्दिक अर्थों के पीछे भी कोई एक सजीव आंतरिक अर्थ साफ-साफ महसूस होता है ।... वह सजीव आंतरिक अर्थ यों प्रकट हुआ है - देवा कहता है - ‘तुम नहीं जाओगी ?’ और देवा की मां जवाब देती है - ‘नहीं ।’ और फिर देवा पूछती है - ‘तो फिर मैं चला जाऊं ?’ और देवा की मां कहती है - ‘नहीं ।’ ... यह दो ‘नहीं’ सब कुछ कह देते हैं... पति के त्याग देने पर दयनीय, निरीह देवा की मां के अत्यन्त अपमानित होने की बात... उसके बहुत-बहुत टूट जाने की बात, और अन्ततः अपनी टूटन में ही अपने को प्राप्त कर लेने की बात... अबता का यह परिष्कृत और वाजिब अहं वास्तव हमें अपने घेरे में घेर लेता है ।... देवा की मां सूत के धागों को टूटने पर कई बार जोड़ लेती है, किन्तु अंदर के तार टूटने की कल्पना मात्र से ही वह कांप जाती है किन्तु इस सारी मयावहता के लिये को मोल लेने के बावजूद एक बिन्दु पर वह समर्पित नहीं होती ।

‘सीखें’ में जमन का विद्रोह है - निषेधों की प्रतिकूलता का जोर । किन्तु अन्त में अपने में ही सिमट कर रह जाता है । जीवन में नित्य ही हम इन स्थितियों से गुजर रहे हैं । और इन सब की अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी है, जो इस कहानी में व्यक्त हुई है । कमलेश्वर को यथार्थ अपने बाप मिलता है - यथार्थ को तलाश ने की कोई ज़िद उनमें नहीं है, कोई सुनियोजित, पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम नहीं है । ऐसा तो उन्होंने किया है जो अपने से ही कहीं संश्लिष्ट थे ।

‘कस्बे का वादमा’ संग्रह की कहानियों में सम्बन्धों की अलग-अलग मुद्राएं हैं । स्वीकृति पर अधिक बल दिया गया है । यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सम्बन्धों को ही अंतिम मूल्य नहीं मान लिया गया है और आगे किसी और मूल्य की संभावना भी है । कहानीकार की तटस्थता शायद यही है कि वह किसी एक मूल्य पर स्थिर नहीं रह सकता । अनुभवों के प्रति यह अतिशय लगाव जिसमें तटस्थता भी शामिल है - इसे संवेदना के स्तर पर उतारने में बहुत अधिक सतर्क रहना पड़ता है, और कमलेश्वर के लिये यह बहुत ही सहज रहा है क्योंकि इसे हम उनकी विशिष्टता मान सकते हैं । कमलेश्वर की कहानियों से ही यथार्थ का सूजन होता है । यह बात यदि कह दी जाये तो निश्चित ही शायद अत्युक्ति नहीं होगी ।

‘राजा निरवंशिया’ से एक बात और स्पष्ट हुई कि जीवन की विविध और विरोधी संवेदनाओं, उसके अन्तर्बाह्य संघर्ष और संक्रांति को अभिव्यक्त करने के लिये कहानी का पुराना ढांचा और शिल्प बदलने की आवश्यकता है । इसीलिए यह कहानी-दृष्टि या चेतना से अधिक रूप (फार्म) के संक्रमण (ट्रांजीशन) की प्रतीक है । ‘राजा निरवंशिया’ जीवन की मार्मिक टूटवही है लेकिन उसका विज़न ट्रेजिक नहीं है ।

‘राजा निरवंशिया’ की भूमिका में लेखक ने कहा था कि मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवन-शक्ति के सम्प्रेषण, और सामाजिक-विधान को नये सचि में ढालने का संदेश देते हैं । इनके लिये बाबू कहानी का मापदण्ड मनोरंजन न होकर मनुष्य की शीत संवेदनाओं को उकसाने तथा स्पर्श करने की क्षमता है ।

‘राजा निरवंशिया’ दरअसल दुहरी कथा है । एक ओर उस राजा की कथा जो बाछेट के लिये जाता है और दीर्घकाल तक वापस नहीं लौटता । रानी और मन्त्री उसे सोचने

जा कर पुण्यबद्ध हो जाते हैं, तथा संतानलाभ करते हैं, जो राजा के प्रत्यागमन पर उसी का वंश माना जाता है। दूसरी ओर इसमें जगपती-वंदा की अन्तर्कथा है। वंदा पति की अस्वस्थता में कम्पाउंडर के प्रति बाकृष्ट हो जाती है और क्षीण प्रायः पत्नीत्व को केवल कर मातृत्व प्राप्त करता है। यह संश्लिष्ट कथा नये-पुराने जीवन को एक सूत्र में जोड़ती है और यह सिद्ध कर देती है कि मानवीय मूल्य शाश्वत होते हैं - इसी से 'पुराना' और 'नया' बाज इतने अंतराल के बाद भी समानान्तर हो चल रहे हैं।

000

मोहन राकेश का विश्वास है कि जिस प्रकार इकाई के रूप में वायमी का अपना एक अलग अस्तित्व है, उसी अर्थ में लेखक और कलाकार का भी। पर दूसरी इकाइयों से स्वतन्त्र और निरपेक्ष वह कहीं पर भी नहीं है। किन्तु वास्तव में उनके पात्रों का विकास इस दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं हुआ है। सामाजिक संदर्भों से बलिष्ठ गर यह पात्र प्रारम्भ में तो विराट मानवीय चेतना का आभास देते हैं, किन्तु अंत में उससे अलग हट कर धीरे-धीरे अन्तर्मुक्ति होते गये हैं। इनके पात्र अकेलेपन और अजनबीपन की एक कुंठाग्रस्त, अस्वाम्याधिक चादर ओढ़े हुए हैं, जो कि संभवतः लेखक के अपने ही कुंठित जीवन की उपज है।

मोहन राकेश ने मात्र अपने जीवन को ही कहानियों में चित्रित किया है - जब-तब उनके पात्र ऊँकते हैं तो 'ढाईबोस' कर लेते हैं अथवा 'रेजिनेशन' दे देते हैं या झंझर-उधर मटकने में ही जीवन की सार्थकता ढूँढते हैं। राकेश में न तो वास्था है और न ही कोई सामाजिक दृष्टि। वह मानते हैं कि मटकने की प्रवृत्ति उनमें बहुत अधिक है, और उनकी यही प्रवृत्ति उनकी कहानियों में भी साकार हुई है। इनके पात्रों के पास ऐसी कोई भी धुरी नहीं है जिस पर वह टिक सकें - मर्यादा से दूर उनके पात्र मटकाव की स्थिति में झटपटाते हैं और स्वयं कहीं समर्पित न होने के कारण इनके पात्रों को भी कभी किसी का समर्पण नहीं प्राप्त होता...। समर्पण रोटी के बाद हमें जीवन जीने के लिये दूसरी चीज़ 'दूसरे का समर्पण' ही चाहिए। हम दूसरे के प्रति और दूसरे हमारे प्रति समर्पित हैं - यही भाव हमें सामाजिकता से बांधता है। इसके विपरीत राकेश के पात्र घोर असामाजिक, असमर्पित, अपने वह

में चूर और अंततः अपने वह की चोट से स्वयं ही तिलमिलाने और चूर-चूर हो जाने वाले पात्र हैं। अब एक फूटे और आरोपित, फेशनपरस्त अकेलेपन की चादर ओढ़े इनके पात्र अपनी कुंठा और झटपटाहट को व्यर्थ देना चाहते हैं जो हमें नितान्त अविश्वसनीय लगता है। परिचित को यह पात्र 'अपरिचित' मान लेते हैं और 'अपरिचित' में 'परिचय' के सूत्र डुंडते फिरते हैं। यह असामाजिकता की ही भावना है। हां, कुछ कहानियां जो इन्होंने फेशनपरस्त वाधुनिकता, व्यक्तिगत प्रभाव एवं अपने निजी जीवन से हटकर लिखी हैं - 'मल्ले का मालिक', 'बाड़ा', 'उसकी रोटी', 'ममाली' इत्यादि उनकी कहानियां हर दृष्टिसे सफल उतरी हैं। एक 'साधे' व्यक्ति को ही मोहन राकेश ने उसके परिवेश में देखने का प्रयत्न किया है। इस तरह इन्होंने एक तरह से 'व्यक्ति' और समाज का विभाजन-सा कर दिया है और अन्ततः स्वत्व की प्रतिष्ठा की है। स्वत्व की प्रतिष्ठा के लिये ही इन्होंने सामाजिक, सन्दर्भों की उपेक्षा की है। सामाजिकता जो थोड़ी-सी जिनकी कहानियों में बायीं भी है, वह स्वस्थ नहीं है। इनके पात्र दरअसल हर वक्त एक बोध की स्थिति में रहते हैं, और यह बोध जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नितान्त वैयक्तिक घरातल पर रहता है।

अजनबीपन और एकांतिकता का जितना चित्रण राकेश ने किया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। और नयी कहानी में अजनबीपन के विषय में कमलेश्वर का कहना है कि बाज की हिन्दी कहानी में विसंगति और अजनबीपन की संवेदना भारतीय परिवेश में व्यापक रूप से नहीं है। अगर कुछ है तो अवसंगति और फातू होने की संवेदना है।^१ सचमुच बाज के जीवन में अकेलेपन की भावना उतनी नहीं है जितनी कि बाज की अपार मीढ़ में अपने 'सरप्लस' होने की, अर्थात् फातू होने की भावना है।

इनके पात्रों में एक अजब-सी बेवनी है। वह सरकारी नौकरी इसलिये छोड़ देते हैं कि इस परिवेश में जीना उनके लिये 'कठिन' और कठोर होता है। जिसका 'परिवेश'

१. कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका (१९६६), दिल्ली, पृ० १३४, १३५।

कठि और कठोर नहीं होता ? किन्तु ऐसे ही सब यदि बेचन हो जायें और 'यायावर' की भांति सब कुछ छोड़ कर दिल बहलाने की मात्र यात्रा पर निकल पड़ें तो जीवन का स्थायित्व, दायित्वबोध, सामाजिकता - सब कुछ एक साथ ही सहसा ढहरा पड़ता है । देश का फैलाव इनके पात्रों के लिये अभिशाप बन गया है । फलतः बबरा कर ये पहाड़ के 'स्कान्ते' की तरफ अपने भीतर का शितापन मरने लगते हैं (मिस पाल) । इनके पात्रों में बस एक बेवनी, सब कुछ उथल-पुथल कर देने वाला भाव और एक बेमानी माग-दोड़ ही मिलती है । और यह सब कुछ असंयम के कारण हैं । एक अजीब दुनिया के यह पात्र हैं - जिन्हें संयम का पता नहीं है और उसके अभाव में यह छपर-उछर बेमानी मटकते रहते हैं ।

'मलबे का मालिक' (१९५६) कहानी में ट्रेजिक जीवन चित्रित हुआ है । यह मोहन राकेश के सर्वश्रेष्ठ कहानी है, जो उन्होंने अपने सारे वैयक्तिक प्रभावों से मुक्त होकर लिखी है । निस्सन्देह इस कहानी में देश के भीतर का दर्द चित्रित हुआ है - जब कहानी से मोहन राकेश ने अपने को पूरी तरह से हटा लिया है, तभी । इसमें लेखक ने देश के विभाजन, अज्ञात और अजनबीपन के भीतर से कोमल मानवीय सम्बन्धों को भी उमारा है । और 'मलबा' हमारे वहशीपन की वरम-परिणति, हमारे पागलपन की उपलब्धियों का जीवन्त प्रतीक है । और इस 'मलबे' पर अधिकार भी किसका है - ऐसे पहलवान का नहीं, बेमानी गुराते हुए कुत्ते का है । हमारी संस्कृति, हमारी मर्यादा, हमारी मानवीय और संचित मानव मूल्य जब मलबे के रूप में ढह जाते हैं तो बस एक कुत्ता ही इस मलबे का मालिक हो पाता है । मलबा कहानी की थीम भी है और प्रतीक भी । इसी से कहानी और भी जीवन्त बन गयी है ।

अब्दुल गनी रक्तरंजित भारत-विभाजन के सात साल बाद पाकिस्तान से अमृतसर जाता है, घूमने के लिए । वह अपना मकान देखने जाता है । और वह पाता है कि विभाजन की अमानवीयताओं और नृशंखताओं के कारण उसका नया मकान 'मलबे के ढेर' में बदल गया है । उसका पुत्र, पुत्र-वधू और दो पौतियां मकान में रह गये थे । पर दंगाहियों ने उन्हें भी साफ कर दिया, और लूट-पाट करके मकान को जग लगा दी । मकान की यह हालत देख करके गनी फूट पड़ता है । बाण मर को यह गनी ही मलबे का मालिक बन बैठता है ।

गुनी के जले जाने के बाद रक्से पहलवान रात के समय मलबे पर जाकर बैठता है। पर वहां बैठा होता है एक कुत्ता - मलबे का मातृक बना। वह मूंक मूंक कर रक्से को वहां से हटा देता है और तब रक्से पहलवान कुरं की मुंडेर पर जाकर बैठता है। और कहानी का बहुत ही दर्दनाक बिन्दु वह है - जब गुनी अपने परिवार के हत्यारे से ही अभिन्न हो कर दिल की बात करता है। वह सरल हृदय रक्से-गुनी रक्से से वाश्ता करता है कि वही अब उसके जांसू पोंडिंगा। यह तथ्य गुनी को फता ही नहीं होता कि रक्से पहलवान ही उसके सारे परिवार का हत्यारा है।

विभाजन और अमृतसर की गली का बहुत ही सजीव चित्र राकेश ने इस कहानी में खींचा है। रक्से के चरित्र को भी अंदर-बाहर के द्वन्द्व से पुष्ट किया है। यहां तक कि मलबे तक का एक स्वतन्त्र अस्तित्व हमारे सामने उभरता है।

यह मलबा भारत-पाकिस्तान के विभाजन के परिणाम का, उजड़े हुए जीवन का प्रतीक है। यह मलबा किसी का भी नहीं है, और यह मलबा सबका भी है, यह संकेत कहानी के अंत में उभरता है जब मटका हुआ एक कौवा मलबे में पड़ी लकड़ी के चौसट पर बैठकर उसके रेशों को इधर-उधर क्षितराने लगता है और कुत्ता उसे वहां से उड़ाने के लिये मौकने लगता है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन दोनों का मलबे पर अधिकार है। इस प्रकार यह संकेत हमारे उस सामाजिक परिवेश को इंगित करता है - जो देश के विभाजन का परिणाम है। कहानी में अन्य संकेत भी हैं - जैसे एक केंचुआ सरसराता है, अपने लिये सुरास डूंढता हुआ ज़रा-सा सिर उठाता है, मगर दो-एक बार सिर पटक कर और निराश होकर दूसरी ओर मुड़ जाता है। ऐसे सूक्ष्म संकेत भी हैं, किन्तु अंततः मलबा ही पर्याप्त सशक्त है, और स्वातंत्र्योत्तर भारत के टूटते हुए एवं टूटे मूल्यों की सारी कहानी सुना देता है।

ऐसी ही दो-बार कहानियां मोहन राकेश की इतनी सशक्त हैं कि एकदम से यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल वैयक्तिक दर्द और पीड़ा के लेखक हैं और उन्होंने कोई विद्रोह नहीं किया है या लेखन के क्षेत्र में उन्हें कोई उपलब्धि नहीं प्राप्त हुई है। 'मलबे का मातृक' एक उपलब्धि है।

जानवर और जानवर (१९५६) में मिशन कम्पाउंड की पृष्ठभूमि में एक पादरी के

चित्र द्वारा इस संकेत को उमारा गया है कि पादरी की विशिष्ट कुतिया और पाल के साधारण कुते में मारी अन्तर है। 'जानवर और जानवर' में यह अंतर स्वीकृत रहा है। बड़ा जानवर छोटे जानवर को मार सकता है, बड़ी मइली छोटी मइली को खा सकती है। इन जानवरों के माध्यम से जीवन की विषमता को गहराया गया है। इसकी गतिविधि गिरजे की घंटियों के समान 'डिंग-डांग' करती ही गतिशील रही है।

'जानवर और जानवर' में उच्च और मध्यवर्ग के प्राणियों के स्तर-भेद और तत्सम्बन्धी कृथा अहं को भी स्थापित करने में सफल हुई है। कुत्तों के माध्यम से इंसान और इंसान में अन्तर का संकेत दिया गया है। इस कहानी की रचना-प्रक्रिया व्यंग्य के स्तर पर ही इसे उमारेने के लिये फादर-फिशर के चरित्र को काँते रंग में डूबो कर उसे अविश्वसनीय बनाना पड़ा है। मिशन के जहाते में एक-एक सदस्य के नौकरी से बरसास्त होने में अतिशयोक्ति है। मणि नानावती और अनिता को कृथा ही पादरी की वासना का शिकार होना पड़ा। किन्तु अन्ततः व्यंग्य इस कहानी में जान डालता है और जानवर का प्रतीक अनावश्यक स्थलों को भी अपने में समेटे रहता है। और अन्त में गिरजे की घंटियों के 'डिंग-डांग' स्वर में मिशन के जहाते की सतही, नकली और सोसली जिन्दगी ही बजती सुनाई देती है। इस कहानी में व्यंग्य-शैली ने ही कहानी के सपाट कथन पर रंग मरे हैं।

'उसकी रोटी' (१९५७) में एक ऐसी परम्परा से बिप्टी हुई नारी का चित्रण है, जिसे उसके पति ने उसे छोड़ दिया है किन्तु वह परम्परा को, अपने संस्कारों को नहीं छोड़ पाती और रात-बिरात 'उसकी रोटी' (पति के लिये रोटियाँ) लेकर, गांव से काफी दूर बस-स्टॉप पर फंदल पहुंच जाती है। जहाँ पहुंचने पर उसे कभी 'प्याऊ' का पानी भी नहीं मिलता और कभी मात्र पति द्वारा ले जायी गयी बस के पीछे की धूल ही धूल मिलती है, बस। इसमें भी व्यंग्य है - कि पति के दूसरी पत्नी कर लेने के बाद भी परित्यक्ता के लिये पति पहले ही मांति बाज भी परमेश्वर क्यों है ?

'मंदी' (१९५७) कहानी में निर्धनता का अभिशाप अपने गहरे रूप में चित्रित हुआ है।

यह कुछ कहानियां ऐसी हैं जो मोहन राकेश का एक दूसरा ही चित्र हमारे सामने सांन देती हैं और हम प्रभावित हुए बिना नहीं रहते ।

000

निर्मल वर्मा के अनुसार कहानीकार एक जासूस की भांति हैं... जो असंदिग्ध व्यक्तियों का पीछा करता है, ताकि उनका भेद मालूम कर सके । वह हमेशा उनके पीछे रहता है, और बाहर रहता है । जिस व्यक्ति का वह भेद जानना चाहता है, उसे वह छू नहीं सकता । उसके निकट नहीं जा सकता... एक डिटेक्टिव को सिर्फ़ उन सुराखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जो उसके पात्र पीछे छोड़ गये हैं । वे उसे ऐसे यथार्थ की ओर ले जा सकते हैं, जो महज मरीचिका हो सकती है ।^१ कहना न होगा कि कहानीकार पात्र का पीछा नहीं करता, बल्कि वह पात्र को 'जीता' है । पात्र के रेशे-रेशे में प्रवेश करके ही 'पात्र' को सजीव बनाया जा सकता है । 'बाहर' रहकर और पात्र पीछा करके तो हम उसकी 'कमेंटरी' भर दे सकते हैं । गहराई तक नहीं पहुंच सकते । निर्मल वर्मा में सूक्ष्मता एवं तरलता का पुट अधिक है । उनकी कहानियों में संगीत की ज़मीन तोड़ी गयी है और यह कहानियां संगीत के काफी निकट हैं । इनकी कहानियों में व्यक्ति-चिन्तन का स्वर ही अधिक उमरता है, फिर भी इनकी कहानियों को कुछ वाचोचकों ने सामाजिक चेतना से अनुप्राणित माना है ।

निर्मल वर्मा की अधिकांश कहानियों की वस्तु रोमांटिक प्रेम के तंतुओं से निर्मित है, और इनमें अवसाद की गहरी छाया है । प्रेम-अनुभूति की मधुरता और विफलता का व्योरा इनकी कहानियों में मिलता है । 'बगाटेले', 'देहलीज़', 'ढायरी के खेत', 'मामा का मर्म', 'तीसरा गवाह', 'बधेरे में', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'लवर्स', 'परिन्दे', आदि कहानियों में उन्होंने इसी अनुभूति को अपने कथ्य का आधार बनाया है । इनकी कहानियों में व्यक्तिमूलक चेतना अथवा व्यक्ति-सत्य की दृष्टि ही है । इन कहानियों में चित्रित विफल प्रेम की स्थिति प्रायः व्यक्ति-विकास के लिये बाधक सिद्ध होती है । निष्फल रोमांस, एक कोरा चिन्तन है जो भावुकता में जा कर अन्ततः लुप्त भी हो जाता है ।

डा० बाष्णीय के अनुसार - निर्मल वर्मा उन कथाकारों में हैं जिनके लिये जीवन का अर्थ विदेश-प्रवास, शराब और लड़की है। अधिकांश कहानियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं, जिनमें कोई जीवन नहीं है, कोई यथार्थ नहीं है। केवल भावुकता है, वादेका, बीमान्ती आदि विदेशी शराबें हैं, प्राग शहर है, पब हैं, पहाड़ हैं, गिरती हुई बर्फ है, सरसराती हुई हवा है और नीली आंखों तथा भूरे बालों वाली कोई टूरिस्ट या विदेशी महिला है। इन वाधुनिक प्रसाधनों को जुटा कर वे कहानी के रेशे संगुणित करते हैं, जो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के व्योरे मात्र बन कर रह जाते हैं। 'दहलीज़', 'अंतर', 'पिता का प्रेमी', 'पिछली गर्मियों में', 'पहाड़', 'जख्मी फाड़ी', तथा 'स्क शुरुआत' आदि कहानियाँ पढ़कर इस आधुनिकता से वितृष्णा होती है और आज की तथाकथित आधुनिकता के प्रति अपनी कला एवं सज्जनशीलता का ह्रास कर वितृष्णा उत्पन्न करता है। यदि निर्मल वर्मा का उद्देश्य है, तब उनकी सराहना की जानी चाहिए, पर दुर्भाग्य से बात ऐसी नहीं है। ... 'पिछली गर्मियों में', 'माया-दर्पण', 'लवर्स', 'लंदन की एक रात', तथा 'कुत्ते की मौत' आदि कुछ ही ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की ट्रेजेडी थोड़े यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त हुई है। नहीं तो जीवन से पलायन और आत्मपरकता, कुंठा, निराशा और घुटन को शराब से शांत करने की झूठी ललक से हर कहानी भरी है। डा० नामवरसिंह ने निर्मल वर्मा को शायद 'कुत्ते की मौत', 'माया-दर्पण', और 'लंदन की एक रात' कहानियों के आधार पर ही पुनर्निर्माण के कहानीकार माना है। अन्यथा इनकी अन्य कहानियों का पुनर्निर्माण आंदोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

निर्मल वर्मा कलावादी हैं। उनके लिये कला मात्र कला है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं - अतः उनकी कहानियों में किसी जीवन-दृष्टि अथवा स्वस्थ सामाजिकता को खोजना व्यर्थ होगा। इनकी कहानियों में कलात्मक बारीकियाँ हैं। वातावरण के बारीक से बारीक रेशे को उभारा गया है। उनके पास वर्णन-क्षमता है, निवाह कुशलता है, एवं सार्थक प्रतीक योजनाना मिलती है। यों निर्मल वर्मा का मूल स्वर

१. डा० लक्ष्मीसागर बाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
कलाहावाद, पृ० १४२-१४३।

रोमांटिक है ।^१

पहाड़ के पीछे से जाते हुए पक्षियों के झुण्ड को देख कर परिन्दे की लतिका बल्ले बल्ले सोचता है - 'क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जाएंगे ?' और डा० नामवरसिंह के अनुसार यह प्रश्न मामूली और व्यक्तिगत नहीं है - 'जैसे इस प्रश्न से लतिका, डाक्टर मुकजी, मि० ह्यूबर्ट का सम्बन्ध है इन सब का और इनके बतावा भी और सबका । देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव-नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और एक छोटा-सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अव्यवृत्तों से वलमित कर देता है । 'हम कहाँ जाएंगे' यह वाक्य सारी कहानी पर अर्थ-गंभीर विषाद की तरह छाया रहता है । प्रसंगात् बेशक की कहानियों में बार बार गुंजेन वाला वह प्रश्न यह बर याद वा जाता है - हम क्या करें । वह प्रश्न जिसकी गूँज उन्नीसवीं सदी के सारे रूसी कथा-साहित्य और सामाजिक चिन्तन में बारू बार सुनायी पड़ती है । जैसे सारा ज़माना एक साथ पूछ रहा हो कि क्या करें ?

निर्मल बर्मा की कहानियाँ अपना गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं और यहाँ तक कि तमाम कहानियाँ बस, एक-सा प्रभाव ही छोड़ती हैं । इस प्रभाव के जाने न तो चरित्र याद रहते हैं, और न घटनाएँ । चरित्र या प्रभाव ? के उत्तर में स्पष्टतः यही कहा जा सकता है कि चरित्र बला से कुछ अर्थ नहीं रखता यदि वह पाठक के ऊपर कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाता । कमज़ोर चरित्र व्यर्थ है । कहानी में वस्तुतः प्रभाव ही मुख्य होता है ।

यह प्रभाव निर्मल बर्मा के बहुत ही परिष्कृत, एवं वाग्मिजात्य शिल्प के कारण ही है । इनकी कहानियों में प्रभाव की गहराई इसीलिए है कि इनके यहाँ चरित्र, वातावरण, कथानक वादि का कलात्मक रचाव है । इनके चरित्र बहुत ही स्पष्ट हैं और प्राकृतिक वातावरण में स्वयं प्रकृति की भाँति ही विलीन हो जाते हैं -

१. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी कहानी - उद्भव और विकास (१९६६),
दिल्ली, पृ० ५६५ ।

२. डा० नामवरसिंह : कहानी - नयी कहानी (१९६६), इलाहाबाद, पृ० ६६ ।

किसी पौधे, फूल या बादल की भांति इस तरह वंशित हो जाते हैं जैसे वह व्यक्ति नहीं - प्रकृति के ही वंश हैं ।

संगीत के मूर्त को सचमुच निर्मल वर्मा की थोड़ी-बहुत अभिव्यक्ति दे सके हैं - उसी क्षण पियानो पर शीमा का नाक्टर्न ह्यूबर्ट की उंगलियों से फिसलता हुआ धीरे-धीरे हृत् के अन्धेरे में घुलने लगा - मानो जल पर कोमल स्वप्नित उर्मियां मंवारों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों । लतिका को लगा कि जैसे कहां बहुत दूर बर्फ की चोटियों से परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़ जा रहे हैं ।^१ निश्चित ही यहां संगीत का चित्रण मात्र वातावरण के चित्रण के लिये ही नहीं किया गया है । बल्कि 'संगीत की वात्मा' को उसके 'धर्म' को पकड़ लेने का प्रयत्न है । संगीत किस तरह से फिसलता हुआ, वस्तुओं को फिसलाता हुआ अपना सत्ता सौकर अन्ततः किस प्रकार भाव-धारा में बदल जाता है, निर्मल वर्मा ने इसे ही चित्रित किया है । 'मौन की चिरंतन स्थिति' से अमूर्त तत्त्व को बाहर निकालने के लिये 'उंगुली का दबाव' निर्मल वर्मा के अनुसार कहानीकार की रचना-प्रक्रिया का पहला कर्तव्य है । निर्मल वर्मा की कहानियों के बारे में यदि यह कहा जाये कि उनकी कहानियों में एक 'स्टोरी-टोन' होती है तो ग़लत नहीं होगा । यह 'स्टोरी-टोन' उनकी कहानियों की विशिष्टता है ।

'बेगाटेस' (१९५४) कहानी में केशोर मावुक्ता मिलती है । यह रोमांटिक अनुभूति पर आधारित है और बेगाटेस एक प्रतीक है जिस पर सुमेर की गोती उस हृद में जा फंसती है जहां हेम का नाम लिखा हुआ है ।

'पिक्वर पोस्टकार्ड' (१९५७) भी रोमांटिक अनुभूति पर आधारित है, परन्तु दृश्य एक विश्वविद्यालय का है । इसमें रोमांस का स्तर भी बहुत ही निम्न कोटि का है । विश्वविद्यालय के जीवन में युवकों की दृष्टि में युवतियों का महत्त्व मिथ्या का है या पुडिंग की प्लेट का । और अन्त में परेश नालू को पिक्वर पोस्टकार्ड भेजता है ।

१. निर्मल वर्मा, परिन्दे ।

कथा की गहनता में निर्मल वर्मा के पात्र प्रायः सामोश रहते हैं। सामोशी उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। 'पिक्चर पोस्टकार्ड' का परेश भी सामोश रहता है।

परेश, निकी, साडी तीन नवयुवक विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करके शहर दिल्ली में वक्त गुजार रहे हैं। काम है - क्लबबार नर्वासी, आई० ए० एस० की तैयारी वगैरह। विद्यार्थी जीवन के स्वभाव के अनुरूप यह विश्वविद्यालय का चक्कर लगा जाते हैं और अपने खाली जीवन को साथ पढ़ी छात्राओं से बातचीत से मरने की कोशिश करते हैं। निरुदेस्यता यहां अपने असली रूप में उपस्थित है। यह विद्यार्थी अपनी व्यर्थता में व्यर्थ सोचना चाहते हैं। और निरुदेस्यता में भी एक उद्देश्य और आस्था की तलाश करते हैं। और तमाम अन्तर्बिरोधों को अपने भीतर मरे, एक भविष्य की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं।

'ढायरी के खेल' (१९५६) में मोहम्मद की स्थिति का चित्र उमरता है - ढायरी का पन्ना जिस पर एक शाम को किट्टो ने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखा था, अब पीला और पुराना पड़ गया है। इन अक्षरों में उसे सोचने की चेष्टा कितनी व्यर्थ है, जो अब नहीं रहा। कुछ भी याद करना वास्तव विडम्बना है। इसमें एक छम ढायरी है जो एक बरस तक सिर्फ एक की थी। एक की नितान्त निजी। कुछ देर बाद वह दो की हो जाती है। वस्तुतः जिन्दगी यहां वास्तविकता नहीं, मात्र ढायरी का एक खेल बनकर ही रह जाती है। यद्यपि लेखक ने यह कहा है कि 'किन्तु किट्टो की स्मृति सेंटिमेंटल नहीं बनाती, वह क्तीत का भाग नहीं है, जो कि याद करके मूलाया जा सके। हममें कुछ ऐसा होता है, जो न हो कर भी संग-संग चलता है, जिसे याद नहीं किया जाता क्योंकि उसे वह कभी भी नहीं मूलता। क्तीत समय के संग जुड़ा है, इसलिए केतना नहीं देता, केवल कुछ क्षणों के लिये सेंटिमेंटल बनाता है। जो केतना देता है, वह कालातीत है। दो-एक वैयक्तिक-चिन्तन के अन्तर्गत प्राप्त सूक्तियों को ढोड़कर कहानी सेंटिमेंटल ही है। भावुकता से परिपूर्ण क्योंकि लेखक अन्त में स्वयं ही (कहानी में वाचक) कहता है कि आज उस बात को बीते अनेक साल गुजर चुके हैं यद्यपि लेखक के अनुसार ही यह क्तीत है, और क्तीत से जुड़ा कुछ भी केवल क्षणों के लिये सेंटिमेंटल ही बनाता है।

‘सितम्बर की एक शाम’ (१९५७) का बेरोज़गार नायक घर से बाहर निकलते ही महसूस करता है कि - ‘उसके पाँव पीछे कोई निशान नहीं छोड़ गये हैं - जैसे वह अभी जन्मा है। उसकी जिन्दगी की गाँठ अतीत के किसी क्षण से नहीं जुड़ी है, इसलिए वह मुक्त है और घास पर लेटा है।’ यह बेकार युवक जब यह सोचता है कि सारी दुनिया उसकी प्रतीक्षा कर रहा है कि वह ‘उसे ज़रूर दे’ तो उसकी साधारण बेकारी से कहीं बड़ा ज़र्य ध्वनित होता है। यह ‘प्रतीक्षा’ इतनी विशद लगती है कि एक मामूली-सी प्रेम-कहानी अतिक्रमण कर जाती है और अपने विस्तार में सम्पूर्ण मानव-नियति, नवयुवक बेरोज़गारों की उदास, थकी हारी आत्मा को ज़ाती है जिसका सामना बाज़ का हर शिक्षित किन्तु साथ ही बेकार नवयुवक कर रहा है। एक काली छाया है - जो बेरोज़गारी की शक्त में भी नायक को गुँस रहा है, और प्रेम के क्षेत्र को भी उसी ने गुँस रखा है। इस काली छाया - नियति - से शायद किसी का भी छुटकारा नहीं है।

‘तीसरा गवाह’ (१९५८) में दिखाया गया है कि प्रेम एक अनिर्णय की स्थिति है। इसमें अनिर्णयिता स्त्री-पुरुषों के संकल्प-विकल्प, राग-प्रतिराग की एक दीर्घ मनःस्थिति है जो अनुभव के घरातल पर ठहरी हुई है। ‘तीसरे गवाह’ की प्रतीक्षा रहती है। किन्तु तीसरा गवाह प्रतीक्षा के अंतिम क्षण तक भी उपस्थित नहीं होता। और तीसरे गवाह के गुम होने के क्षण में, इस फुटपुटे में और सब कुछ भी खो जाता है - संकल्प स्वयं ही खो जाता है। लोग ‘तीसरे गवाह’ की प्रतीक्षा में थे किन्तु अपने पास का संकल्प खो गया है, इसका ध्यान उन्हें नहीं आया था।

रोहतासी साहब जो कि निर्मल वर्मा के अन्य पात्रों की भाँति ही बहुत सामोश रहते हैं, एक दिन सड़क में जाकर अपने अतीत जीवन का एक पृष्ठ खोल लेते हैं और एक रोमांटिक अनुभूति की गाथा सुनाते हैं। नीरजा के चरित्र का निर्माण यथार्थ संवेक्षता के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करता है। यह यथार्थ संवेक्षता अधिक गहन और तीव्र है क्योंकि वह आत्म चेतना पर ही आधारित है। प्रेम और सहानुभूति के होते हुए भी उस बन्धेरे कोर्ट-रूम में बिताये गये दस मिनट नीरजा के निर्णय, उसके संकल्प को एकदम बदल देते हैं। यह निर्णय-परिवर्तन की प्रक्रिया जीवन की जटिलता को बहुत गहरी संवेक्षता का उद्घाटन करती है।

प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में एक वकील साहब अपनी पिंती-पिंटी धारणाएं प्रकट करते हैं तो रोहतगी साहब बहुत ही धीमे स्वर में कहते हैं - हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं, वकील साहब ! सच्ची बात उस लड़की के जलावा कोई नहीं जान सकेगा और मुझे संदेह है कि क्या वह खुद भी सही कारण जान पायेगी ? इस कथन के पीछे जीवन की जटिलता की ओर बहुत ही संवीक्षा संकेत है । 'तीसरा गवाह' कहानी इस बात को ऐसे प्रमाणित करने के लिए लिखी गयी है कि स्वयं अपने ही जीवन में हुई घटना भी इतनी जटिल होती है कि वह स्वयं ही हमारी समझ में नहीं आती । ठीक-ठीक समझना बहुत कठिन होता है ।

000

माध्य साहनी व्यक्तित्व और भाषा की स्फूर्पता के दुर्लभ उदाहरणों में से एक हैं । उनकी भाषा जैसे सादगी और विनम्रता की पर्याय है । सहज भाषा के माध्यम से गहनतम मानवीय संवेदन को रचना के धरातल पर ले जाने की सहज लेखकीय सिद्धि इनके पास है । इन्होंने शिल्प और वास्तुनिकता के तमाम बाँदीलों से असम्पृक्त रहकर भी 'चीफ़ की दावत', 'इन्द्रजात', 'फटरियां' और 'फटकी रास' जैसी अविस्मरणीय कहानियां लिखी हैं - जिनके प्रभाव से कभी भी मुक्त नहीं हुआ जा सकता ।

यह भी प्रगतिशील कहानीकार हैं । इन्होंने अपनी कहानियों में मूलतः मध्यवर्ग को लिया है । मध्यवर्ग की विभिन्न समस्याओं को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है । वास्तुनिक समाज की प्राचीन रुढ़ियां, बिसराव, फूठी मान्यताओं आदि को इन्होंने सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया है । इनकी कहानी-कला का मूलाधार समष्टिगत चिन्तन पर ही आधारित है । पूरे भारतीय समाज को इन्होंने उसकी समस्त अच्छाइयों एवं बुराइयों के साथ चित्रित किया है । व्यक्ति इनके लिये 'निरा व्यक्ति' ही नहीं था, वरन् वह एक सामाजिक इकाई के रूप में चित्रित हुआ है । यह व्यक्ति उस जीवन के लिये संघर्षरत है । न तो अजनबी है और न ही अपने

वस्तित्व एवं निजत्व के लिए दिन-रात चिन्तित । सभी कहानियों में प्रायः
आधुनिक समाज के सोसलेषन एवं उसकी कृत्रिमताओं पर प्रहार किया गया है ।

यह धारणा गलत है कि कहानी जीवन के स्कांगी पक्ष को लेकर चलती है और
उसमें कोई बड़ी बात नहीं कही जा सकती । कहानी में वस्तुतः जीवन के इस
स्कांगी पक्ष में, अथवा टुकड़े में निहित अंतर्विरोध, द्वन्द्व, संक्रान्ति, अथवा
क्राशिस को पकड़ने का प्रयत्न होता है । और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर
यह संलग्न अंतर्विरोध भी बृहद् अन्तर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे
जाता है । इस दृष्टि से माध्यम साहनी सबसे सफल कहानीकार हैं ।

‘बीफ’ की दावत’ (१९५६) कहानी शुरू होते ही हमारे सामने ‘संकट-बिन्दु’ उपस्थित
हो जाता है - ‘अब घर का फालतू सामान वालमारियों के पीछे और पसंगों के नीचे
झिपाया जाने लगा । तभी शामनाथ के सामने सहसा एक बड़बन लड़ी हो गयी,
मां का क्या होगा ?’

कहानी में निर्धार और बूढ़ी मां (पुरानी पीढ़ी) ही एक समस्या बन गयी है ।
घर के ‘फालतू सामान’ से भी बड़ी समस्या । सामान को झिपाना सरल है किन्तु
इस ‘जीवित सामान’ को कैसे झिपाया जाये ? और शामनाथ कूड़े की मांति अपनी
मां को इस घर में या उस घर में झिपाता फिरता है । और उधर मां है कि
लड़के के इस व्यवहार का बुरा नहीं मानती, बल्कि स्वयं ही अपने ‘फालतू वस्तित्व’
से संकुचित होती रहती है और लड़के के मते के लिये जहाँ-तहाँ अपने को झिपाती
फिरती है । यह भी एक विडम्बना है । परन्तु शामनाथ ने जिस बीज को इतना
झिपाया वह अन्त में सुत हो गयी । बीफ ने मां को देखा ही नहीं, बहुत बुरी
हालत में देखा । परन्तु शामनाथ की धबराहट के बावजूद स्थिति सुधर जाती है ।
बीफ मां से स्वयं और पूरी वात्सीयता से मिलते हैं । और अन्त में शामनाथ देखते
हैं कि जिस सामान को झिपाने के लिये उन्हें परेशानी उठानी पड़ी थी वह सुत हो
नहीं गया, बल्कि हितकर भी साबित हुआ । दावत से बढ़कर उसकी उपयोगिता सिद्ध
हुई । यह सबसे बड़ी विडम्बना है और गहरे जाकर देखें तो मां केवल एक चरित्र ही
नहीं बल्कि प्रतीक भी है - सम्पूर्ण प्राचीन का ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक समर्थ कहानीकार किस मांति जीवन के छोटे-छोटे संडों में भी विराट् अर्थ, व्याप्त मानवीय सत्य को खोज लेता है। ऐसे अर्थगमत्व को ही सार्थकता कहा जाता है। बेटा मां को लेकर र्शम महसूस करे, उसे फटे कपड़े को मांति कहीं हिपा देना चाहे - यह एक 'मैलोट्रोपेटिक स्थिति' नहीं, असलियत है। अफसरों को सब कुछ अच्छा-अच्छा दिखाकर पटाने की ओर लाम उठाने की प्रवृत्ति आज हर कहीं मिलती है। नवीन आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने वाले मध्यवर्गीय व्यक्तियों की लाचारी, पीड़ा, आत्मप्रबंधना और जिजीविषा आदि का इन्होंने मार्मिक-चित्रण किया है।

000

रागेय राघव भी प्रगतिशील कहानीकार थे, किन्तु मार्क्सवाद नहीं। वे प्रगतिशीलता के सूत्र भारतीय परम्पराओं में ही खोजना चाहते थे और स्थानीय संस्कृति तथा यहाँ-वहाँ की जीवन पद्धतियों के अनुरूप उसका स्वरूप निर्मित करना चाहते थे। कूटर मार्क्सवाद से उन्हें घृणा थी और अपनी भूमिकाओं तथा तेषों में उन्होंने इस पर कठोर प्रहार भी किए हैं। भारतीय परम्परा से इन्हें मोह था। उनकी धारणा थी कि जब तक ऋ करने वाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा, मनुष्य और उसकी दुनिया निरन्तर यों ही भटकाव की स्थिति में रहेंगे। सारे दुःखों की जड़ इनके अनुसार अधिकार ही है। अधिकार - जोकि एक धोखा है और भोले-भाले मनुष्य को चक्कर में डाले उसे लाये जा रहा है। यही बहुत बड़ा सत्य रागेय राघव को मिला था, जिसको उन्होंने अपनी अनेक कहानियों में उजागर किया है।

रागेय राघव स्वयं भी जीवन के कठोर व्यर्थ के मोक्ता थे और विषम परिस्थितियों में जिये थे। अत्यन्त संघर्षशील जीवन ने उन्हें और उनके साहित्य को पूर्ण संकल्पित एवं कर्मठ तथा कठोर बना दिया था। एक जजीब-सा स्थापन इनकी कहानियों में मिलता है। जो संभवतः इनके संघर्षशील व्यक्तित्व के कारण ही है।

‘देवदासी’, ‘बनुवति’ नी’, ‘गदले’, ‘साम्राज्य का भेद’, ‘अभिमान’, ‘पंच-परमेश्वर’, ‘नई जिन्दगी के लिये’, ‘धर्म-संकट’, और ‘गूँगे’ वादि कहानियों में उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मिलता है। यथार्थ चित्रण के प्रति उनमें अत्यन्त वागृहशीलता है। इन्होंने वर्ग-संघर्ष तथा मध्यवर्ग की व्यापक समस्याओं का चित्रण किया है। ‘गदले’ उनकी सर्वाधिक सफल रचना मानी जाती है।

‘गदले’ (१९५५) अपने यथार्थवादी वातावरण, वास्था और नये मूल्यों को बहुत गहराई से व्यक्त करती है, और बहुत दूर तक स्लाध्य है। किन्तु सेद तब होता है जब हम देखते हैं कि उसका अंत ‘मैलेडेमेटिक’ हो गया है। कुछ लोगों ने इसे ‘वरित्र-प्रधान’ कहानी के अन्तर्गत माना है, किन्तु डा० नामवरसिंह के अनुसार यह ठेठ शास्त्रीय अर्थ में कहानी नहीं, बरन् रेखाचित्र जैसी है।

०००

स्वातंत्र्योत्तर काल के उपरान्त अधिकांश परिवर्तन नारी-जीवन में ही आये हैं। पुराने मूल्यों को यह नारी अस्वीकारना भी चाहती है और संस्कारों में बंधी होने के कारण वह उन्हें तोड़ भी नहीं पाती। नये-मूल्यों को कभी बिना सोचे-समझे अपना लेती है और कभी उन्हें उचित न समझकर संकुचित हो जाती है। और नये मूल्यों को जब भी उसने बिना सोचे समझे अपना लिया है तो उसके परिणाम बड़े ही त्रासदायक हुए हैं, जिन्हें उषा प्रियंवदा ने अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों की स्थिति, मान्यताएं, उनकी मूल्य-वमन पर्यादा में विकृतियां एवं विषमताओं को भी उन्होंने बखूबी पहचाना है। और इस परिवेश में उन्होंने आधुनिक और शिक्षित नारी का चित्रण किया है जो हर तरह से अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विवशित है और हर जगह अपने को मिसफिट पाती है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में जो परिवर्तन आया है उसकी भी इन्होंने सशक्त अभिव्यक्ति की है। जो कहानियां इन्होंने विदेश जाने के बाद, लिखीं, उनमें उनके आत्मपरक दृष्टिकोण का विकास ही मिलता है।

‘बापसी’, ‘सुते हुए दरवाजे’, ‘कुट्टी का एक दिन’, ‘पूति’, ‘कोई नहीं’, ‘एक कोई दूसरा’, ‘फूठा दर्पण’, ‘जिन्दगी और गुलाब के फूल’, ‘मोहबब’,

‘वनवास’, ‘महलियां’ आदि इनकी वर्चित कहानियां हैं। समष्टिगत चिन्तन से इनकी भी भावधारा अन्ततः व्यक्तिगत चिन्तन की ओर मुड़ जाती है।

इनका शिल्पविधान आधुनिक है, साथ ही सहज भी। ये कला को अधिक महत्व नहीं देतीं। समकालीन युगबोध को उसके सही परिप्रेक्ष्य में ‘नारी के दृष्टिकोण’ से उन्होंने देखने की चेष्टा की है। इनकी कहानियां ‘पारिवारिक जीवन के उन उमरे दबे कोनों को उभारती हैं, जो धीरे-धीरे गल रहे हैं और किसी न किसी प्रकार नयी मान्यताएं एवं मूल्य जिनका स्थान ले रहे हैं।’^१ इस प्रकार अधिकांशतः इनकी कहानियों में नये मानव-मूल्यों की खोज और उनका स विरलेषण ही हुआ है। यह कहानियां सहज और सरल हैं और कहीं भी एक नये तरह के पाठक की मांग नहीं करती हैं। सामान्य अनुभवों को इस तरह नया संदर्भ देती हैं कि पाठक को कहीं भी संस्कारगत धक्का नहीं लगता। अतः रूप (फार्म) की दृष्टि से, उषा प्रियंवदा की कहानियां पुराने के अधिक निष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में, वे साहित्य के अन्य ‘प्रकारों’ से कम प्रभावित हैं।

तमाम रुढ़ि-परिस्थितियों और घटनाओं से गुजरते हुए भी वे अपने को रुढ़ि-निष्कर्मों से बचाती हैं, मानों जीना ही नहीं, समझदारी से जीना ज्यादा जरूरी है। विवेक के प्रति वह सदैव आग्रहशील हैं। हर कहानी में नयी संवेदनाओं की तलाशी है और हर कहानी मन पर एक सार्थक प्रभाव डालती है। कहानी के पीछे से जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध और उनका सूक्ष्म-निरीक्षण स्पष्ट फलकता है। भावनाएं भी कातर अथवा दुर्बल अथवा दमनीय नहीं लगतीं। उनमें विचारों की-सी गरिमा है, संयम है और गहराई है।

इनके बरित्र स्वाभाविक वाकान्ताओं और आवश्यकताओं वाले लोग हैं। रोज़ के आर्थिक और आपसी सम्बन्धों के बीच वह घुटते हैं और बाह्य भी जीवन को लेकर कोई बुनियादी सवाल नहीं उठाते। विविधता और मार्मिकता का सहसा इनकी कहानियों में मिलता है।

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १४६।

‘जीवन को’ ये ऐसे विचारकोण से नहीं देखतीं कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियों से बड़ा लगे - ‘कामू के ‘सिसीफस’ की तरह। निराशापूर्ण स्थितियों में भी आज का मनुष्य अपने को सहसी और अपराजित देखना चाहता है, हताश, दान और दयनीय नहीं। इस बात को वह एक श्रानदार रचनात्मक तर्क देता है जो उनकी कला को एक नया आयाम देता है। माथा इनकी अधिकांशतः वस्तु-सम्बन्धी ही होती है, इसलिए उपयुक्त वर्ण में उसे सीमित भी कह सकते हैं।

‘जाते’ (१९५६) में मोठा वृत्तियों के माध्यम से विवाहित जीवन का व्यंग्यात्मक चित्र खींचा गया है।

‘परम्बुलेटर’ (१९५६) में एक मध्यवर्गीय दम्पति का चित्रण है। कालिन्दा जो अपने बच्चे के लिये तारीफी गयी परम्बुलेटर किता को नहीं देती, यहां तक कि बहुत जरूरत पड़े पर उसे पति तक के लिये भी बिकने नहीं देती, सबसे बुराई मोल ले लेती है। उसके साथ उसकी पहली मृत लड़की की भावनाएं बंधी हैं। किन्तु जब अपना बच्चा बीमार पड़ता है तो तुरन्त कांपते कंठ से कहती है - ‘लड़े क्या हो ? गाड़ी लेकर जाओ और कहीं बेव कर दवा ले जाओ।’ बड़ी मामूली सी बात है कि यथार्थ के जागे मानव-मन की कोमल-वृत्ति, भावुकता का कोई महत्व नहीं रह जाता। कहाना में कालिन्दा के मातृत्व-भाव और वात्सल्य का चित्रण बहुत ही सशक्त और सजीव है। यथार्थ, आर्थिक विषमताओं के बीच व्यक्ति की कोमल भावनाएं किस भांति राख हो जाती हैं - मानव की यह विवशता, उसके कहण इतिहास को ही इस कहानी में भावपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। ‘फिर वसंत बाया’ संग्रह की सारी कहानियां लेखिका की हान्नावस्था के प्रयोग हैं।

000

मन्मू मंडारी की ‘कहानियां’ मूलतः वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित हैं, पर अपने

१. उषा प्रियंवदा : चिन्मयी और गुलाब के फूल, पृ० १६।

पति राजेन्द्र यादव की अपेक्षा उनकी कहानियां जीवन के अधिक निकट प्रतीत होती हैं और अधिक संदेश्यता लिये हुए हैं स्वाभंग्योपर काल में हुए नारी-जीवन में परिवर्तनों को और आज की तथाकथित वायुनिकता पर उन्होंने व्यंग्यपूर्ण प्रहार किये हैं, जिन्हें नारियां बिना किसी दूरदर्शिता के अपने जीवन से सामंजस्य बिठाने की असफल चेष्टा कर रही हैं ।^१

नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं, गृहस्थी में उसके माँ ही पिसने, घुटने और वन्ततः समाप्त हो जाने की गीली वेदना, एक ओर पुरुष के प्रति विद्रोह, और दूसरी ओर उसके प्रति एक विचित्र-सा मोह लिये नारी के विभिन्न पहलू मन्नू की कहानियों में उमरते हैं ।

कहानियों में सहजता एवं सम्प्रेषणोद्यता वन्त तक बनी रहती है । हां, सलने वाली बात 'मेनरिज्म' है । इसके प्रति मन्नू मंडारी का जाग्रह अधिक रहता है । और बिना किसी एक्शन के उनके पात्र कुछ कह ही नहीं सकते ।

मन्नू ने सामाजिक भ्रम, पारंपरिक संस्कार और नारी होने के निवृत्त का दोहरी-तिहरी जटिलताओं से संश्लिष्ट नारी चरित्रों के सबों से साक्षात्कार किया है । उनकी महत्वपूर्ण चीज़, उनकी लेखन क्षमता का सबसे गहरा साक्ष्य उनकी जटिल नारी चरित्रों वाली कहानियों में ही अधिक मिलता है । 'तीसरा आदमी', और 'यही सब है' उनकी ही नहीं, हिन्दी कहानी की उपलब्धियां हैं । नये मन और पुरानी स्थितियों से संघर्ष ही उनकी कथावस्तु है ।

पहले तो नारी को ही समस्या के रूप में देखा जाता था, किन्तु अब शुरू है कि स्थिति बदली है और नारी की समस्याओं पर भी लोगों की दृष्टि जाने लगी है। फिर भी नारी आज भी जीवन की कई महत्वपूर्ण स्थितियों से जुड़ी हुई है । अतः न तो आत्यंतिक विद्रोह उसकी नियति है और न ही वह कुंठाग्रस्त, मन का अवसाद और टूटन लिये चुपचाप परम्परागत नारी भी भांति आगे बढ़ती रह सकती है । पहले नारी को मात्र तन से ही जाना जाता था अब उसके पास एक नयी

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : वायुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
हलाहाबाद, पृ० १४६ ।

समस्या है - गृहस्थी के दबाव के नीचे यों हा मृतप्राय हो रहे 'उसके मन का क्या होगा' ? और वह इसी बाह्य और अन्तः में एक संतुलन बैठाना चाहती है, जिस में और कोई नहीं वह स्वयं हा हासता जाता है ।

'स्त्रियाँ के घर इंसान' (१९५६) एक महत्वपूर्ण रचना है । काश, ये दीवारें, किसी तरह हट जातीं और स्त्रियाँ के घर बाया इंसान कम से कम निरीह, विवश इंसान हो बना रहता । स्त्रियाँ के घर किसी हेवानियत से उसका साक्षात्कार न होता । काश, ये दीवारें किसी तरह हट जातीं । 'मिसेज़ शुक्ला का यह कथन नारियों की लचारी ही बताता है । दीवारों के भीतर गिरने में 'नन्स' के साथ जो अमानवीय व्यवहार होता है, उनकी यह कहानी साक्षी है । म्यानक अनुशासन और केंद्र के भीतर भी लूरी की मुक्ति की कामना - नारी की निर्भीकता और जाने वाले साहस का परिचय देती है । इस कहानी में धार्मिक, सामाजिक और हर प्रकार की रुढ़ि के प्रति एक अविश्वास लिये, अपने से लड़ती रह कर भी जूती अपनी वात्मा को मिटा कर जीवित रहती है, इसे उसकी कायरता भी समझाकर जा सकता है और विवशता भी । और दूसरी ओर विद्रोही रंजिता है जो अस्वामाधिक धार्मिक मूल्यों पर विश्वास नहीं करती । रुढ़ियों को अपना शोषण करने वाली परम्परा को चुनौती देती है और पूरे साहस के साथ विषम परिस्थितियों का सामना करती है । लूरी और रंजिता की इसमें अपरोक्ष रूप से तुलना की गई है । जो कायर, विवश और निरीह हैं, जूती की भांति उन्हें मिशन की दीवारें स्वयं तोड़ देती हैं और जो विद्रोही, सत्य का साक्षात्कार करने वाले, अपनी वात्मा को सर्वोपरि मानने वाले साहसी होते हैं, वे रंजिता की भांति ही स्वयं को अजायब रखते हुए अपने चारों ओर उठी हुई प्रथाचार की दीवारों को ही तोड़ देते हैं । 'फादर' का उपयोग कहानी में एक तरह से मिशन से चर्च और गिराव में होने वाले प्रथाचार के प्रतीक के रूप में ही हुआ है ।

ग्राम जीवन की विसंगतियों, विषाक्त राजनीतिक प्रभावों, उसके सन्निपात गुस्त वर्तमान को शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। व्यक्ति कितना निरीह और विवश है, इसे नन्हों के माध्यम से बड़ी मार्मिकता से उभारा है। नन्हों की बूझियां इस विवशता की कितनी सार्थक प्रतीक हैं - नन्हों जब उन्हें पहनना नहीं चाहती थी, तो यह ज़बरदस्ती उसके हाथों में पहनायी गया और जब उन्हें उतारना नहीं चाहती, तो लोगों ने ज़बरदस्ती हाथों से उतरवा दिया।^१ व्यक्ति कितना परतन्त्र है और दूसरे किस सीमा तक उसके जीवन में घुसे हुए हैं - इस विवशता का तीखा दर्द नन्हों मोगती है।

इस विधवा नन्हों की शादी जब लोग उसके देवर रामसुभग से कर देना चाहते हैं। रामसुभग को ही पसंद करवा कर पहले लोगों ने नन्हों की शादी लंगड़े मिसरीलाल से करायी थी। नन्हों को भी रामसुभग पसंद था किन्तु विधवा होने के बाद यही रामसुभग जब नन्हों की बांह फ़ड़ लेता है तो - सरम नहीं जाती तुम्हें - नन्हों सांपिन की तरह फुंफ़कारती हुई बोला - बड़े मर्द थे तो सबके सामने बांह फ़ड़ो होती, तब तो स्वांग किया था, दूसरे के ख़ज्ज को धे, सूरत दिख़ा कर ठगहारी की थी, अब दूसरे की बहू को हाथ फ़ड़ो सरम नहीं जाती।^२

और अंत में जब बहुत टूट-टूट कर भी नन्हों रामसुभग को अकेला ही वाससलौटा देती है तब पता लगता है कि ब्रासदी है क्या? सीधी-सादी नन्हों चुपचाप दीये की लौ और जटामासी के फूल की मांति कई-कई फांकों में बंट जाती है... और यही नन्हों किवाड़ बंद कर लेती है किन्तु फिर भी सांकेत नहीं बढ़ा पाती...। अपने से कितना कितना लड़ना... अंत में अपने को ही झकार कर देना... इससे बड़ी ब्रासदी और क्या हो सकती थी? 'ब्रासदी' - यहां अपना अर्थ नहीं तो बैठती वह वस्तुतः यहां नन्हों का पर्याय बन जाती है। ब्रासदी अथवा नन्हों, किसी एक का भी स्मरण करके हम दूसरे के रोम-रोम का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

१. डा० शिवप्रसाद सिंह : इन्हें भी इंतज़ार है, पृ० १५

२. वही, पृ० १६

‘दादी मां’ (१९५१) की परिणति वादश्रीवादो है। वैसे फिर मां यह ताज़गी से भरी हुई और ग्रामीण जीवन के प्रति फ्याँपित लुचि उत्पन्न करनेवाला पहला कहानी थी। इसमें दादा के माध्यम से ध्वंसोन्मुखी आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयास रोमैंटिक दृष्टिकोण का परिचायक है। ‘बार-बार की माता’ (१९५२) में विवशता, हार, लाचारी का अतिशय मर्मस्पर्शी चित्रण है।

‘विन्दा महाराज’ फिर उपेक्षित जन-समूह हिजड़ों के दर्द को अभिव्यक्ति करती है। ‘कर्मनाशा का हार’ में यथार्थ के सण्ड के नये-नये पहलुओं को उभारने और उसके अन्दर जीवन की छोटी छोटी अनुभूतियों के चित्रण हैं। इस कहानी में कलातत्त्व की भी परम सफ़लता देखा जा सकती है। बहुत कम कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें जीवन का ऐसा स्वस्थ सौन्दर्य, और मानव की ऊर्जीस्वता शक्ति मिलती है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। ‘कर्मनाशा का हार’ वाले भरो पढ़ें जैसे सशक्त व्यक्ति केवल चरित्र नहीं बल्कि वाज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक हैं। इस कहानी में बाढ़ का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। गाँव में सामाजिक अंधविश्वास वाज भी वैसे के वैसे ही हैं और मनुष्य की बलि देकर नदी के कोप से बचने के लिये सोचा जाता है। अंततः प्यार की, मातृत्व की विजय और समाज की हार चाहे वादश्रीवादी परिणति अवश्य हो किन्तु संतुष्टि वह बहुत है।

‘प्रायश्चित्त’ में पत्नी के मानसिक असंतुलन का यथार्थपरक चित्रण है। ‘पापबोवी’ में चोरों की मजबूती है, उनकी कमीयता और चोर बन जाने की विषम परिस्थिति का सशक्त चित्रण हुआ है। पेट और बच्ची की ममता के लिये एक व्यक्ति कितना मजबूर हो जाता है, या फिर इससे यह भी मूल्य ध्वनित होता है कि चोर व्यक्ति स्वयं नहीं बनता, यह समाज ही उसे चोर बना देता है।

‘केवड़े का फूल’ में वाज की नारी की दुःखी रग को पकड़ा गया है। न जाने कितनी अनिताएं समाज की गुंजक में पिसती रहती हैं और अन्ततः समाज के कुओं में डूब अपना अस्तित्व खो देती हैं। नारी वाज भी उतनी ही शक्तिहीन और अकला है, जितना कि वह पहले हुआ करती थी - उसके शिक्षित हो जाने से यह बोध और दूना हो गया है - संस्कार उस पर मर्यादा निभाते जाने का बोझ ढालते हैं और उसकी शिक्षा उस पर बाधुनिकता और फूँठी मर्यादा फटक देने के लिये कौबती

रहती है। फिर भी अंततः वह पति की इच्छा की दासी हो नज़र आती है और समाज की सारी लोक-ताज और मर्यादा का बोझ चुपचाप अपने ही सिर पर स्वीकार कर लेती है।

‘शहीद दिवस’ में स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की भावना अपनी चरम सीमा पर व्यक्त हुई है - ‘तीन फेर। क्ये साले ने, पर बाह रे पट्टा। जब पेर घर दिया तो घर दिया, पाहे कोन हटे। हून से देह रंग गयी, तड़प कर जवान गिर उठा, में दौड़ कर पकड़ूं कि हक्क कर बोला, ‘पड़े सबरदार कूण्डा फुंकने न पाये, जावो लाश के पास जा बैठते हो, कूण्डा उठा लो।’ उत्तरदायित्व का बोझ उन पात्रों को आवश्यक लगता है। किसी भी पात्र में उत्तरदायित्वहीनता की भावना नहीं मिलती। सभी उत्तरदायित्व का दर्द सहना पसन्द करते हैं और उसे सहर्ष फेलना उन्हें अच्छा लगता है। ‘शहीद दिवस’ में सेठ गिरधरदास को बनाने के लिये स्वतन्त्रता के चहेंते देवी चंद स्वयं गिरफ्तार हो गये किन्तु वही सेठ गिरधरदास जब देवीचंद के खिलाफ गवाही देते हैं तो मनुष्यता को जैसे काली नागिन डस लेती है। मनुष्यता कब, कहाँ और कैसे कम तौड़ देती है, अथवा कहाँ, कैसे जीती है यह शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ पढ़कर बहुत गहराई से जाना जा सकता है। जेल के सींखवों के भीतर टूट गया अमर सेनानी देवीचंद का शरीर भी अन्य कितने ही अनजान शहीदों के आत्म समर्पण की भाँति सबसे अनजाना और अभिज्ञ ही रह जाता है। उसी शहीदों को कोई नहीं जान पाता - उनकी तो स्वतन्त्रता के उपरान्त कस कितारें भर ही रह गयी हैं - स्वातंत्र्योत्तर जुलूसों का नेतृत्व तो कस सेठ गिरधरदास जैसे स्वाधीन, पाहण्डी और मक्कार लोग ही करते हैं।

‘हाथ का दाग’ में स्त्रियों के शरीर विनिमय की समस्या उठायी गयी है। ‘माटी की बीलाद’ कुम्हार जैसे उपेक्षित पात्र पर लिखी गयी है। ‘गंगा-तुलसी’ में पुत्र सुनाल बहुत ही आधुनिक है और अपनी व्यभिचारी माँ के संदर्भ में सोचता है कि इतनी गंदगी समायी होने के बाद भी तो गंगा गंदी नहीं कहलाती है।

इस प्रकार ये कहानियाँ - ऐसे पात्रों की कहानियाँ हैं, जो अपने गाँव की बहर-
दावारी के भीतर रहते हुए भी हमारे चारों ओर फैले हुए हैं। ये पात्र अपने भीतर
ही टूटते भी हैं, बनते भी हैं और उनके टूटने-बनने की यह प्रक्रिया ही इन कहानियों
का मूल उत्स है।

०००

रेणु प्रभुत रूप से आंचलिक कहानीकार हैं। 'ठुमरी' (१९५६) कहानी संग्रह की
कहानियों ने निश्चित ही नयी ज़मीन तोड़ी थी और इसी भूमिका इसी काल से
ही बांधी गयी थी। 'तीसरी कसम', 'रसप्रिया', 'तीर्थोदक', 'तालपान
के बेगम' तथा 'ऐसे' आदि कहानियों को पढ़कर गाँवों की मिट्टी की गंध तक
का अनुभव होता था - उनमें इतनी यथार्थता है।^१

अपने अंचल की लोक-संस्कृति, भाषा, आचार-व्यवहार, स्थानीय जीवन-पद्धति तथा
मुहावरे आदि को - रेणु ने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से पकड़ा है और अपूर्व संवेदनशीलता के
साथ व्यापक सार्वजीनता प्रदान की है। इन कहानियों में सर्वथा नयी शैली का
प्रयोग हुआ। - फोटोग्रैफिक शैली। इसमें कहानीकार एक कैमरामैन की भाँति
एक विशेष अंचल की भिन्न-भिन्न कोणों से तस्वीरें, ख़तारता हुआ चलता है।
अंचल का रंग रंग इन बटक रंगीन बस्तीरों में अंकित हो गया है। रेणु के पास
रंगों के अतिरिक्त 'ध्वनि यंत्र' भी था, जिसके माध्यम से उन्होंने गायों की चलने
की आवाज़, पेड़-पत्तों के हिलने की ध्वनि, ढोलकबोर मृदंग की झपें, हंसुली, फाँफ
और कंगनों की लनक, चलने-फिरने की पदचाप तक 'टैपरेकॉर्डर' की भाँति 'टैप'
कर ली है। इस दृष्टि से रेणु बहुत ही सफल रहे।

इनकी कहानियों में उपन्यासों के गुण मिलते हैं। शैली-माधुर्यपूर्ण, प्रवाहमयी और
बहुत काव्यमय है। 'ठुमरी' का लेखक, लेखक नहीं, कथागायक रहा है। कहानियों
के संगीतबर्मा अधिक होने से इन पर अंचल विशेष का अधिकार नहीं रह जाता और
ये कहानियाँ आंचलिकता की संकीर्णता से ऊपर गहरी मानवीयता के दर्शन कराती हैं।

१. डा० लक्ष्मीसागर बाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
इलाहाबाद, पृ० १४५।

अंचल के साथ ही साथ इन्होंने 'व्यक्ति' की भी बढ़कें सुनी हैं - उसके 'चटक रंगों' के छोटे-छोटे किन्तु बहुत ही स्पष्ट 'स्नेप' उतारे हैं। बारीक से बारीक रेशा तक उभर आया है। 'रेणु' का मूल स्वर मानवतावादी है, और चित्रण यथार्थवादी। 'रेणु' की कहानियों में - 'एक आंतरिक संगीत या संगति है जो बाहर के 'विस्तराव' की भीतर से जोड़े और बांधे रहता है, इसके कलात्मक रचाव को, ठेस लगने नहीं देता।' 'ठुमरी' में मृदंग का स्वर है जो आंचलिकता से प्रेरित है।

एक आलोचक के अनुसार - इस प्रकार की कहानियों में आज के युग का संक्रमण (क्राउसिस) नहीं आंका जा सकता। उस स्थिति, उस वातावरण में न यह संकट है और न उसका बोध। अतः उनमें आधुनिक संकट के बोध को चित्रित करना, आरोपित सत्य होगा अनुमानित सत्य नहीं। चरित्र-चित्रण के माध्यम से भी युगीन संकट अपनी फेवीडुगियों में अभिव्यक्त नहीं पा सकता जब तक वह 'पेरिवल' के पास न पहुंच सके।

एक स्तर पर यह कहानियां - किस्सागोई का नया संस्कार हैं और दूसरे स्तर पर कहानियां कम चित्र अधिक हैं और तीसरे स्तर पर उग्र मधुर स्वरों में बंधे जीवन का राग है। यह कहानियां संवेदों की परिणति का सफल उदाहरण हैं, और सर्वथा अद्भुती भाव-भूमियों को उद्घाटित करती हैं।

'तीसरी कसम' अर्थात् मारे गये गुलफामे ग्रामीण परिवेश की एक सामान्य गाथा है। हीरामन के साधारणजीवन में संवेदन की एक अमूलपूर्व घड़ी आयी थी। उन संवेदनों की स्मृति वह अंत तक संजोये रहता है। पुष्प के साथ ही एक कभी न टूटने वाली उदासी भी। हीरामन की पूरी अन्तयात्रा में एक अनाम सी महक, कोमलता और मिठास है। इस कहानी में 'रेणु' का 'स्प्रोब' और निवाह इतना सशक्त हुआ है कि इस कहानी की गणना सर्वश्रेष्ठ नयी कहानियों में होती है। इसमें चरित्र पुरातन और रोमांटिक हैं। घटना और चरित्र गौण हैं। आंतरिक संवेदना

-
१. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी कहानी - उद्भव और विकास (१९६६) दिल्ली, पृ० ५६२
 २. डा० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६७) दिल्ली, पृ० १२६
 ३. डा० बच्चनसिंह : समकालीन हिन्दी साहित्य - आलोचना की चुनौती, पृ० ११०

ही यहां प्रसूत है। पूरी कहानी होरामन के अकेलेपन की तीव्रतम अनुभूति को ध्वनित करती है - भेले में, अपने साथियों के बीच और लौटता हुआ सड़क पर वह एक रिक्तता से मरा है - 'बा रे जमाना' को दोहराता हुआ अपने अतीत से करना चाह कर भी बार-बार वह वहीं लोट जाता है - उसी बिन्दु पर जहां उसकी रिक्तता का कोष है।

'तीसरी कसम' में चरित्र माध्यम है जो आदिम रस-गन्धों को उभारता है। इसमें चरित्र को किसी आदर्शवादी परिणति पर नहीं पहुंचाया जाता - इसी से कहानी सर्वश्रेष्ठ बन सकी है। डा० बच्चनसिंह के अनुसार 'ताल पान की बेगम' (१९५७) और 'तीसरी कसम' दोनों ही कहानियां अधिक रोमैंटिक हैं और 'तीसरी कसम' तो नव-शिक्ष से घटनाओं, वर्णन विवरण में रोमैंटिक है। इनकी आधुनिकता नहीं होती। फिर भी ये निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ कहानियां हैं। 'तीसरी कसम' कहानी में विचार पुराने हैं या नये, बोध रोमैंटिक है वथवा 'स्पष्टा रोमैंटिक' - यह गौण बात है। इसकी आंतरिक सम्येदना सृजन के बराबर पर है - यही मुख्य बात है।

'रस-प्रिया' एक बहुत ही मर्मस्पर्शी कहानी है। क्योंकि उसमें संवेदना की अथाह गहराई है, और जीवन की सहजता इसमें कृत्रिम बोधिकता से आवृत नहीं हो सकी है। शिल्प अपने कथ्य के अनुसार नया हो कर भी सुता हुआ है। यह क्लासिकल ऊंचाइयों तक पहुंचने वाली महान प्रेम-कथा है। 'रस-प्रिया' जैसे समस्त भारतीय लोक-कथा, लोक-कविता और लोक-संगीत का निबोड़ है। इस कथना में प्रेम को साकार करने के लिये सारी की सारी लोक-कलाएं जैसे एक जगह संगठित और जीवित हो उठी हैं। यह उपेक्षित चरित्र को लेकर लिखी गयी है। 'रस-प्रिया' में संगीत, चित्र, कविता, डायरी, रेखा-चित्र, संस्मरण, रिपोताजि तथा और भी न जाने कितने रंग मिले हुए हैं।

'ताल पान की बेगम' (१९५७) में भी आंचलिक परिवेश के माध्यम से यह बात सिद्ध की गयी है कि वस्तुएं बाहने पर नहीं मिलतीं तो संसार ही निरर्थक लगता है और बाहने पर मिल जाती हैं तो डेर सारे जमानों के बीच भी व्यक्ति की सारी तालसायं पूरी हो जाती हैं। इतने ऊबड़-खाबड़ जीवन में एक वस्तु भी यदि मन

की मिल जाती है तो मन में इतनी वास्था होती है कि इस 'ऊबड़-खाबड़' में ही रस लेने लगती है। बिरजू की मां को भी जमाव में 'लातपान' की बेगम तीक्ष्ण व्यंग्य बन कर सात्ता है और जमाव को पूर्ति हो जाने पर जब वह भीतर से मरी हुई होती है तो यही विशेषण उसे अपने लिए उपयुक्त लगने लगता है - 'ठीक ही तो कहा है उसने ! बिरजू की मां बेगम है, लात पान की बेगम। यह तो कोई बुरी बात नहीं। हां, वह सचमुच लात पान की बेगम है।' ^१ बेलगाड़ी पर बैठ कर नोटों की देल जाने मात्र के 'छोटे से वह' की शांति जब हो जाती है तो बिरजू की मां इतनी सहृदय और उदार हो जाती है कि हाथ खोल कर फुवा को तम्बाकू दे देती है, दुनियां भर की मेला दिसाने के लिए अपनी गाड़ी में भर लेती है और तब सब कुछ भर जाता है - 'बिरजू की मां ने अपनी नाक पर दोनों आंखों को केन्द्रित करने की चेष्टा करके अपने रूप की फांकी ली, लात साड़ी की फिलमिल किनारी, मंगटीकका पर चांद।... बिरजू की मां के मन में अब कोई लातसा नहीं। उसे नांद वा रही है।' ^२ रेणु ने इस प्रकार ग्राम वंचन पर मनुष्य की आर्थिक विवशताओं, मनःस्थितियों एवं बान्तरिक जेलना को बड़ी कुश्लता से अंकित किया है।

०००००

१. रेणु : ठुमरी (दिल्ली), पृ० १८४

२. वही।

६ : पांचवां अध्याय : समाज का प्रजातांत्रिक ढांचा और व्यक्ति-स्वातंत्र्य

- प्रजातंत्र और नए सामाजिक प्रतिमान
- प्रगतिवाद : एक समाप्ता
- मतवाद का बाग़ह और भिद्युता वादश
- ऐतर्किक व्यक्तित्व का हास
- व्यक्ति वैशिष्ट्य का विघटन
- व्यक्ति स्वातंत्र्य का बान्दोलन
- व्यक्तिवाद और नई कहानी
- प्रजातांत्रिक मूल्यों का रूप
- हिन्दी नवलेखन तथा मोगी नई विशिष्ट अनुभूतियों की प्रदानता
- नई कहानी में निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति
- निजी अनुभूतियां काम कटा हुआ व्यक्ति

● प्रजातन्त्र और नए सामाजिक प्रतिमान

प्रजातन्त्रीय जीवन-पद्धति ने, जिसे फ्रेन्च राज्य-क्रान्ति से बल मिला, लोगों में समानतावादी आकांक्षा उत्पन्न की और उसमें समाज के सभी मनुष्यों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की भावना भी सम्मिलित हो गई। प्रजातन्त्र की स्थापना के साथ यह विश्वास दृढ़ हुआ कि समाज के वर्तमान संगठन में उन्नति के समान अवसर सबको प्राप्त हों - सामाजिक दृष्टि से अनुत्तरदायित्व स्वामित्व की समाप्ति और सामूहिक उत्पादन के उपकरणों का नियन्त्रण। यदि कोई प्रजातंत्र स्वस्थपुत्र है, तो हम एक ऐसी सामाजिक रचना के लिए प्रयत्न करेंगे, जिसमें इस बात का निश्चय रहे कि सभी व्यक्तियों को काम मिलेगा और भविष्य के लिए निश्चिन्तता रहेगी, सब बालकों को अपनी विशेष क्षमताओं के अनुरूप उचित शिक्षा मिलेगी, जीवन के लिए आवश्यक और सुविधाजनक वस्तुओं का वितरण विस्तृत किया जाएगा, बेकारी के कष्ट के विरुद्ध सब रक्षण-उपाय किए जाएंगे और आत्मविकास की स्वतन्त्रता रहेगी।

हमारे देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के समय इन्हीं सामाजिक प्रतिमानों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया गया था, पर दुर्भाग्यवश प्रष्टाचार, स्वार्थीलिप्सा और नेताओं की अयोग्यता के कारण ये सभी प्रतिमान धुँवले में डूब गए। वास्तव में ऐसी किसी भी आर्थिक प्रणाली को समाप्त कर लेना चाहिए, जिसमें कामगार के व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई हो या जो थोड़े से लोगों के लाभ के लिए कामगार को आत्मनाशी बर्बाद या प्रष्टाचार की ओर ले जाने वाली बेकारी का शिकार बनने देती हो। समाज की आर्थिक वस्तुओं का समुचित वितरण किया जाना चाहिए क्योंकि आर्थिक साधन उन्नति के अवसरों को सहीद सकते हैं। हमें प्रजातन्त्र का विकास एक मनःस्थिति के रूप में, एक जीवन शैली के रूप में करना होगा। समाज की नई व्यवस्था तभी स्थापित की जा सकेगी।

जिस विराट ऐतिहासिक घटनाचक्र ने एक ही पीढ़ी में पुरानी व्यवस्थाओं को ध्वंस कर दिया, परस्पर बिल्कुल विषम समाजों में क्रांति कर दी, विश्व भर में अब तक ज्ञात राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक शक्ति के सर्वोच्च पुनर्विभाजन को संपादित किया, जो लगभग बाकी दुनिया में सफल हो चुका है और शेष संसार के लिये चुनौती के रूप में आया है - वह प्रगतिवाद है जो मार्क्सवाद का साहित्य में प्रभाव है। प्रगतिवाद की धारणा है कि उसने मनुष्य की प्रकृति के एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कर लिया है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य की प्रकृति का निर्णय उस ढंग पर होता है, जिस ढंग पर जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। उसकी जेतना उसकी सामाजिक स्थिति का ही एक कार्य है। उसकी मनःस्थिति उन आर्थिक सम्बन्धों की नींव पर सड़ी एक श्रेष्ठ रचना है, जिसके द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। विभिन्न दार्शनिक मत वे विचारधाराएं हैं जो परिस्थिति-विश्लेषण में कुछ विश्लेषण क्षितियों की रक्षा के लिये विकसित कर ली गयी हैं। उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ-साथ वर्गों में परिवर्तन होता है। बाज श्रमिकों एवं पूंजीवादियों के दो वर्ग हो जाने के कारण राज्य वर्ग-नियन्त्रण, वर्ग-शासन का एक ऐसा साधन बन गया है, जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे को अपने प्रभुत्व में रखता है। उसके अनुसार धर्म वह अफीम है, जिसके द्वारा नियंत्रित और शासित वर्ग के सदस्यों को मूर्खित तथा संतुष्ट दासता की स्थिति में रखा जाता है। संक्रमण काल में, उत्पादन के साधनों के विकास में वर्ग-संघर्ष अवश्यमावी है। जब यह स्थिति समाप्त हो जायेगी, तो एक वर्गहीन समाज का जन्म होगा, जिसमें कोई शोषण न होगा तथा राज्य की भी आवश्यकता नहीं रह जायेगी। उस समाज में सबकी आवश्यकताएं पूर्ण की जायेंगी, पूरा न्याय होगा तथा स्वतन्त्रता के लिये मरपूर क्षेत्र रहेगा। इतिहास की वर्तमान अवस्था में हम इस लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं।

स्पष्ट है कि यह कार्ल मार्क्स का ही दर्शन है, जिसे वह इन्दात्मक भौतिकवाद कहता है। वह दृष्टि के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मान कर चलता है। वह परिवर्तन के निरर्थक चक्रों में अपनी वास्था न प्रकट कर विकास के सिद्धान्त को ही

स्वीकार करता है। हुआंग ने विचार की सत्य तथा भौतिक जगत को उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में कल्पना की है, पर मार्क्स इसे नहीं स्वीकारता।^१ प्रगतिवाद भूमि, व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओं को आधार स्वीकारता है। यदि किसी व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकताओं को रूपों का है, तो उसे सारे रूपों ही प्राप्त होने चाहिएं, उससे अधिक नहीं। प्रगतिवाद इन दोनों न्यूनाधिक स्थितियों पर नियन्त्रण रखना चाहता है। मार्क्स के अनुसार पूर्ण दृश्य और सूक्ष्म जगत का निर्माण वस्तु-पदार्थ से हुआ है। मेधा की भी वही वस्तु पदार्थ से निर्मित है, फलस्वरूप सृष्टि में केवल एक ही सत्ता है - भौतिकता। यह सृष्टि स्थिर नहीं बल्कि परिवर्तनशील और निरंतर गतिशील है। बाध्यात्मिकता मन बाध प्रान्तिपूर्ण धारणाएं हैं। यह भौतिक दर्शन है। उसके अनुसार इस सृष्टि की सत्ता बाह्य जगत् है और हमारी सत्ता से स्वतन्त्र है। इस सृष्टि का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन है, इससे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। समाज का सत्य उसकी कार्य यथार्थ व्यवस्था है और समाज में दो महत्वपूर्ण तत्व हैं - पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग।

१. कार्ल मार्क्स : कैपिटल, प्रथम भाग -- "To Hegel ... the real world is only the external phenomenal form of the ideal. With me the contrary. The ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into form of thought."

२. जार्ज लूकाच : स्टडीज़ इन यूरोपियन रिमिनिस्स (१९५०), लंदन, पृ० १ --

"Marxism searches for the material roots of each phenomenon, regards them in their historical connections and movements, ascertains the laws of such movement and demonstrates their development from root to flower and in so doing lifts every phenomenon out of a merely emotional, irrational, mystic fog and brings it to the bright light of understanding."

इन दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष होता है, जिसके परिणामस्वरूप यह सृष्टि गतिशील होती है और उसमें परिवर्तन का वातावरण लक्षित होते हैं। अतः प्रगतिवादी कहानीकार अपने दो उद्देश्य बना लेता है - एक तो वर्ग के प्रकाश में समाज की कटु आलोचना करना तथा दूसरा अधिभौतिक शक्तियों को कला का उपजाऊ बनाना। जहाँ निराशा और कटुता का दृष्टि सृष्टि एवं संस्कृति के विनाश एवं पतन पर कलुषण रुदन करता है, वहाँ प्रगतिवाद की एक नयी सृष्टि के उदय की आशा लक्षित होती है, जहाँ समानता और स्वतन्त्रता होगी एवं भूमिकों का शोषण न होकर उनकी पीड़ाओं में न्यूनता बाएगी।

प्रगतिवाद मनुष्य का विश्लेषण उसके पूर्ण रूप में ही करता है और मानव विकास क्रम का इतिहास पूर्ण रूप में निर्धारित करता है। वह उन नियमों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है, जिनके आधार पर मानवीय वास्तवा एवं सम्बन्ध निश्चित होते हैं। इस प्रकार इसका मुख्य उद्देश्य, पूर्ण मानव व्यक्तित्व को पुनर्गठित करना एवं उसको अनावश्यक शोषण एवं पीड़ा से बचाना, जो उसे वर्गीय सामाजिक व्यवस्था में सहना पड़ता है। ये सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक मान्यताएँ उस स्थिति को जन्म देती हैं, जिसके माध्यम से प्रगतिवाद अरु सौन्दर्य तत्व की पिछली कलासिक की स्थिति स्पष्ट करता है, साथ ही समकालीन साहित्यिक संघर्षों में नवीन कलासिकों का अन्वेषण करता है। जाज की उत्कण्ठों, कठिनाइयों, कुंठाओं, वर्जनाओं एवं निराशा के दमघोंट वातावरण की भयंकरता को न्यून करके व्यवा उन भौतिक एवं नैतिक बाधाओं, जिनके परिवेश में जाज का मानव गहन रूप से बाध है, की सीमाओं की उपेक्षा करके प्रगतिवाद किसी की धोयी और असत्य सांत्वना देने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि वह यथार्थ नहीं है।

प्रगतिवाद के अनुसार यह एक भ्रांतिपूर्ण धारणा है कि सृष्टि का स्वयं अपने में कोई अस्तित्व है, इसीलिए वह स्वप्ना के सूत्रों में बंधा है। उसके अनुसार सृष्टि की स्वप्ना भौतिकता के कारण है। इसीलिए वह कल्पना एवं वादर्थ से नहीं, व्यावहारिक सत्य एवं कठोर यथार्थ से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। प्रगतिवाद का लक्ष्य है कि वह समाज के विकास के मार्ग में जाने वाले अंधविश्वास तथा रुढ़िवाद की बड़बनी को दूर करे, समाज को शोषण के बंधनों से मुक्त करे। कार्यक्रम में प्रगतिशील,

क्रांतिकारी सर्वहारा श्रेणी को सबल साधन बनाना उसका ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के प्रमजाल को दूर करके मानवता की मौलिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिये प्रेरणा देना उसका उद्देश्य है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य अपने माग्य एवं जीवन-इतिहास का निर्माण स्वयं करता है और वही उसके प्रति उत्तरदायी भी है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में इस दृष्टिकोण को निर्विवाद रूप से अंग्रेजी लेखकों ने भी स्वीकार किया, पर बाद में साहित्यिकों में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उनके अनुसार कल्पना एवं मौलिकता का परस्पर सफल समन्वय नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप इस समन्वय से कोई सृजन कार्य भी नहीं हो सकता।

मौलिकता और वात्मा के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या मार्क्स इस प्रकार करते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व ही बेतना को निश्चित करता है। सृजनात्मक साहित्यकार के सृजन कार्य का यही आधार होता है और सभी कल्पनापूर्ण सृजन कार्य में उस यथार्थ युग का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनित होता है, जिसमें वह लेखक स्वयं जीता है। उसका सृजन कार्य उसके इस दृष्टि के सम्बन्ध एवं उसके घृणा एवं प्रेम का प्राप्त उपलब्धियों का परिणाम होता है। प्रगतिवाद के अनुसार कला आर्थिक आवश्यकताओं और औपचारिकताओं का रूप मात्र है। इस प्रकार प्रगतिवाद गहन आंतरिकता से राजनीति में भी आया और साहित्य के क्षेत्र को तो इसने सम्पूर्णतः अधिकृत कर ही लिया था। जगह-जगह साम्यवादी क्रांति करने और समाज में प्रगति से जाने का साहित्य रचा जाने लगा।

● मतदान का आगुह और मिथ्या आदर्श

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद काव्य के क्षेत्र में और कथा साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त वर्णों का विषय बन गया था। किन्तु धीरे-धीरे स्थितियाँ अत्यन्त स्पष्ट हो गयीं और यह स्वीकारा जाने लगा कि प्रगतिवाद पुनरावाद को प्रश्रय देता है। प्रगतिवाद में एक ओर धीरे-धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, तदपश्चात् मजदूर वर्ग का प्रतिबिम्ब बताया गया। दूसरी ओर जनता को स्फोट कर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग से कम्युनिस्ट

पाटीं और फिर कम्युनिस्ट पार्टी से नेतृत्व की ओर ले जाया जाने लगा । यद्यपि लोगों ने इसके विरुद्ध आवाज़ उठायी थी कि - प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है, जब वह साहित्य भी है । यदि वह (साहित्य) मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य तो क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता ।^१

प्रचारवादी पोस्टर साहित्य का प्रगतिशील भेष ने सदैव विरोध किया था -- कृति की श्रेष्ठता का आचार प्रचार न होकर, उसकी सौन्दर्यानुभूति, रूप योजना, शैली, प्रौढ़ता, शब्द प्रयोग आदि अनेक दूसरे निकष भी होने आवश्यक हैं ।^२ किन्तु यह विरोध केवल शब्दों तक ही सीमित रह गये, प्रगतिवादी रचनाओं में उन्हें क्रियात्मक ढंग से स्थान नहीं दिया गया।

प्रगतिवाद ने व्यक्ति के बारे में जो दृष्टिकोण ग्रहण किया था वह उसे दास या कठपुतली बनाता था । होगल के अनुसार व्यक्ति की चेतना इच्छा उसकी यथार्थ इच्छा के सामने, जो उसकी राष्ट्रीय संस्कृति से निर्मित होती है, अप्रदाय है, महत्वहीन है । इसमें राष्ट्रीय संस्कृति को राज्य की इच्छा से एक कर दिया गया था, और राज्य की कार्यवाहियां इतिहास की इच्छात्मकता के नियमों से शास्त्रिणी होती थीं । किन्तु मार्क्स ने इन विचारों को उल्ट कर दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की । मार्क्स के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निश्चित करता है । समाज सुधार की अपनी चिन्ता में मार्क्स सम्पूर्ण विकृतियों और अपूर्णता का कारण बाह्य बुरी स्थितियों के मत्थे ढढ़ देता है । अतीत में मनुष्य की भौतिक स्थिति बुरी थी क्योंकि सामाजिक व्यवस्था बुरी थी । यह एक वर्ग का गठन था, जिसमें मानव-जाति का

-
१. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा (१९५३), इलाहाबाद, पृ० ४६
 २. शिवदानसिंह चौहान : प्रगतिवाद (१९६६), दिल्ली, पृ० २१
 ३. होगल : किलासफ़ी आफ हिस्ट्री (सम्पा० लेसन), पृ० ८६ ।
 ४. एरिक फ़्रॉम : मार्क्स कान्सेप्ट आफ मैन, पृ० १०३ ।

महान समूह केवल इसलिये जी फटा था कि वह उत्पादन के साधनों के स्वामियों को अपना काम बेच देता था । और ये स्वामी अभियों की आवश्यकताओं का शोषण करते थे । यदि हम इस व्याख्या को हटा कर उसके स्थान पर साम्यवाद प्रतिष्ठित कर देते हैं तो यह बना लोग अपना प्रवाद, स्वार्थ तथा असम्यक्ता छोड़ देंगे और निर्धनों को उनके अज्ञान, दासता और अपमान से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी । प्रगतिवाद में सत्यानुसरण के लिये बहुत कम गुंजाइश थी । व्यक्तिगत सत्यता और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये कोई भावावेग नहीं था । मानव-जीवन की अंतःस्थिता के प्रति कोई निष्ठा नहीं थी । राजनीतिक या धार्मिक किसी भी प्रकार का सर्वाधिकारवाद हो, उसमें आत्म-दाय के बीज हुये रहते हैं ।

पिछले युग में प्रगतिवाद के नाम पर जो भी कहानियां आयीं, वे केवल नारेबाजी से प्रभावित थीं । पाटी तंत्र का प्रचार मात्र बनकर रह गयी थी । अधिकांश कहानियां केवल मिथ्या आदर्शों से प्रेरित थीं और बने-बनाये सांचों में ढली हुई थीं । प्रगतिवादी कहानीकार एक निश्चित प्रकार के बने-बनाये विचारों को पुष्ट करनेवाला कहानियां ही लिखने में अपनी सिद्धि समझते थे ।

यशपाल, अप्पराय, मेरवप्रसाद गुप्त, रागेय राघव, राहुल सांकृत्यायन आदि की प्रगतिवाद से अभिभूत होकर लिखी गयी कहानियां ऐसी ही हैं । यशपाल की 'दास कर्म' में जिस प्रकार अन्त में दासों को अपने कर्म के प्रति सचेत करने के लिये मच-गज के द्वार पर स्तंभों से लटका दिए गए, यह शायद वही मार्क्सवादी यांत्रिकता का परिणाम था । इसी कहानी में शास्त्रज्ञ मंत्री व्यंग्य से कहता है - 'महाराज की करुणा से उत्साहित हो दीपा ने कंपित, विनीत स्वर में प्रार्थना की - 'कर्म-रक्षा महाराज । मरनों के देश में मृतक शरीर बिना पर मस्म न कर पृथ्वी में गाड़ दिये जाते हैं । हम दोनों अपने देश में पति-पत्नी थे । मृत्यु के पश्चात् हमारे शरीरों को एक साथ समाधि दी जाने की क्या हो । हम लोग स्वर्ग में फिर एक दूसरे को पा सकें । ' महाराज ने सम्मति के लिये शास्त्रज्ञ मंत्री की ओर देखा । मंत्री ने उत्तर दिया -- 'यह केवल पापमूलक अनाचार की प्रार्थना है । अन्नदाता, स्वामी के प्रति विश्वासघात कर स्वर्ग की आशा करना अधर्म है । दास का केवल

एक धर्म है, प्रभु सेवा ।^१

यशपाल ने इस कहानी में वर्ग-विभाजन एवं शोषण की जिस प्रवृत्ति की ओर संकेत करना चाहा है, वह मात्र नारा बनकर ही रह गया है ।

अमृतराय की 'यावज्जन्तु दिवाकरौ'^२ कहानी में लगता ही नहीं कि कोई कहानी कही जा रही है । लगता है जैसे समाज की किसी व्यवस्था की समाजशास्त्रीय व्याख्या की जा रही है । इसी प्रकार रागिय राघव की एक कहानी है - 'नयी जिन्दगी के लिये' जिसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि जन की विषमता के कारण जब समाज में बच्ची और बच्चे में भेद नहीं किया जायेगा, तभी हम वास्तव में नयी मंजिल पर पहुँच सकेंगे । इस सत्य से किसी को अस्वीकार नहीं है । पर प्रश्न यह है कि जिस मांति यह कहानी में अन्तर्भूत हुआ है, क्या वह स्वाभाविक कथ्य बना रह सका है, या मात्र एक प्रचार कथवा नारा ?

किन्तु इस विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन लेखकों ने कोई अच्छी कहानी ही नहीं लिखी । यशपाल की 'पदा', रागिय राघव की 'गदले', अमृतराय की 'सस्ने का एक दिन', मेरवप्रसाद गुप्त की 'महफिल' आदि कहानियाँ अपनी विशिष्ट अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की परिपक्वता के कारण स्मरणीय हैं ।

मगधतशरण उपाध्याय, मन्मथनाथ गुप्त तथा राहुल सांकृत्यायन की भी अनेक कहानियाँ इसी कोटि में रखी जा सकती हैं । किन्तु अधिकांश कहानियाँ सहज एवं स्वाभाविक नहीं हैं । कहीं उनमें बजारी समाजी उत्साह तो कहीं सामाजिक जाग्रोश । कहीं असंतुलन है तो कहीं मात्र नारेबाजी । मात्र पाटीबाजी और यांत्रिकता का आभास इन कहानियों में मिलता है । सबसे बुरी बात तो यह थी कि साम्यवादी शत्रुओं से घृणा करता था और उनके प्रति अत्यन्त निर्दय व्यवहार करने की उद्येक्षा देता था । प्रगतिवादी लेखकों का दृष्टिकोण भी यही रहा जिससे लेखक के व्यक्तित्व का धीरे-धीरे हास होता गया ।

१. यशपाल : अमिश्रण (छठा संस्करण, १९६२), लखनऊ, पृ० १८ ।

२. अमृतराय : नीली मिट्टी, पृ० २३-२४

३. रागिय राघव : मेरी प्रिय कहानियाँ (१९५६), दिल्ली, पृ० १५२-१५४ ।

● लेखकीय व्यक्तित्व का द्रास

ऊपर प्रगतिवाद की न्यूनताओं की ओर संकेत करते हुए स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की कुछ कहानियों का मूल्यांकन किया गया जिससे यही सिद्ध हुआ कि इस काल की प्रगतिवादी कहानियाँ केवल मार्क्सवाद का पोस्टर बन कर ही रह गयीं ।

लेखकों ने मिथ्या आदर्शों का ही प्रचार किया । उनकी कहानियों में जीवन का स्पंदन नहीं बरन् शुष्क सामाजिकता एवं यांत्रिकता मिलती है और कहानी के पात्र में धीरे-धीरे लेखक के व्यक्तित्व का द्रास होता गया था ।

प्रगतिवाद ने जीवन को स्थापित करने में जीवन के उन तत्वों को एक प्रकार से पूर्णतया उपेक्षा कर दी थी, जो उसे समृद्धता देते थे । लेखक यह भूल गया था कि जीवन के बिना मानवीय संदर्भ के कोई कर्म नहीं होते । मानव-सक्रियता एवं मानवी-दृष्टि के अभाव में साहित्य अपना सारा अर्थवत्ता खो देता है । प्रगतिवाद अपने बहुजन जीवन के नारे में 'बहु' के संघ रूप को ही स्थापित करना अपना अंतिम लक्ष्य स्वीकारता था । व्यक्ति स्वयं में एक इकाई भी है - यह लेखक पार्टी के चक्कर में भूल गया था । नारे, प्रचार और पार्टी के चक्कर में 'व्यक्ति' की बलि दे दी गयी थी । यथार्थ और जीवन को एक साथ रख के न तो ये लेखक सौन्दर्य को ही देख पाये और न ही बहुजन के संघ को । इकाई-जीवन और संघ-जीवन में जो सापेक्षता है उसे यह लेखक देख नहीं सके । प्रगतिवादी कहानीकार इतनी संकीर्ण परिधि में बंध गये थे, उनके लिये व्यक्ति और व्यक्ति के जीवन का महत्व ही शायद निरर्थक हो गया था । इन लेखकों ने अपना व्यक्तित्व खो दिया था और पात्र समाज का एकांगी नारा लगाते थे जो प्रचार से इतना अधिक संबद्ध था कि उसने साहित्य का सारा सौंदर्य ही नष्ट कर दिया था ।

इस प्रकार प्रगतिवादी कहानीकार मानव विशिष्टता से हट कर कृत्रिमता का ही आग्रही बन गया था । इन लेखकों का अपना व्यक्तित्व, अपनी धेवा असमर्थ हो गयी थी और ये अपने समय के यथार्थ को समग्र रूप में नहीं, 'पाटी' की दृष्टि से देखते थे । साहित्यिक-इतिहास के दायित्व का निवाह करने के लिये मनुष्य और मानव-विशिष्टता में विश्वास के साथ-साथ नये विकसित आचार्यों के प्रति

विवेकपूर्ण वास्था की आवश्यकता होती है, जिसे अपना 'रंगी हुई दृष्टि' के कारण प्रगतिवादी लेखक नहीं देख सके।

प्रगतिवादी कहानीकार की सबसे बड़ी सीमा यह थी कि वह समकालीन के प्रति जागरूक न होकर केवल तत्कालीन संदर्भों में प्रतिक्रिया व्यक्त करता था। इस तथ्य को लेखक ने उपेक्षापूर्ण समझ लिया था कि समकालीन तथ्यों का व्यापक गहराईयां तत्कालीन होने में नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार इनकी कहानियां दैनिक समाचार पत्रों के स्तर पर अपने को प्रतिष्ठित कर लेती थीं। समाचार पत्र पढ़ लेने के पश्चात् जैसे वह नगण्य हो जाता है उसी भांति इन कहानियों की भी पढ़ लेने के पश्चात् मृत्यु हो जाती थी। समकालीन साहित्य में एक काल के बोध की अवि-व्यक्ति होती है जिसे प्रगतिवादी कहानीकार ने तत्कालीन मंतव्यों के कारण भुला दिया था। उसने जीवन को समग्रता में नहीं टुकड़ों में देखना चाहा था। दृष्टि के इस अभाव के कारण ही वह अपना लेखकीय व्यक्तित्व का हास भी न देख सका। केवल नारे से भाव-बोध में गहराई नहीं जा सकती। भाव-बोध में गहराई लाने के लिये तो लेखक को अपने बापके प्रति, अपनी दृष्टि के प्रति, और समाज के संदर्भ में अपने संवेदनों के प्रति बहुत ही नुस्त, और सतर्क रहना पड़ता है।

प्रगतिवाद के कारण कहानीकार के दायित्व और उसके व्यक्तित्व की घोर उपेक्षा हुई थी। प्रगतिवाद स्वयं आत्म-विश्वास से वंचित था, क्योंकि उसकी आत्मा अपनी नहीं थी, वह तो एक दलगत मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया में उपजा था। लेखक अपना व्यक्तित्व नष्ट करके यह मूल गया था कि कहानी केवल बाह्यानुभूति ही नहीं है वरन् व्यक्ति की आंतरिकता भी उसका एक विशिष्ट अंग है।

प्रगतिवाद में मानव विशिष्टता के स्थान पर कहा गया कि मानव-मानव सब बराबर हैं, उनमें कोई भी विशिष्टता नहीं होती। जबकि मनुष्य-मनुष्य में अंतर और अपनी-अपनी विशिष्टता होती है। बहुजन का हित तो ठीक है किन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके आत्म-सम्मान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रगतिवाद कथित 'नये मानव' का जन्म जाज तक भी मात्र इसीलिए नहीं हो सका कि उसमें व्यक्ति-विशिष्ट्य का ध्यान नहीं रखा गया था।

प्रगतिवाद के इस आंदोलन के मध्य कोई भी 'नया मानव' नहीं आ सका ।

१९३६ से १९५० तक के इस आंदोलन के बीच यदि कोई 'नया मानव' आया तो वह शेर (शेर : एक जीवनी) था, जो एक ओर व्यक्तिवादी था तो दूसरी ओर घोर अहंवादी । प्रगतिवाद इसे स्वीकार नहीं कर सका था क्योंकि वह व्यक्तिवाद का घोर विरोधी था ।

● व्यक्ति-वैशिष्ट्य का विघटन

लेखक का कर्तव्य कब जब इतना ही रह गया कि वह मजदूरों का हित देखे और वह भी मात्र मौलिक तौर पर तथा पूंजीवाद को गालियां दे और जनवादी मोर्चा बाधे तब तो कस साहित्य का 'कल्याण' हो जाना हर तरह संभव था । व्यक्ति की कोई बात ही नहीं पूछता था । व्यक्ति क्या करता है, क्या सोचता है, क्या अनुभव करता है, इससे लेखक को कोई मतलब ही न था । जहां भी देखो वही संकीर्णता दिखाई पड़ती थी, वही पाटीभ्रत प्रगति । जबकि शाश्वत साहित्य के लिये व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूतियों को ही प्रमुख माना जाता है । पाटी, नियंत्रण और कठोर अनुशासन की यह दुहाई सन् १९४७ से सन् १९५० तक दी जाती रही । इससे व्यक्ति के वैशिष्ट्य का विघटन हो जाना, बहुत स्वाभाविक था । ऐंजिल्स का भी कहना है कि लेखक इस बात के लिये विवश नहीं है कि वह जिस सामाजिक संघर्षों का चित्रण कर रहा है, उसका बना-बनाया भावी समाधान भी दे । प्रगतिवाद हर चीज का समाधान प्रस्तुत करना चाहता था । इसी से असफल रहा । सोचा हुआ 'व्यक्ति' अब जाग उठा था और उसने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आंदोलन डेढ़ दिया था ।

● व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आंदोलन

किन्तु मार्क्स ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन कर देना चाहा था यह बात भी गलत है । मानव-स्वातंत्र्य की स्थिति को मार्क्स ने भी ऐतिहासिक प्रगति का लक्ष्य माना था । किन्तु मार्क्स को समझने वालों ने इसे नहीं समझा और अपना व्यक्तित्व खो

दिया । किन्तु बाद में जब उन्हें बोध हुआ उन्होंने अपना सोया व्यक्तित्व वापस ले जाना चाहा और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आंदोलन यही था ।

इसमें व्यक्ति ने दो दिशाओं में अपने को स्थापित करने की चेष्टा की । एक अपने को नितांत अकेला और घुटा-घुटा अनुभव करने वाले व्यक्ति के रूप में और दूसरे अपने व्यक्तित्व के मौलिक क्राण और आवश्यकताओं को रक्षांकित करने, उभारने वाले व्यक्ति के रूप में । इस काल की कहानी का व्यक्ति जेनेन्द्र-जैय से अधिक सामाजिक, सक्रिय, तटस्थ और प्रवृत्तिवादी कहानियों से अधिक अपने व्यक्तित्व वाला मनुष्य है । इस काल की कहानियां परिवेश के माध्यम से व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से परिवेश को समझ पाने की एक प्रक्रिया है ।

पहले व्यक्तिवाद पर संक्षेप में विचार कर लेना होगा । व्यक्तिवाद शब्द बहुत प्राचीन नहीं है । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही इसका प्रारम्भ हुआ है । इसकी परिधि में पूरा एक समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक स्वतन्त्र विचारधारा - जो उसे दूसरे व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करती है तथा विचार एवं कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से संचालित होता है । 'परम्परा' एक ऐसी शक्ति है, जिसमें संदेव ही सामाजिक तत्त्वों का समावेश होता है, न कि व्यक्तिवादी तत्त्वों का । इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है, एक विशिष्ट ढंग के वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है । विशेष रूप से एक वार्थिक और राजनीतिक संगठन पर जोकि अपने सदस्यों को अपने द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों में विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की तथा उस व्यक्तिगत 'वाहडियालाजी' अपनाने की स्वतन्त्रता, जो प्राचीन परम्पराओं पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत लोगों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर आधारित होता है । चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो और चाहे उनकी व्यक्तिगत सीमाएं भी कुछ भी हों ।

यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस संदर्भ में व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव की अनेक ऐतिहासिक कारणों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । एक तो आधुनिक व्यावसायिक पूंजीवाद का उदय एवं विकास और दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार । पूंजीवाद ने वार्थिक संकयन में यथेष्ट वृद्धि की और सामाजिक रूप-विधान एवं प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से इसके परस्पर

साम्य की, व्यक्ति की भावामिव्यक्ति की, स्वतंत्रता की भावना की भी वृद्धि की। इसके परिणामस्वरूप नवीन आर्थिक संगठन तथा नवीन सामाजिक रूप-विधान आदि, एक सामूहिक परिवार की भावना, आर्थिक भावना, एकता एवं संगठन की भावना, नागरिक भावना और किसी भी अन्य इसी प्रकार की सामूहिक एकता की भावना पर आधारित नहीं हुए, बल्कि व्यक्ति की व्यक्तिगत सेवा पर आधारित हुए। व्यक्ति अब स्वयं अपना आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिनयों की पूर्णता के लिये अपने ही प्रति उत्तरदायी रहने लगा। यह कहना कठिन है कि कब इस नवीन परिवर्तन ने समाज को रूप में प्रभावित किया। कदाचित् उन्नीसवीं शताब्दी तक ऐसा नहीं हुआ था। पर इस आंदोलन का सूत्रपात निश्चय ही इसके पूर्व हो चुका था। यद्यपि परिवर्तन की गति एकदम मंद थी, और संभवतः व्यावसायिक पूंजीवाद का तब और अधिक विकास हुआ। तभी प्रमुखतया एक व्यक्तिवादी सामाजिक और आर्थिक भाग को अपना विचारधारा की उत्पत्ति से प्रभावित करना प्रारम्भ किया।

नगरों में मध्यवर्ग का उदय, और विकास अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा था और पाठक वर्ग में उनकी संख्या तथा उनके महत्व में आश्चर्यजनक वृद्धि होती ही थी। किन्तु ठीक इसी समय साहित्य ने व्यवसाय एवं उद्योगों का पक्ष ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यह एक प्रकार का सर्वथा नवीन विकास था। पूर्व लेखकों ने, जिनमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर, डान, बेन जानसन, ड्रायडेन आदि प्रमुख थे। परम्परागत सामाजिक एवं आर्थिक रूप विधान को अपना अन्यतम समर्थन प्रदान किया था और नवीन उदित होने वाले व्यक्तिवाद के अनेक सिद्धान्तों पर तीव्र प्रहार किये थे। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ एडीसन, स्टील और डेफो आदि लेखकों ने अपने पूर्व लेखकों से विरोध प्रकट किया। उन्होंने संप्रत्यक्ष आर्थिक व्यक्तिवाद पर सामाजिक मुहर लगानी प्रारम्भ की। यह नवीन उदय समान स्तर पर दर्शन के क्षेत्र में भी परिलक्षित होता है। चूंकि आधुनिक युग में परिस्थितियां पूर्णतया परिवर्तित हो गयी हैं, फलस्वरूप आधुनिक चेतना का परिवेश और व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी हो गया है। व्यक्तिवादी दर्शन ने भी व्यक्ति की चेतना पर ही नहीं, नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक संगठनों पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लिया है।

व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तों के कारण व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्धों का विशेषतया काम (सेक्स) पर आधारित सम्बन्धों का महत्व पूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि बेबर है का कथन है कि मानव-जीवन के बुद्धिहीन तत्वों में काम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने का कारण यह है कि यह व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किये गये कार्यों में सबसे बड़ा सिर दर्द बन गया है। फलस्वरूप उसे व्यावसायिक पूंजीवाद की 'वायडियालाजी' के कठोर नियन्त्रण में डाल दिया गया है।^१ एक अन्य सुविज्ञ^२ का कहना है कि क्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण में जब हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं, तो हम मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णतया समाप्त कर देते हैं। वास्तव में व्यक्तिवाद का स्थायी उपलब्ध धार्मिक आंदोलन एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण हुई, न कि धर्म-निरपेक्षता एवं पुनर्जागरण के कारण।

इससे मनुष्य और ईश्वर के मध्य मध्यस्थ के रूप में कर्म की सत्ता समाप्त हो गयी और उसके स्थान पर कर्म का एक सर्वथा भिन्न रूप प्रतिपादित हुआ, जिसने व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्थापित की और अपनी स्वयं की आत्मिक अभिव्यक्तियों एवं तत्संबंधित रूप में दिशोन्मुख होने का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कंधों पर ही डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटैस्टेंट भावाभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएँ थीं - पहली तो यह कि व्यक्ति द्वारा स्वयं एक आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी क्षमता की वृद्धि करने की प्रवृत्ति और दूसरे नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातान्त्रिक आधारभूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति।

-
१. बेबर : सेक्स इन सोशियोलॉजी (फर्ग और मिल्स द्वारा अनु०), पृ० ३५०
 २. टी० एच० ग्रीन : एस्टीमेट ऑफ द वेल्थ एण्ड इन्फ्लुएंस ऑफ वर्क ऑफ फिक्शन इन माडर्न टाइम्स (सम्पा० नेटिलशिप), पृ० ४०
 ३. ट्राट्स : सोल्ल टीचिंग, पृ० २२८ -- "The really permanent attainment of individualism was due to a religious, and not a secular movement, to the reformation and not the renaissance."

व्यक्तिवाद की इस विचारधारा का विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता अत्यन्त हानिप्रद तथा पोड़ादायक है। इस पथ पर चल कर मानव-जीवन, पशु-जीवन के समान हो जाता है और मानसिक हास होता है। व्यक्तिवाद के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख हमारे लिये क्या महत्व रखते हैं? संभव ही सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित हो कर उनके कुछ भावों से द्रवित हो जायें और हिमे तौर पर उन्हें अपनी सहानुभूति दे डालें, किन्तु अगत्या समा ठोस प्रतिध्वनियां हमारे स्वयं में ही समाहित हो जाती हैं। हमें अलग-अलग पूर्ण ढंग से रहना है। हमारी भावनाएं हमीं तक सीमित हैं। हम प्रेम करते हैं, हम घृणा करते हैं, व्यथित होते हैं, उत्सहित होते हैं - किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश में स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि पर ही होता है। इन तथ्यों के सम्बन्ध कुछ कहा जा सकता है तो मात्र इतना ही कि अपनी इन स्वतन्त्रता की इच्छाओं की पूर्ति में हम उनकी सहायता चाहते हैं और परिवार, राष्ट्र एवं दूसरों से अलग रहना चाहते हैं। यह स्वयं हमारे तक ही सीमित रहता है कि हम सुखी होते हैं या पीड़ित होते हैं। यद्यपि इन बालोचनाओं का डेफो ने कड़े विश्वासपूर्ण ढंग से उत्तर दिया किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यून मात्रा में प्रेरणादायक व्यक्तियों का चित्रण अपनी कृतियों में किया, जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को राष्ट्र एवं उसके परिवार तक से अलग कर दिया।

● व्यक्तिवाद और नई कहानी

व्यक्तिवाद का नारा था - व्यक्ति ही सर्वोपरि है, समाज गौण है।

हिन्दी में व्यक्तिवाद, विशेष रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व तक व्यक्ति सीमित

१. डेनियल डेफो : राबिन्सन क्रूसो, पृ० १५-२२-२३ -- "All reflection is carried home and our dearself is one respect. The end of living. Hence man may be properly said to be alone in the midst of crowds and the hurry of men and business. All the reflections which he makes are to himself : All that is pleasant he embraces for himself; all that is grievous is tasted but by his own plato."

दृष्टिकोण के रूप में ही प्रयुक्त किया गया। व्यक्तिवाद से प्रभावित होकर जो कहानियाँ लिखी गयीं, उनमें व्यक्तिगत जीवन, घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन-दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन-समस्या का निरूपण या निर्देश ही सर्वोपरि रहा। इनमें सामाजिक मान्यताओं की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया। वैयक्तिक जीवन के चित्रण को ही प्रमुखता दी गयी। यह व्यक्तिवादी स्वर जेनेन्द्र, ज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अशक तथा मगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में अधिक मुखर होकर सुनाई दिए। इन कहानीकारों की वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इतनी अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित हो गयी थी कि परिणामस्वरूप सामाजिक चेतना की व्यञ्जना नितान्त क्षीण पड़ गयी थी।

इस काल में लिखी गई जेनेन्द्र, ज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अशक तथा मगवती प्रसाद वाजपेयी आदि की कहानियाँ देख ली जाएं, तो उनका व्यक्तिवादी स्वर अत्यन्त स्पष्ट दिख जाएगा। इनमें वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इतनी अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित हो गई है कि इसके परिणामस्वरूप सामाजिक चेतना की व्यञ्जना नितान्त क्षीण पड़ गयी है।

जेनेन्द्रकुमार की 'जयसन्धि' और 'पाजेब' कहानी संग्रहों की कहानियाँ इसी दौर की हैं। इन संग्रहों की कहानियों के पात्र स्काकी जीव हैं और सामाजिक विकास परम्परा से पूर्णतया असम्पृक्त हैं। इनमें भैराश्य, कुण्ठा, घुटन और पीड़न की प्रवृत्तियाँ हैं और ऐसी ही विषय, पर व्यक्तिवादी समस्याओं के जाल में उलझ कर जेनेन्द्र कुमार ने उनके मनोभावों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। ये पात्र अपने को सामाजिक रूप-विधान में ढाल नहीं पाते, इसीलिए व्यक्तिवादी बन जाते हैं। 'एक रात' नामक कहानी में जयराम एक ओर तो बाजार और ब्रह्मचर्य केपालन में तत्पर है, पर दूसरी ओर ठीक विपरीत उसके अचेतन में कोई मनोविकारात्मक गुन्थि है, जो उसे जीवन में व्यबासित नहीं होने देती। 'बिल्ली का बच्चा' में मनुष्य की उस मनोवृत्ति का चित्रण है, जिसमें वह एक का प्यार न प्राप्त होने पर उसके बदले में उसे किसी दूसरे पर न्योहावर करता है। शरवती ने भाई का प्रतिनिधि प्रेम, बिल्ली के बच्चे में प्राप्त कर संतोष किया। 'युव यात्रा' कहानी भी लगभग

इसी सत्य को प्रतिपादित करती है ।

‘लाल सरोवर’ कहानी में बेरागी के चरित्र की उद्भावना वाध्यात्मिक वाद्यों के लिए की गई है, जिसका अपने समय से कोई सम्बन्ध नहीं है । उसके विपरीत मंगलदास हैं । बेरागी में इतना संयम और वाध्यात्मिक बल है कि वह जहां भी जाता है, वशर्कियाँ, सोने-चांदी की वर्षा होती है, पर वह उनका तरफदार उठकर भी नहीं देखता । लालदा और स्वाधी मंगलदास यह देखकर बेरागी का भक्त बन जाता है । बेरागी को इस संसार में अनेक परीक्षाएं देनी पड़ती हैं । अन्त में उसे वशर्कियों के रहस्य का पता चलता है । तब वह ईश्वर से उसकी परिसमाप्ति की प्रार्थना करता है और अपने अभीष्ट को प्राप्त होता है । इस प्रकार कहानी का एक दार्शनिक सत्य निकल आया - परीक्षा सत्ता की महिमा और वाध्यात्म बल की निष्ठा से ऊपर उठकर रहस्यात्मक शक्ति की ओर प्रेरित होने की भावना का । ‘वह चेहरा’, ‘नादिरा’, ‘क्या हों’, ‘जान्हवी’ तथा ‘मास्टर जी’ आदि कहानियां इसी प्रकार की हैं ।

‘धुवतारा’ कहानी में उर्मिला का यह कहना कि पहले संयोग का ज्ञान ही उसके लिए शाश्वत है और इसलिए वह राजा रिपुवमन के विर-वियोग के लिए प्रस्तुत है - और वात्म-निष्ठ विकार है, जो जेनेन्द्र कुमार की इस कहानी पर पूर्णतया आरोपित है । उनकी ‘रत्नप्रभा’ कहानी में नारी की कुंठा को शाश्वत के साधे में ढालने के लिए उन्हें रत्ना पर हावी होना पड़ा है, फिर भी वह कोई अर्थ नहीं देता । रत्नप्रभा को बार-बार फेंक निकालने के लिए और गीत गाने के वालों को बेटों से मारने के लिए बाधित होना पड़ा है । ‘पावेब’ तथा ‘मोत और...’ कहानी में भी यही स्थिति है । जेनेन्द्र स्वयं कहते हैं कि ‘आप समाज के बारे में मुझसे न पूछिये । मैं उसे जानता ही नहीं । वह धारणात्मक संज्ञा है । वस्तु या तत्त्व की दृष्टि से वाचक और बोधक संज्ञा नहीं है ।’ इस स्थिति में व्यक्तिवाद के अतिरिक्त क्षीण-से-क्षीण सामाजिक रेशा उनकी कहानियों में खोजना व्यर्थ है । इन कहानियों में संदर्भ अत्यन्त संकीर्ण हैं ।

अनेक अपनी कहानियों में उत्प्रेषण और प्रतिक्रिया के क्रमिक एवं निरन्तर घात-प्रतिक्रियाओं से किसी भावधारा की व्याख्या एवं मनोविश्लेषण पर अधिक बल देते हैं । कहना न

होगा कि यह प्रक्रिया अत्यन्त व्यक्ति-सीमित हो गई है, दूसरे सारे सन्दर्भ घुमिल पड़ गए हैं। 'जयदोल' संग्रह में 'मेजर चौधरी की वापसी' कहानी में मेजर चौधरी युद्ध में विकलांग हो जाते हैं और मोर्चे पर टिके रहने में सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं। उन्हें पेंशन देकर वापस भेज दिया जाता है। इस प्रक्रिया में मेजर चौधरी के मन में जो भाव-तरंगें उठती हैं और जो मानसिक लहरें आगत-विगत एवं वर्तमान की स्थितियों के संसर्ग में उत्पन्न होती हैं - उन्हीं की व्याख्या यह कहानी है। 'अलिखित', 'पहाड़ी जीवन', 'कोठरी की बात', 'परमारा', 'जयदोल' तथा 'पेगोडा वृक्ष' आदि कहानियों में मानवीय भावों की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति हुई है जो प्रत्येक दृष्टि से किसी भी सामाजिक सन्दर्भों से असम्पृक्त है। 'अज्ञेय' की कहानी में आन्तरिक जटिलता को जब पकड़ने की कोशिश की गई है, तो इसकी रचना-प्रक्रिया में थोड़े पेंच पड़ जाते हैं, उत्पन्नाव पैदा हो जाते हैं।^१ घोर व्यक्तिवादिता की यह स्थिति उनके 'साँप' कहानी में देखी जा सकती है। यह कहानी शहर से जंगल की ओर ले जाती है।^२ भेने कहा कि बलोगी जंगल को, जहाँ सन्नाटा है, स्कान्त है, जहाँ अपनी-अपनी धुन में ऐसे मस्त हैं कि मस्ती की एक नयी धुन बन गई है जिसमें सब गूँजते हैं - पर अलग अलग, बिना एक दूसरे पर हावां हुए और जैसे शहर में होता है। यह उद्धरण प्रकारान्तर से अज्ञेय का व्यक्तिवादी जेतना को ही उजागर करता है।

अज्ञेय की कहानियों में लक्ष्य या अनुभूति का परिवेश अत्यन्त सीमित है। उनमें विराट मानवीय जेतना का बीज नहीं होता और न समकालीन युग जीवन के विभिन्न आश्रम ही अपने-अपने यथार्थ परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त हुए हैं। 'रोज़', 'लेटर बाक्स', 'कलता', तथा 'शरणापी' आदि कुछ कहानियों को अपवादस्वरूप छोड़ दिया जाए तो प्रेम, सेक्स, घुटन, पलायन, विद्रोह एवं तीव्र अहं - ये सूत्र हैं जो इनकी प्रत्येक कहानियों में मिलते हैं और इन्हीं के संयोग पर सारी कहानियाँ टिकी हुई हैं। उनके पास जैसे

१. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६८), दिल्ली, पृ० १०३।

२. अज्ञेय : जयदोल, पृ० २६।

जीवन के कोई सन्दर्भ नहीं हैं और न अपने समय के यथार्थ को उद्घाटित करने का वागृह ही। 'सामाजिक दृष्टिकोण' को वे त्रुटिपूर्ण या अव्यावहारिक नहीं स्वीकारते, पर उसे निष्कार्य भी नहीं मानते, क्योंकि व्यक्ति को दबाकर किसी भी सम्बन्धित समस्या का जो भी विधान प्रस्तुत किया जाएगा - गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा। उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी धार्मिक परम्पराओं का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है - जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलाता है। वह निरा पुतला, निरा जाव नहीं है। वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक सम्पन्न व्यक्ति। अज्ञेय अभिमान या अहंकार को एक सामाजिक कर्तव्य स्वीकारते हैं। अज्ञेय की स्त धारणा से किसी को भी असहमति नहीं हो सकती, पर यह जीवन की सम्पूर्ण नहीं, एक पक्षीय वाधार है, इसलिए अज्ञेय का दृष्टिकोण लांगी है।^१ यदि ऐसे अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार लिया जाए, तो एक अव्यवस्था एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और प्रत्येक मानव मूल्य समाप्त हो जाएगी।

स्तावन्दु जोशी की कहानियों के पात्र अस्वस्थ हैं और उनकी बीमारी मनोवैज्ञानिक है, जिसके कारण वे अपने आत्मनिष्ठ हो जाते हैं कि समाजधारा से वे पूर्णतया कट जाते हैं। उनकी 'चिट्ठी-पत्री' नामक कहानी में एक पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त विवाहित लड़की है, जो रुढ़िपरक कुटुम्ब में पहुँचकर स्वयं ही आधुनिकता का विरोध करने लगती है। 'विद्रोही' में एक जापानी व्यक्ति के मनोविकारों की उत्तरोत्तर बुद्धि पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। 'किन्नेम्ह', 'प्रेम और घृणा', 'आत्महत्या का सुन', 'पानत की सफाई', 'यज्ञ की आहुति' आदि कहानियाँ उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करती हैं। पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर की कहानियों में भी अनुभूति की वह यथार्थता या सत्यता नहीं प्राप्त होती, जो उन्हें भाषण बनाने के बजाय कहानी बनाए। उनमें सारा दृष्टिकोण अलग से थोपा हुआ प्रतीत होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विद्रोह या तो बुद्धि-वितास है या कार्यसमाज

का शुद्धतावादी बान्दोलन है। महावतीप्रसाद वाजपेयी का 'मिठाई वाला' या महावतीचरण वर्मा की 'एक विचित्र बनकर है' वादि कहानियों को भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है। वरुण के 'पिंजरा', 'केप्टेन रशीद', 'नासूर', 'टेकल लेण्ड' तथा 'बंकुर' वादि कहानियों में लेखक के सामाजिक सन्दर्भों के संश्लेषण के बावजूद उनका दृष्टिकोण व्यक्ति संघटित ही है।

इन कहानियों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें मध्यवर्गीय समाज की चेतना के उस स्तर को व्यक्त किया गया है कि जिसका सम्बन्ध नागरिक संस्कृति तथा जीवन से है। इनमें कहानीकारों को व्यक्ति के मनोभावों तथा विचारों को मुक्त करने की अधिक चिन्ता रहती है। इन कहानियों के अधिकांश पात्र व्यक्तिगत विशेषताओं के लिए हुए हैं। व्यक्ति के बाह्य जीवन से अधिक इसके आन्तरिक जीवन का निरीक्षण करना और दोनों के परस्पर संघात को चित्रित करना इन कहानीकारों की कला का उद्देश्य है। उन्होंने व्यक्ति के चरित्रांकन में उन पक्षों को अधिक मूल्यवान समझा है, जिनसे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा अस्तित्व को अधिक गरिमा प्राप्त हो सके। इन व्यक्तिवादी कहानियों के विश्लेषण में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं --

- ० सामाजिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना
- ० प्रेम तथा विवाह के प्रति उनका दृष्टिकोण परम्परावादी न होकर वैयक्तिक स्वातन्त्र्यता के विचारों से प्रभावित है।
- ० नैतिकता तथा अनैतिकता को नवीन कसौटी पर परखने की भावना।
- ० सामाजिक बन्धनों तथा वैयक्तिक बाकांताओं के मूल्य को बांँकने का प्रयत्न।
- ० सामाजिक मान्यताओं को वैयक्तिक स्वातन्त्र्यता की बाँँस से देखने का प्रयत्न।

जैसा कि कहा गया है, जेनेन्ड कुमार^२, बजेय^३, इलाहनाथ जोशी^४, उपेन्द्रनाथ वरुण^५,

-
१. उपेन्द्रनाथ वरुण : चतुर श्रेष्ठ कहानियाँ, इलाहाबाद, भूमिका।
 २. 'फावेब' तथा अन्य कहानियाँ (१९६२), दिल्ली।
 ३. 'पेगोडा वृक्षा' तथा अन्य कहानियाँ, (१९५२), इलाहाबाद।
 ४. 'ढायरी के नीचे पृष्ठ' (१९४७), इलाहाबाद।
 ५. 'कहानी लेखिका और वेहलम के सात फुल' (१९६०), इलाहाबाद।

विष्णु प्रभाकर^१ आदि की कहानियां इसी सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं। इनमें समष्टि मानस की अपेक्षा व्यक्ति मानस पर अधिक आग्रह है, सामाजिक चेतना का स्थान वैयक्तिक साधना ने ले लिया है। इनमें सामाजिकता का जितना समावेश हुआ है, वह भी व्यक्तिनिष्ठ है। इनमें जीवन एवं जगत की समस्याओं का समाधान अथवा उनकी उपादेयता का मूल्यांकन व्यक्तिमंगल का मूलवर्तमान भावना से हुआ है। इसकी प्रेरक शक्ति व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना है। किन्तु इन कहानीकारों ने वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इतनी आत्मनिष्ठ अथवा आत्म-केन्द्रित हो गई है कि उनका सामाजिक सन्दर्भों में कोई महत्व ही नहीं रह गया। इन कहानियों का व्यक्ति समाज से पूर्णतया कट गया है और समाज की तत्कालीन मान्यताओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। निराशा, कुंठा, आत्मविस्मरण तथा आत्म हत्या की भावनाओं का इतना अधिक प्राबल्य हो गया कि व्यक्ति न केवल बस्तुस्थिति, रुग्ण और मानसिक रूप से विकृष्ट हो गया, बल्कि पर्याप्त सीमा तक पलायन वादी भी बन गया। स्त्री और सेवक ही उसके जीवन की प्रधान समस्याएं रह गईं। वह जीवन के प्रति अपनी संकुचित दृष्टि के कारण अन्धकार में भटक रहा है। उसमें न तो विद्रोह के लिए साहस है और न समाज को बदलने के लिए शक्ति।

व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन अपने विकास की बरम सीमा को प्राप्त कर एक ऐसी स्थिति को जन्म देता है, जिसमें व्यक्ति का वह उग्र रूप धारण कर समाज के प्रति विद्रोह की ही जीवन का सिद्धान्त बना लेता है। अज्ञेय की कहानियों में यह विशेष रूप से प्राप्त होता है। मध्यवर्गीय बस्तुस्थिति तथा चेतना के हासो-मुस्त होने के कारण व्यक्ति के सम्बन्ध समाज से क्षिप्त पड़ने लगते हैं। ऐसी स्थिति में वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रेम की सृष्टि करने लगता है। अपनी व्यक्तिवादी विचार प्रक्रिया से वह अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित होने के कारण बाहर से भीतर की ओर जाता है, सामाजिक यथार्थ से मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर जाता है। मध्यवर्गीय संस्कृति अपने हासो-मुस्त काल में अतिशय वैयक्तिक हो जाती है। व्यक्ति अपनी संस्कृति और रोगों का निदान समाज में न ढूँढकर अपने मन की गांठों में ढूंढता है। इस विचारधारा

१. 'धरती अब भी घूम रही है' (१९६६), दिल्ली।

के अनुसार उसके सारे कष्ट, निराशा, मलिनता आदि किसी-न-किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते हैं। इन कहानीकारों ने अपनी संकीर्णता में केवल व्यक्ति की कुंठाओं का ही चित्रण किया और उनके व्यक्ति को विद्रोह करते हैं - या तो पहाड़ों पर, या काफी हाउसों में, या फिर नारी के अंक में। उनकी सामाजिक चेतना इतनी लुप्त हो गई है कि उनका अपना कोई घरातल लक्षित हो नहीं होता। वे बाजारहान और कृत्रिम भयावह परिस्थितियों से इतने जुड़े हुए हैं कि घृणा के अतिरिक्त कुछ उत्पन्न ही नहीं कर पाते।

● प्रजातांत्रिक मूल्यों का रूप

स्वतन्त्रता की स्थापना के साथ ही हमारे जीवन मूल्य और सन्दर्भ में परिवर्तित हो गए। जैसा कि पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि विभाजन की इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हमारे जीवन पर हुई और हमारा समस्याएं इतनी विषम हो गई कि जीवन ही दूसरा हो गया। इन कठिन परिस्थितियों का साक्षात्कार करने में तत्कालीन व्यक्तिवादी कहानीकार असमर्थ थे। वे जब भी प्रेम, नारी-सम्बन्ध और अस्वस्थ-पलायनवादी व्यक्ति की झूठी कहानियां लिख रहे थे। अभी तक जो कहानियां लिखी जा रही थीं, उनमें अन्तर्मुखिता अत्यधिक गहरी बन चुकी थी, उनकी दानता, हानता तथा विवशता उनके जीवन का अंग बन चुका था। इन कहानियों में एक विशेष प्रकार की घुटन तथा स्करसता प्राप्त होती है। आत्मविस्मरण तथा आत्मघात की भावनाएं उनके जीवन को संवाहित करती हैं। वे सभी ऐसे मृत्यु की उपासना में विरत हैं। उनकी मायुक्ता तथा आदर्शवादिता निष्क्रिय है और पलायन का साधन है। उनमें वास्तविक सामाजिक परिस्थिति का सामना करने की क्षमता का अभाव है। उनके जीवन में आशा की रेखा अस्पष्ट तथा क्षीण है, निराशा की भावना गहन तथा गम्भीर है।

ये व्यक्तिवादी कहानियां सामाजिक समस्याओं तथा प्रश्नों का उद्घाटन करने में तो असफल हैं ही, स्वयं व्यक्ति को उन्होंने इतना अलग-थलग कर दिया कि उसका वास्तविक अर्थ भी स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। उनके जीवन में निस्सारता तथा व्यर्थता का ही बोध अधिक है। इन कहानियों का व्यक्ति अपनी वह भावना को

सुरक्षित रखने के लिए दार्शनिकता तथा सिद्धान्तवादिता का फूँटा तवादा बोड़ जाता है, जो उसे और भी कृत्रिम बना देता है। दर्शन तथा सिद्धान्त आत्म रक्षा के लिए केवल कवच का काम देते हैं। इन कहानियों में नारी को प्राचीन सामन्ती बन्धनों से मुक्त होने पर बल तो दिया गया है, किन्तु यह मुक्ति केवल भावात्मक स्तर को स्पर्श करता है। यद्यपि अनेक कहानियों में, विशेषतया उपेन्द्रनाथ अश्व जोर विष्णु प्रमाकर की कहानियों में पात्र अहं के घेरे से निकलकर निजी मानसिक गाँठों को तोलने का प्रयास करते हैं और आत्मविकास के लिए सामाजिक परिवेश में समावेश की ओर सकेत करते हैं। उनमें यह भावना मिलती है कि व्यक्ति मानस को सामाजिक परिवेश से सर्वथा असम्पृक्त नहीं किया जा सकता, किन्तु इस प्रकार के प्रयास सीधे तथा दुर्बल हैं और वास्तविकता से कटे हुए हैं। उनमें वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण अत्यन्त सीमित एवं सन्निहित है। उनका व्यक्तित्व संकुचित है, भावनारं कुंठित हैं तथा विचार अस्पष्ट हैं।

- ० उसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी, जिसने नए प्रजातांत्रिक मूल्यों का रूप निर्धारित किया।
- ० यह प्रतिक्रिया नई कहानी के वैयक्तिक स्वतन्त्रता में लक्षित होती है, जिसने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को पुनर्स्थापित करते हुए भी व्यक्ति का निजता बनाए रखा।
- ० यहाँ व्यक्तिवाद और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य में अन्तर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

कहानी में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर जो बागुह किया है, यह उन्नीसवीं शताब्दी की बुर्जुआ व्यक्तिवादी चिन्तनधाराओं के बागुह से नितान्त पृथक है। बिना आर्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक, आर्थिक या वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की बात करना अत्यन्त प्रमत्त था। प्रसिद्ध पश्चिमी विचारक एमर्सन का कहना किन्तु सार्थक है कि हर महान् जनक्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-जीव के रूप में स्थित रही है। वास्तव में नई कहानी जिस वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की बात करती है,

-
- १. बाल्य की 'मेजर चौधरी की वापसी', स्ताचन्द्र जोशी की 'प्रेमिकारं', जेनेन्द्र कुमार की 'मास्टर जी' तथा उपेन्द्रनाथ अश्व की 'कांकड़ा का तेली', 'विष्णु प्रमाकर की 'बनाम-बयाह' आदि कहानियाँ दुर्लभ दृष्टव्य हैं।

उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्व है। पश्चिमी विचारकों ने मूनियर, बर्डेन, कोट्स, मेरिटेन - ने अपने को व्यक्तिवाद से प्रयुक्त करते हुए इसी विचार पर बल दिया है। इन्होंने व्यक्तिवाद को individualism और अपनी वैयक्तिकता को personalism कहा है। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए बर्डेन का कहना है कि व्यक्तिवादिता (individuality) वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है, जो असंस्कृत, असामाजिक अन्व-प्रेरणार्यों से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उद्भूत हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वाध्याय तथा सीमाओं की ओर गतिशील करता है। वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आन्तरिक कर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है, जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचानकर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार कर अपने व्यवहार को पर्याप्त करती है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकता का स्फुरण मूल्य की समग्रता का लोभ और उसकी स्थापना में ही होता है। प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक-से-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक-से-अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की लोभ, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करने, उस शाश्वत को ज्ञान में बाँधने और उस ज्ञान में प्रगति या विकास करने को स्वतन्त्र रहते हैं।^१ प्रख्यात फ्रेन्च अस्तित्ववादी नाटककार मेथील मासेल का भी कहना है कि मरणोन्मुख संस्कृति से अर्थ होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सतारें प्रगति की शून्य हैं। अतः वे जानबूझ कर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुंठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध

१. डा० कमवीर भारती : मानव-मूल्य और साहित्य, (१९६०), वाराणसी, पृ० १२५।

२. मेथील मासेल : मेन ओन्स्ट ह्यूमैनिटी, (१९५७), लन्दन, पृष्ठ ६७।

इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के डंग अत्यन्त विचित्र एवं भयावह हैं। व्यक्ति में मय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, धृणा और हिंसा के मावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम वैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है।

- ० अतः आज नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की मांग का अर्थ प्रगति की स्वतन्त्रता की मांग करना है।
- ० संस्कृति को ह रूग्णता से मुक्त रखने की मांग करना है।
- ० वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ मूल्यों का होना, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरण में इसका सक्रिय परिणति है।
- ० मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बांध, डेम, बिजलाघर या कारखानों का विकास हो नहीं है, वह मानव की आन्तरिकता का विकास भी है, किन्तु ऐसे बराजकता, उच्छृंखलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता से सम्बद्ध नहीं किया जाना चाहिए। यह उसी सांस्कृतिक व्यवस्था में सम्भव है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को होकर, उससे अपने त्व अनुभव कर, उसे अपना स्वधर्म मानकर उसी में अपने अस्तित्व की सार्थकता स्वीकारता है। मूल्यहीन वैयक्तिक स्वातन्त्र्य कोई अर्थ नहीं रखता।

● हिन्दी नवलेखन तथा मीमी गयी विशिष्ट अनुभूतियों की प्रधानता

ऊपर जिन नए मूल्यों की चर्चा की गई है, जो व्यक्तिवाद से असम्पुक्त वैयक्तिक स्वातंत्र्य से सम्बद्ध हैं, हिन्दी नव लेखन के मूलाधार हैं। नवलेखन ने सम्पूर्ण मानव विशिष्टता में विश्वास किया और व्यक्ति की निजता को दायित्वबोध की मर्यादा के साथ सम्बद्ध किया। नवलेखन ने जिस व्यक्ति को चुना, वह रूग्ण तथा मानसिक रूप से विक्षिप्त नहीं था, बल्कि उसमें पौरुष तथा आत्मशक्ति थी है और परिस्थितियों से झुंके एवं विषमताओं से साक्षात्कार करने की समर्थता भी है। स्वातंत्र्योत्तर काल के नये कहानीकारों ने जीवन की जटिलताओं को निकट से देखने का प्रयत्न किया। इसीलिए वे बार बार उन सभी सन्दर्भों में अपने को सापेक्ष रूप से स्थापित कर रहे थे। नये कहानीकारों ने यह प्रतिपादित किया कि जीवन की

व्यापकता और उसका वास्तविक सन्दर्भ किसी आडम्बर या विशेष मत द्वारा दिखाया नहीं जा सकता, बल्कि वह स्वानुभूति स्वचेतना की वस्तु है। मानव विशिष्टता इसी स्वानुभूति की स्वतन्त्रता और स्वचेतना की पवित्रता की जागरूक दृष्टि है, जो सामान्य मानव वर्ग को समान स्वीकारती है और इसीलिए वह किसी आदर्श या मतवाद से भी अधिक मूल्यवान मानव मात्र के व्यक्तित्व की पवित्रता में विश्वास करता है।

इन कहानीकारों में व्यक्तिगत तथ्यों एवं अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का यथार्थ रूप से चित्रित करने का सामर्थ्य था। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के माध्यम से समस्त व्यापक जीवन और विशृङ्खलता को देखने की चेष्टा की, जो एक सर्वथा नयी दृष्टि थी। वस्तुतः 'सामयिक जिन्दगी का एक निराकरण धारणा मात्र है। वह सामयिक विशेषण से सिर्फ काल-सीमित होती है, स्पष्ट और साकार नहीं। इसे स्पष्ट और साकार जानने का एकमात्र तरीका इसे व्यक्ति से सम्बन्धित और संदर्भित करना ही है।... हर व्यक्ति को सामयिक जिन्दगी से सहा रूप में जुड़े होने के लिए सभी अर्थों में सही मनुष्य बनना अनिवार्य है। हमारा व्यक्तिगत मानव-यंत्र जिन्दगी की इन पैदाइशियों को समझने में जितना सक्षम होगा और जितना मानवीय होगा, बोध की सूक्ष्मता का कंकन भी उस पर उतने ही प्रभावशाली ढंग से सुकट हो जाएगा।... वैयक्तिक रूप से मेरा प्रयत्न यह रहा है कि मैं जिन्दगी को अनुभूति का विषय बनाते समय उसके साथ जुड़े हुए सामाजिक समूहीकरण से उत्पन्न मूल्यों का शिकार न बनूं।... इसलिए सोचना सिर्फ यह रहता है कि इसे भोगने की प्रक्रिया में मैं अपनी वैयक्तिकता को कितनी मात्रा में बचाकर सुरक्षित रख पाता हूं। सचेत व्यक्ति की प्रक्रिया कहां इन्हीं दोनों क्षोरों के बीच पड़ती है। वह न तो जीवन से कटकर ऐसा वैयक्तिक हो सकता है कि अकेला रह जाए, न तो इस तरह जुड़ सकता है कि वह वही न रह जाए, जो वह है। इसलिए व्यक्तिवादी लेखक की अनिवार्य वैयक्तिकता का हामी होते हुए भी उसकी उत्तरदायित्वहीन असामाजिकता को तरजीह नहीं दे पाता। जिन्दगी का सहा अर्थ जानने का प्रयत्नशील हर व्यक्ति जानता है कि उसके अधिकार-क्षेत्र से दूसरे व्यक्ति का अधिकार-क्षेत्र न सिर्फ जुड़ा है बल्कि अनेक रूपों में एक दूसरे पर आक्रांति है।^१ यह धारणा साम्प्रतिक

हिन्दी नवलेखन की मूल भावना को स्पष्ट करती है ।

वास्तव में अपनी वैयक्तिक अनुभूति बहुत बड़ा सत्य है, जिसके स्वीकारे बिना व्यापक जीवन सम्बन्धों को गम्भीर अर्थवत्ता प्रदान करना कठिन है । प्रगतिवाद ने जिस व्यक्तिगत अनुभूति को वर्जना के रूप में तिरस्कृत कर दिया था, नवलेखन ने उसे ही दायित्वबोध के साथ सम्पृक्त कर ईमानदारी से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया । इससे स्पष्ट हो है कि प्रगतिवादी नारा अपनी प्रेषणीयता ही बैठा था और नव लेखन अपनी आत्म-अनुभूति तथा भोगी गयी विशिष्ट अनुभूतियों को व्यक्त कर रहा था, जो जाने-अनजाने उस नई दिशा का और उन्मुख हो रहा था, जो मानव विशिष्टता और उसके स्वाभिमान द्वारा प्रतिष्ठित व्यक्ति-मर्यादा के प्रति वास्यावान् था । नवलेखन ने व्यक्ति को उसी के परिवेश में देखने का चेष्टा की । इतिहास, राजनीति, युद्ध, संक्रांति, धर्म, दक्षिण - इन सब के सब ने अपनी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य से उसका वास्तविक अस्तित्व होने की निरन्तर चेष्टा की है । नव लेखन अपनी विशिष्टता के साथ मानव अनुभूति को अपने में समग्र करके रचनाकार के व्यक्तित्वको स्वातंत्र्य का बोध करता है, अन्यथा अनुभूतियों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता । व्यक्ति आज सीफता है, फकता है, टूटता है, बनता है, और इन परिस्थितियों में वह अपने और अपने से बाहर विचारित वातावरण से जुफता है । इस जुफने में, इस टूटने में, इस सीफने में - निश्चय ही उसका आत्मविश्वास भी विकसित होता है । नव लेखन ने व्यक्ति को इन्हीं संदर्भों में देखने की चेष्टा की है और वैयक्तिक स्वातंत्र्य का अर्थ उसके लिए वही है ।

प्रश्न उठ सकता है कि नव-लेखन मनुष्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रति इतना आग्रहशील क्यों है । मनुष्य का वास्तविक जीवन केवल बाह्य यथार्थ तक सीमित नहीं है क्योंकि जब हम यह स्वीकारते हैं कि यथार्थ का और मनुष्य का सम्बन्ध वस्तुपरक और आत्म परक है, तो हम यह भी मानते हैं कि मनुष्य जिस यथार्थ से बंधा है, उसको परिवर्तित भी कर सकता है । अतः बाह्य यथार्थ को ही अन्तिम सत्य मान लेना उतना ही भ्रामक है, जितना आन्तरिक यथार्थ को मानना । मानवीय रूप इन दोनों के बोधित्य पर ही विकसित होता है । मनुष्य को मूलतः अपराधी मानकर कृत्रिम बाधनों में बांध कर उसे 'सुपरमन' बनाने के लिए 'प्रेरणा' देना उतना ही भ्रम है,

जितना मानव प्रकृति को शाश्वत भैतिक अथवा सामाजिक प्रतिमानों से बांधना । हिन्दी नव-लेखन यह स्वीकारता है कि यदि हम इन सामाजिक प्रतिमानों के अनावश्यक बंधनों से व्यक्ति को मुक्त करेंगे, तो वह स्वतः ही अपना भैतिक बल वर्जित करेगा । उसमें एक दूसरे के प्रति संवेदना और सम्भावना का स्थिति जन्म लेगा । वह एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमें उसका सभी इकाया स्वतन्त्र हों और प्रत्येक अपने लिए उत्तरदायी हो । जब किसी व्यक्ति का उत्तरदायित्व जाति, वर्ग या सम्प्रदाय द्वारा अपने हाथ में ले लिया जाता है, तभी व्यक्ति में कुंठा और क्षिप्रकर कार्य करने की प्रवृत्ति जन्म लेती है । अतः हर व्यक्ति को अपने निर्माण का अधिकार होना चाहिए । इस प्रकार नव-लेखन की अप्रतिहत वास्था मानवीय व्यक्तित्व में है । यह व्यक्तिवादी ऐकान्तिक धारा से भिन्न है । यह वैयक्तिक कुंठाओं में नहीं उत्पन्नता, बल्कि समाज के स्तब्ध शिकंजों के प्रति विद्रोह करता है और वह भी इसलिए कि व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मूल वास्था विकसित करे । एक प्रकार से नव लेखन की यही सार्थकता भी है कि वह विशिष्ट अनुभवों के धरातल पर अर्थवान् सिद्ध होता है । वैयक्तिक स्वातंत्र्य का अर्थ नव-लेखन में व्यक्ति को पूरे परिवेश, सामाजिक संदर्भ और समकालीनता से सम्बद्ध करना है । यहाँ आकर वैयक्तिक अनुभूति पूरे युग-बोध और मूल्यों से सम्बद्ध हो जाती है और वह तभी संकीर्णता का परिधि तोड़कर व्यापक बन जाती है ।

● नई कहानी में निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैयक्तिक स्वातंत्र्य के नाम पर कहानियों में जिन निजी अनुभूतियों के चित्रण पर बल दिया गया, वे समय, इतिहास और व्यक्ति से गहरे रूप में सम्बद्ध हैं । वे वैयक्तिक होते हुए भी समय-बोध का साक्षी हैं । इसीलिए इन कहानियों में व्याप्त निजी अनुभूतियों में अहं, कुंठा, और दम्प नहीं, बल्कि बेचैनी, अकुलाहट और प्रतिवाद है । अतः निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के माध्यम से विराटें एवं यथार्थ परिवेश में व्यक्ति की निजता को भी महत्व प्राप्त हुआ । इस निजता को वैयक्तिक सामाजिकता के साथ ही जोड़कर देखा जा सकता है । ये निजी अनुभूतियाँ जितनी अपने प्रति ईमानदार हैं, उतना ही परिवेश के प्रति सजग, बदलते सन्दर्भों के प्रति सज्जत हैं । प्रत्येक कहानीकार अपनी निजी

अनुभूतियों को व्यापक एवं समग्र अनुभूतियों से जोड़ने के लिए व्यग्र-प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होता है और यही एक प्रकार से सामाजिक वैयक्तिकता है। लेकिन न तो देश, काल, राष्ट्र एवं परिवेश की उपेक्षा करता है और न व्यक्ति की। वह दोनों में सन्तुलन स्थापित करके दोनों के विराट सन्दर्भों को यथार्थ अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार देखें तो वाज के कहानीकार में आत्म-स्वीकृति का साहस भी है। पहले के प्रगतिवादी या यथार्थवादी कहानीकारों की भांति न तो वह हान भावना से अपने को ग्रस्त स्वीकारता है और न महत्ता से युक्त हो। वाज वह अपने को अपने से अलग करके अपने आत्म-निरीक्षण में सहायक होता है, तो दूसरी ओर अपने को परिवेश के साथ जोड़कर परिस्थितियों का तटस्थ मूल्यान्वेषण में निमित्त बनता है। वह न तो पुराने नायकों की कुण्ठा-विकृति को महान और सहा सिद्ध करने के सहोदानी बन्दाज में सामने आता है, न अपनी सारी कमियों-कमजोरियों की व्यवस्था पर डालकर दायित्व-युक्त होना चाहता है। 'सहारे के लिए उसके अतीत में न तो क्रांतिकारी होने या भेत जाने की पृष्ठभूमि है, न सामने अतिरंजित वाशावाद। वह उन्हें 'अपनी ही अनुभूतियाँ' कहने का साहस रखता है, साथ ही दूसरे की दृष्टि से देखने की निरपेक्षाता भी। सही-गलत, नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ की कोई पहले से तय की हुई मान्यता उसकी इस अनुभूति की नहीं ढालती। वाज के कहानीकार की अनुभूति निजी होते हुए भी सर्वमान्य और सर्व-व्यापक है, क्योंकि कोई भी कहानीकार जीवन के यथार्थ परिवेश से कटा हुआ नहीं है। वस्तुतः हम सब एक ही परिवेश में जीने, सांस लेने वाले लोग हैं, जो संक्रमण की एक ही प्रक्रिया को अपने-अपने स्तरों पर मीन और समझ रहे हैं। यह 'अपना-अपना स्तर' ही निजी अनुभूतियों की विविधता और विकासशीलता है। इस प्रक्रिया को नये-नये कोण, नये-नये बायामों और नये-नये घरातलों से अभिव्यक्त करना निजी जामता, व्यक्तिगत सम्बेदनशीलता और प्रतिभा का परिणाम है।

निरन्तर परिवर्तित होते रहने वाले जीवन के प्रति यह तटस्थ दृष्टिकोण, निजी अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता आज की कहानी में नई दिशाएं स्थापित करती है। हमारी अनुभूति निजी होते हुए भी वास्तविक संवेतना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतरंगों को भी विशिष्ट अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करती है। अनुभूति के संदर्भ में अभिव्यक्ति का बायज़ा लेना कहीं हमें अनुभूति को तटस्थ दृष्टि से देखने, उसे बड़ी और युगीन प्रामाणिकताओं से जोड़ने की सामर्थ्य देता है। पहले प्रगतिवादी या व्यक्तिवादी दौर की कहानियों में ऐसा नहीं था, इसीलिए वे अनुभूति-सीमित कहानियां बन गईं और शीघ्र ही उनका सम्भावनाएं भी नुक गईं। आज हिन्दी कहानी पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना स्तर की जीवन-अनुभूतियों से भरी हुई है, उसमें दुःखी व्यक्ति के लिए मात्र नारेबाजी नहीं, सहानुभूति और दर्प भी है। मनोविश्लेषण के नाम पर रसागणित की एक तरह तटस्थता और उदाहरणों की विवृति नहीं दिखायी पड़ती।^१ इस प्रकार अनुभूतियों का विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि कहानीकारों ने जीवन को नई दृष्टि से देखने तथा पहचानने का प्रयास किया है, जीवन में नये संदर्भों की खोज की है, गौचर एवं अव्यक्त को गौचर एवं व्यक्त बनाने का प्रयत्न किया है। यह आज के कहानी-कारों की निजी अनुभूतियों के व्यापक होने की प्रामाणिकता भी है।

● निजी अनुभूतियों बनाम कटा हुआ व्यक्ति

किन्तु इन कहानियों के विवेचन के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि निजी अनुभूतियों के प्रकाशन के नाम पर सब कुछ सार्थक ही नहीं जा रहा है। प्रायः निजी अनुभूतियों के प्रकाशन के नाम पर अतिरंजनार्थ, कुत्रिम यथार्थ, तोड़ा-मरोड़ा गया कथ्य एवं सेक्स जनित दृष्टिकोण या देहवादी दर्शन ही सामने आया है। सातवें दशक में न केवल नए कहानीकारों ने, बल्कि पुराने कहानीकारों ने भी खूब

१. डा० शिवप्रसाद सिंह : आज की हिन्दी कहानी : प्रगति और परिमिति (संग्रह० डा० देवीशंकर अवस्थी : नई कहानी, संदर्भ और प्रकृति), १९६६, दिल्ली, पृष्ठ १३८।

२. डा० इन्दुनाथ मदान - आलोचना और साहित्य (१९६४), असाहावाद, पृ० १२३।

यही किया है। किसी भी अनुभूति को जब बड़े परिप्रेक्ष्य से हटाकर उसे अलग से देखने की चेष्टा की जाती है, तो सब कुछ बड़ा सीमित बन जाता है। वह पर्याप्त सीमा तक अस्वाभाविक भी लगता है। निजी अनुभूतियाँ होते हुए भी चित्रित करते समय अपने से निरपेक्ष होने की अनिवार्यता होती है, अन्यथा उनका कोई महत्व शेष नहीं रह जाता। यह दूसरे प्रकार की अप्रामाणिकता है कि हम निजी अनुभूतियों के प्रकाशन की बात तो करें, किन्तु व्यक्तिगत अनुभूति को निर्धारित करने वाली बड़ी प्रामाणिकताओं से कतराते रहें। सेक्स, संयोग, कुण्ड या निराशा चाहे जितनी भी निजी अनुभूति हो, इनको प्रभावित और निर्धारित करने वाले बड़े अनुभवों का विश्लेषण भी उतना ही अनिवार्य हो जाता है। वास्तव में व्यक्तिगत होते हुए भी निजी अनुभूतियों को सहज और निरपेक्ष बनना आवश्यक होता है, नहीं तो उन कहानियों का व्यक्ति सारे सन्दर्भों से कट जाता है और इतना व्यक्तिगत तथा आत्मनिष्ठ बन जाता है कि उसका हमारे लिए कोई महत्व नहीं रह जाता।

यह व्यक्तिवादी कहानियों के साथ बहुत हुआ था और यह स्तरा बाज की कहानी में फिर नए सिरे से उभर रहा है। राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी', या 'प्रतीक्षा', मोहन राकेश की 'जल्म' या 'सेफटीपिन', निर्मल वर्मा की 'अन्तर', या 'दहलीज़', नरेश मेहता की 'वर्षा-मीनी' या 'एक समर्पित महिला', रामकुमार की 'स्टीमर' या 'बेरी के पेड़', महेन्द्र भट्टा की 'बात', मुद्राराक्षस की 'सुरुचि' आदि कहानियाँ अनुभूति के स्तर पर जेनेन्द्र या जेनेय की व्यक्तिपरक कहानियों से किसी भी प्रकार अलग नहीं हैं और इन कहानियों का व्यक्ति बाज के किसी भी सन्दर्भ से सम्बन्धित नहीं है। यही नहीं एकदम नये कहानीकारों में ममता कालिया, सुधा बरोड़ा, अनीता बोलक, दूधनाथ सिंह आदि की कहानियाँ भी इसी

१. धर्मयुग, बम्बई, जुलाई १९६४।

२. कहानी, इलाहाबाद, जनवरी १९६३।

३. वही, फरवरी, १९६४।

४. कल्पना, इंदौराबाद, १९६०।

प्रकार घोर आत्मनिष्ठ हैं और लगता है, जैसे बाज की कहानी फिर मुड़कर उसी व्यक्तिवादिता की ओर जा रही है, जिसका प्रतिक्रिया स्वरूप कहानी ने एक सर्वथा भिन्न दिशा ग्रहण की थी। इन कहानियों में न तो व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह है, न व्यक्तिगत सामाजिकता का कोई जोष ही उद्घोषित होता है।

वास्तव में व्यक्तिगत सामाजिकता के आग्रह के लिए आवश्यक है कि निजी अनुभूतियों का प्रकाशन इस स्तर पर हो कि व्यक्ति अपना व्यक्तित्व ही न दे। उसे अधिक-से-अधिक ईमानदारी, आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया जाए। इस आत्मीयता और संवेदनशीलता को सर्वजनीन एवं व्यापक बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके परिवेश से असम्पृक्त न किया जाए। बाज हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा कहानीकार हो, जो यह दावा न पेश करता हो कि उसकी कहानियों में जीवन के नये स्पन्दन, नयी भावभूमियाँ, नये स्वर को अभिव्यक्ति दी गई है। किन्तु... इन दावों की जाड़ में या तो अपनी कमजोरी को छिपाने का यत्न किया गया है या कि हम अपने को इतना सही समझते हैं कि गलती को गलती मानना हमें स्वीकार नहीं है।^१ व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक परिवेश से न काटने की यथार्थ दृष्टि तभी सार्थक हो सकती है, जब कहानीकार में व्यक्ति और परिवेश दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सकने की क्षमता हो। जब व्यक्ति अपने शेष विराट का अंग बनकर जाता है - स्वतन्त्र और निर्भेदा बनकर नहीं - तभी कहानी सार्थक बनती है। सामाजिक विशाल से एक संवेदनशील व्यक्ति, और समय के प्रवाह से एक अनुभूति-ज्ञाण चुनकर इन दोनों के सार्थक सम्बन्धों को खोज निकालना ही वह सूत्रात्मक दिशा है, जो बाज की कहानी में मविष्य का पथ निर्धारित कर सकती है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर बाज सातवें दशक के अधिकांश कहानीकार जिस प्रकार व्यक्ति की विकृतियों और स्वच्छन्दताओं को स्वीकृत कराना चाहते हैं, वह अंधेरे में अप्रामाणिकता की बीड़ पर है।

०००००

१. डा० शिवप्रसाद सिंह : नयी कहानी - संदर्भ और प्रकृति (सम्पा० देवीशंकर अवस्थी) १९६६, दिल्ली, पृ० १३६।

७ : बड़ा अध्याय : नवीन नैतिक मूल्यों की खोज और दृष्टिकोण में अंतर

- वास्तविकता और बोध की प्रक्रिया
- क्षणवादी जीवन दर्शन तथा उदासीनता
- केवल जीने के लिए जीने की प्रवृत्ति
- अस्तित्व-बोध, मृत्यु तथा संक्रास
- उत्तरदायित्वहीनता
- यथार्थ चेतना के विविध अभ्यास
- अनुभूति की प्रामाणिकता
- प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व
- तथाकथित विद्रोही पीढ़ी और दृष्टिकोण में अंतर

● वाधुनिकता और बोध की प्रक्रिया

वाधुनिकता बोध की बाज सर्वाधिक चर्चा है। पहले उसके स्वरूप पर विचार कर लेना सार्थक होगा। प्रायः कहा जाता है कि वाधुनिकता का सीधा विरोध रोमानी दृष्टि से है। रोमानी दृष्टि अपनी विपुलता में यह सटीक यथोचित तत्त्व तो देती है, वाधुनिकता उसके प्रति आग्रहशील है। वाधुनिकता की दृष्टि में इसीलिए भाव-विह्वलता का मूल्य नहीं है। भाव-विह्वलता की अपेक्षा भाव का अस्ति-यता का महत्व है। वाधुनिकता बोध में जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं है। वह प्रत्येक प्रकार की सामाजिक रुढ़ियों, सड़ी-गली धार्मिक मान्यताओं एवं प्राचीन संस्कारों के विरोध में खड़ा होता है। लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि वाधुनिकता एक सन्दर्भहीन मूल्य नहीं है। यह परम्परा के सन्दर्भ में ही मूल्यांकित किया जा सकता है। यह एक ऐसा मूल्य है, जो बीते हुए को सार्थक रूप में मविष्य से सम्बद्ध करता है।

वाधुनिकता, जैसा ऊपर कहा गया है, जड़ स्थिति से मानव को मुक्ति देने का प्रयत्न करती है। मानव प्रकृति की अटिकता और अन्तर की स्वीकृति तथा अपने अस्तित्व एवं दायित्व के सन्दर्भ में जीने की आकांक्षा उसके अनिवार्य तत्त्व हैं। जो कुछ प्राप्त है, उससे आगे जाकर जो कुछ प्राप्त नहीं है, उसके लिए प्रयत्नशील होने पर वह बल देती है। मानव चेतना कोई बंधन नहीं स्वीकारती। इसी प्रकार वह अनन्त विस्तार में भी अपनी अर्थवता तो देती है। इसीलिए वह बौद्धिक चेतना, जिसकी बाहररूपि वाधुनिकता है, अपने समस्त चेतन तत्वों के साथ समसामयिकता के सन्दर्भ में अर्थवान होती है।

किन्तु समसामयिकता और वाधुनिकता में अन्तर है। वाधुनिकता युग-विशेष का गुण है। समसामयिकता काल विशेष का चोतक है। वाधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है, जो हमें देशकाल का बोध देती है, समसामयिकता देशकाल के बोध के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। समसामयिकता वाधुनिकता के सन्दर्भ में उन समस्त शाश्वत मूल्यों और सत्त्यों को घात-प्रतिघात द्वारा बदलती है, जो जड़ है अथवा जो जीवन के बाहुल्य के साथ आगे बढ़ने में असफल हैं।

समसामयिकता के साथ ही यथार्थ का प्रश्न भी सम्बद्ध है। यह जाघुनिकता बोध के सन्दर्भ में भी विशेष महत्व रखता है। किन्तु जाघुनिकता के नाम पर (या पश्चिम के अनुकरण के नाम पर) जब बाज की कहानी में यथार्थ के धिनोने, कुत्सित एवं अपंग चित्र अंकित किए जाते हैं, तो अपनी वर्ध का संज्ञा इसलिए ही देते हैं, क्योंकि उनकी संगति हमारे भारतीय समाज से बिल्कुल नहीं बैठती। स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे समाज का स्वरूप बहुत कुछ बना और बिगड़ा है। अनेक परिवर्तन हुए हैं और सामाजिक विसंगतियों के साथ-साथ मनुष्य का परिवेश अधिकाधिक विवादग्रस्त हुआ है। उसकी उपेक्षा करके जब बाज के अधिकांश कहानाकार केवल सेक्स चित्रण को ही जाघुनिकता को बोध का प्याय स्वीकार लेते हैं, तो यह विवेकशून्यता या दायित्वहीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

जाघुनिकता बोध केवल सेक्स-बोध ही नहीं है, व्यक्ति व्यक्ति का संवेदनाओं का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के दो अंगों का हा तो सम्बन्ध नहीं है। और भी सम्बन्ध हो सकते हैं, सम्बन्धों के और भी स्तर हैं और उनकी उपेक्षा करने का अभिप्राय अपने दायित्व बोध की उपेक्षा करना है। यह ठीक है कि 'वर्ग' और विघटन भी यथार्थ हो सकता है, बाज के अनेक सूक्ष्म चेतना कलाकार पूर्ण संवेदना के साथ इसका अनुभव कर रहे हैं, परन्तु यह समग्र यथार्थ नहीं है, सण्ड यथार्थ मात्र है। विज्ञान का नियम संघटन है, विघटन नहीं, वर्ण के विघटन का उद्देश्य भी जीवन का संघटन ही है।^१ अतः केवल विघटन और विसंगति को ही महत्व देना जाघुनिकता बोध नहीं है। बाज की कहानी में जाघुनिकता के नाम पर जो नेराश्य, कुण्ठा, अस्वस्थ दृष्टिकोण, विड्वत्तता या झूठे बहंकार का चित्रण करना किसी भी रूप में जाघुनिकता नहीं, दुराग्रह मात्र है। वास्तव में 'वर्ण' शक्ति वादि के उपयोग से सत्ता-संघर्ष में जो एक नया वायाम उपस्थित हो गया है, उसमें सार्वभौम प्रत्य की भावना भी निहित है और समय-समय पर जाने वाले राजनीतिक मूर्ख अतिशय संवेदनशील व्यक्तियों के मन में यह भय उत्पन्न कर सकते हैं कि स्तरा शायद नबदीक ही है। परन्तु यह तो इस घटना का एक पक्ष है और विकृत पक्ष है : मानव के सुख सौभाग्य

तथा जीवन की अधिकाधिक सार्थकता के लिए भा तो इसका उपयोग हो सकता है । इसी क्षेत्र से सावधान होकर प्रायः सभी समर्थ लोक नायक और अनेक प्रबुद्ध चिन्तक मानव जीवन के शुभ पक्ष की कल्पना भा तो कर सकते हैं और प्रायः कर रहे हैं । पर नया विचारक यह कहता है कि नया युगबीज यह नहीं है - यह तो पुरातन दृष्टिकोण है जो वस्तु को यथार्थ रूप में न देखकर उसके अभीष्ट रूप की कल्पना करने में ही विश्वास करता है । यह मताग्रह है, एक पूर्वाग्रह का आरोप है ।^१ अतः आधुनिकता बीज आनन्द तत्त्व के साथ भी सम्बद्ध है, यह निर्विवाद है । वस्तुतः आधुनिकता का बाह्य आरोप या उसकी अनुकृति उतनी ही दोषपूर्ण है, जितना स्वीकृत रुढ़ियों का अनुकरण ।

देशकाल के सन्दर्भ में मानव जीवन का प्रगति के प्रति वास्थावान होकर वाचरण करना आधुनिकता का अंग है । आधुनिकता सत्य का आत्म साक्षात्कार करने पर बल देती है, न कि कण्ठित, दूषित या स्कांगी सत्य के प्रतिपादन पर । इस प्रकार वह एक मनोवृत्ति है, जो स्थितियों में प्रतिफलित होती है । वह वाज की परिस्थिति में हमारी दृष्टि का वह परिप्रेक्ष्य है, जो हमें अपनी साम्प्रत भौतिक सीमा में अतीत और भविष्य दोनों को अधिक से अधिक अनुभवगम्य बनाने में सहायक होता है ।^२ इसके साथ ही आधुनिकता व्यक्ति स्वातन्त्र्य के प्रति भी आग्रहशील है । आधुनिकता के सन्दर्भ में व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ जिस दिशाबीज और वाचरण की आवश्यकता है, वह यथार्थ के सन्दर्भ में स्थितियों के साथ प्रत्यक्ष मोग की कामना है । इस प्रकार आधुनिकता वर्तमान को सजग रूप में मोगने और उस मोग से नए सन्दर्भ देखने और जीने की क्षमता है ।

जब हम आधुनिक युग का या आधुनिकता का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय यही होता है कि हम इतिहास से पाई हुई अनुमति और विज्ञान से प्राप्त जीवनविधि को स्वीकार करके चलें, उसका दायित्व निमाने के साथ-साथ उसके भाव स्थलों को अधिक मानवीय संवेदनाओं के साथ प्रयुक्त करके उसे विवेक द्वारा स्थापित करें । अतः

१. डा० नगेन्द्र : आलोचक की वास्था (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ ३४ ।

२. डा० शिवप्रसाद सिंह : शिकारों का सेतु (१९६८), काशी, पृष्ठ ७ ।

वाधुनिकता का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही स्वीकारना चाहिए । एक प्रकार से वह विषय वस्तु से अधिक उस दृष्टि का गुण है, जो किसी रचना को अनुप्राणित करती है । एक सुविज्ञ के अनुसार वाधुनिकता एक ऐसी मानसिक-बौद्धिक स्थिति है, जो अपने परिवेश और समाज की गहनतर समस्याओं से उद्भूत होती है और समकालीन जीवन को संस्कार देती है ।^१ मुख्य-मुख्य मानव मूल्यों में सर्व-व्यापी और सर्वजनीन होते हुए भी वाधुनिकता का स्वरूप अपनी जातीय विशेषताओं से अलग नहीं होता । जातीय संस्कारों के रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता है कि वह विप्रातीय गुणों को अपने में समाहित करने की शक्ति रखती है ।

अतः वाधुनिकता एक जीवन दर्शन न होकर एक जीवन दृष्टि है, जिसमें विसंगतियों की सम्भावना हुवा करती है । 'वाधुनिकता प्रश्न चिन्ह की एक प्रक्रिया है, जिसकी निरन्तरता को प्रेमचन्द से लेकर आज तक दो परस्पर-विरोधी परातलों पर हिन्दी के कहानीकारों ने पकड़ने का प्रयास किया है ।' एक परातल का सम्बन्ध व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति यथार्थ, व्यक्ति-हित की जीवन दृष्टि से है और दूसरे का समष्टि-सत्य, समष्टि यथार्थ, समष्टि मूल्य से । पहली श्रेणी में मोहन राकेश की 'मिस पाले', निर्मल वर्मा की 'लवर्स', कमलेश्वर की 'नीली क्रीले', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', रामकुमार की 'सेल्स', राजेन्द्र यादव की 'पतीदा', उषा प्रियंवदा की 'चिन्दगी और गुलाब के फूल', मन्मू मण्डारी की 'यही सब हैं' तथा कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' आदि कहानियाँ रखी जा सकती हैं । दूसरी श्रेणी में कमवीर भारती की 'गुल की बन्नी', शिवप्रसाद सिंह की 'मुरदा सराय', रामेय राघव की 'गदले', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक', भीष्म साहनी की 'मटकती राह', शैलर जोशी की 'बदबू', माकण्डेय की 'दाना-भूसा' आदि कहानियाँ रखी जा सकती हैं ।

वास्तव में वाधुनिकता प्रत्येक कहानीकार के लिए चुनौती है, जो विचार के नए परातलों, भाव की नयी मूमियाँ, जीवन के नए सन्दर्भों की खोज तथा चित्रण के

१. कमलेश्वर : नई कहानी की मूमिका (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ ८१ ।

२. डा० इन्दुनाथ मदान : वाधुनिकता और हिन्दी कहानी - 'माध्यम', १९६५, इलाहाबाद ।

लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार वाधुनिकता बोध आज के कहानीकार के लिए एक दायित्व बोध भी है जिसे ठीक से न समझ पाने के कारण कितने ही कहानीकार डेर सारी ऐसी रचनाएं लिखते जा रहे हैं, जो संवेदनशील तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए हास्यास्पद हैं तथा सामान्य पाठक के लिए मात्र बातक, जिसकी जगहत्या उपेक्षा करने के लिए वह विवश हो जाता है। जब भी वाधुनिकता के बिना वात्सलात किए मात्र फेशनपरस्ती के लिए वैचारिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है, तो कहानी की यही नियति होती है। यह नहीं कि केवल सातवें दशक के कहानीकारों ने ही वाधुनिकता की दुर्गति की है, बल्कि दशक में भी अनेक कहानीकारों ने यही किया है। मोहन राकेश का 'सेफ्टीपिन', राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी', निर्मल वर्मा कृत 'अमात्रिया', रमेश बच्चो कृत 'साजी', ज्ञान रंजन की 'दस्तांग', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', आदि कहानियां इन दोनों दशकों की असंख्य कथनियों में से कुछ हैं, जो इस कथन को प्रमाणित करती हैं।

वाधुनिकता वास्तव में परिस्थितियों से उपजती है और उसका सम्बन्ध हर देश के परिवेश से होता है। भारतीय, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, मार्कण्डेय, भैरव मटियानी आदि वे कहानीकार, जिन्होंने फेशन के फार्मूलों को नहीं अपनाया, तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे वाधुनिकता से वंचित कहानीकार हैं। बल्कि सब बात तो यह है कि उनकी कहानियों की वाधुनिकता अधिक सार्थक है, जानी-पहचानी लगती है, क्योंकि वह स्वतः प्रसूत है, ऊपर से आरोपित नहीं। 'वाधुनिकता एक मूल्य में न होकर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन दृष्टि है, जो सामयिक जीवन को उसकी गति के रूप में ग्रहण करती है, प्रश्न चिन्ह को उसकी निरन्तरता के रूप में आत्मसात् करती है।' जो लोग वाधुनिकता को 'संकट-बोध' स्वीकार लेते हैं, वे कदाचित् यह मूल जाते हैं कि वाधुनिकता का सम्बन्ध

१. डा० इन्दुनाथ मदान : वाधुनिकता और हिन्दी कहानी - 'माध्यम', १९६५, हताहावाद।

२. कमलेश्वर : कहानी की भूमिका (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ १५८।

हमारी संवेदनशीलता से होता है, जो रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य शर्त है ।
और यदि रचना-प्रक्रिया ही 'संकट-बोध' बन जाए, फिर कहने के लिए कदाचित्
कुछ नहीं रह जाता ।

मानव-सम्बन्धों में आज जो परिवर्तन हुए हैं या हमारी परिस्थितियों के जो सन्दर्भ
बदले हैं, उन्हें कहानी में चित्रित करते समय रचनाकार की स्थिति बचाव-पदा के
एक वकील से भिन्न नहीं है, जिसे प्रत्येक तथ्य को विश्वसनीय बनाने के लिए तर्क
देना पड़ता है । वहाँ केवल 'वायुनिकता का यही तकाजा है' - कहकर बचा
नहीं जा सकता । यह ठीक है कि वायुनिकता को इतिहास के दृष्टात्मक परिप्रेष्य
में ही हल किया जा सकता है और उसे मोगने के लिए आज का मानव अभिशप्त
है । पर क्या यह 'संकट' ऐसा है, जिसका सम्बन्ध आज के मानव जीवन से अप्रत्याशित
रूप से जुड़ गया है ? इसे सिद्ध करने के लिए तथा 'वायुनिकता' के इस 'संकट'
को प्रामाणिक बनाने के लिए भारतीय जीवन से ऐसे-ऐसे प्रसंग खोज निकाले जाते
हैं, जिनका वास्तविक जीवन में कहां उता-पता भी नहीं होता । यदि वे कहीं हैं
भी, तो नितान्त स्कान्त-उपेक्षित हैं । फिर भी उन्हें आज के सामान्य जीवन
का अंग बनाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे हमारा वायुनिक भारतीय
जीवन इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । मोहन राकेश का 'जन्म', कमलेश्वर की
'दुःखों के रास्ते', निर्मल वर्मा की 'दहलीज़', राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा', दुःकाय
सिंह की 'हंता', ज्ञानरंजन की 'हलांग', तथा उषा प्रियंवदा की 'चांदनी में
बर्फ' परे जादि कहानियां इसी संदर्भ में देखी जा सकती हैं । जिस प्रकार हम
कैलेण्डर में देखकर कभी-कभी पर्वतीय प्रदेशों या विदेशों के बारे में अपनी 'जानकारी'
बढ़ाते हैं, उसी प्रकार लगता है कि ये कहानीकार भी कैलेण्डर के पृष्ठों के माध्यम
से भारतीय जीवन को समझने की चेष्टा करते हैं । अगर यह न होता तो वायुनिकता
के नाम पर पति-पत्नी के सम्बन्धों में तना, प्रेमिकाओं की विभिन्न स्थितियां,
मृत्यु से तथाकथित 'तटस्थता', स्नेह सम्बन्धों की शून्यता और मानवीयता की
शुष्कता इस प्रकार चित्रित न की जाती, जिस प्रकार वायुनिक कहानियों में चित्रित
की गई हैं । जिस प्रकार बन्द के काव्य या मूषण गुंथावली देखकर हमें 'वीरता'
एवं 'जीर्ण' की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार वायुनिक काल की अधिकांश कहानियों
को पढ़कर वायुनिकता की भी 'उपलब्धि' होती है ।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि भारतवासियों की जो मानसिक उपज है, वह उन्नत देशों के वाधुनिक चिन्तन से कहीं हीन नहीं है, पर उसे किसी निर्वन व्यक्ति की उदारता हास्यास्पद होने का भ्रम ही देती है, वैसे ही हमारी वाधुनिकता की भी स्थिति है। वाज का मनुष्य अपने पर विश्वास खोया हुआ लगता है। वह एक ओर पुरातन के परित्याग में व्यस्त है, पर दूसरी ओर नूतन की कोई तात्कालिक साकार कल्पना उसके पास नहीं है। वह हर बीज और स्थिति के प्रति संशय से भरा हुआ है और शब्दों पर जब उसकी आस्था नहीं रह गई है। अतः कहानी में इन प्रसंगों को उठाते समय वाधुनिकता का संदर्भ हमें इन्हीं से जोड़ना होगा। इनसे असम्पृक्त होकर हम किसी वाधुनिकता की बात नहीं कर सकते।

वाज भी ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, जो इन स्थितियों का सही प्रतिनिधित्व करती हैं और इसीलिए वे वाधुनिकता का सही चित्रण भी करती हैं। धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', मोहन राकेश की 'जंगल', शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार', अमरकान्त की 'देश के लोग', राजेन्द्र यादव की 'सिलसिला', कमलेश्वर की 'तलाश', सुरेश सिन्हा की 'कई आवाजों के बीच', ज्ञान रंजन की 'पिता', संतोष 'संतोष' की 'डिफेंस का काम' आदि कहानियाँ उस भावी दिशा का सकेत स्पष्ट रूप से करती हैं जो कुहासे के बादलों को झाँटती हैं और विवेकसम्मत वाधार प्रस्तुत करती हैं। इस सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि 'वाधुनिकता गतिशील होती है'। वाज की वाधुनिकता कल के लिए ऐतिहासिकता ही होगी, यह निश्चित है। वाज जिन बातों को पुरातनवादी या परम्परावादी कहकर हम नकार रहे हैं, याद रखा जाए कि एक समय विशेष में वही प्रवृत्तियाँ वाधुनिक थीं। वाधुनिकता वस्तुतः एक मानसिक अथवा बौद्धिक स्थिति ही है, जिसका आविर्भाव समाज की विषम एवं गहन समस्याओं से होता है। प्रायः हम कभी-कभी समकालीनता को भी वाधुनिकता स्वीकार कर लेते हैं, पर यह पूरा सच्चाई नहीं है।

१. नई कहानियाँ, जवरी, १९६६, दिल्ली।

२. डा० सुरेश सिन्हा : नई कहानी की मूल संवेदना (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ ४६।

वाधुनिकता को एक सन्दर्भहीन मूल्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता, उसे परम्परा के परिप्रेक्ष्य में ही मूल्यांकित करना होगा।^१ वाधुनिकता वास्तव में कोई अजूबा नहीं है। वह एक फल भी नहीं है। महत्व रखने वाले मूल्यों में सामान्य एवं सर्वव्यापक होने के बावजूद वाधुनिकता का स्वरूप अपनी जातीय विशेषताओं से विच्छिन्न नहीं होता।

● साणवादी जीवन दर्शन तथा उदासीनता

जीवन को अनुभूति दे सकने वाले प्रत्येक साण का महत्व है। आज केवल घटनापूर्ण साणों का चित्रण करने की बात का विशेष महत्व नहीं है। किसी एक विशिष्ट संवेदना का सूक्ष्म चित्रण, जिसमें घटनाओं पर जाग्रह न होकर घटनाओं द्वारा उत्पन्न भावात्मक संघात पर जाग्रह है, वाधुनिक साहित्य की महत्वपूर्ण प्रकृति है। वास्तव में पूर्व निर्धारित उद्देश्य की अपेक्षा साण के यथार्थ के प्रति सापेक्ष दायित्व बीच ही आज का प्रमुख लक्षण स्वीकारा जाता है। वास्तव में आज के जीवन में व्यापकता से फैला जा रहा सामूहिक और वैयक्तिक भेदास्य जो असहाय स्थिति के रूप में आचार पा रहा है, जिसमें आज के मानव के 'बर्ह पराजय' का सभी पराजित स्थितियों का व्योरा है। अतः प्रत्येक साण में एक प्रतिनिधि मनुष्य की हेसियत से रचनाकार जो भोगता है - वही कहानी का आधार स्वीकारा जाने लगा है।

आज के अधिकांश कहानीकार स्वीकारते हैं कि मानव जीवन में विसंगतियों और विकृतियों का बोलबाला है, पर विकृति और प्रकृति में वही अन्तर है, जो जीवन और मृत्यु में। यही कारण है कि आज की सर्वव्यापी, दोस्तर विकृतियां और विसंगतियां भी किसी को जीवन की मूल धारा से काटने में असमर्थ हो रहा हैं, उन्हें अतिरंजित रूप देकर कहानियां बाहे जितनी लिख ली जाएं। यह ठीक है कि आज के जीवन में कोलाहल, क्रन्दन और अपेहीन चीड़-फुहार ही सारे वातावरण में उमरकर सब समय कानों में गूँजी रहती है। और जीवन मात्र कोलाहल ही नहीं है, जो आज

ज-----

१. डा० सुरेश सिनहा : नई कहानी की मूल संवेदना (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ ४६।

जवानक जाणों के संकीर्ण चोखों में घिर गया है । वास्तव में अपने परिवेश से हर मनुष्य सम्बद्ध होता है । परिवेश से सम्बद्धता एक मानवीय तथ्य है । अपने परिवेश से सम्बन्ध ही मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता देती है । जन्म से मनुष्य को एक परिवेश मिलता है । यह उसकी बेतना और संवेदना पर निर्भर है कि वह अपने को जाणों की संकीर्णताओं में सीमित कर लेता है या इससे अलग हटकर व्यापक परिवेश से और अनेक स्तरों से सम्बद्ध करता है ।

अतः जीवन से कटकर अकेला व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता । हां, कभी-कभी यह अवश्य अनुभव होता है कि पूरा जीवन सपाटता अनुभव कर अकेला पड़ गया है, जैसे शरीर को पक्षाघात हो गया हो । अलग-अलग अंग कटकर अकेले नहीं हो जाते, सम्पर्कों की शिराएं सुस्त पड़ जाती हैं । यह अकेलापन सबके साथ का होता है, सबको साथ-साथ अखरता है और निरन्तर अपना रूप बदलने का प्रक्रिया में रहता है । वस्तुतः जीवन को अच्छी या बुरी, संगत या असंगत, सार्थक या निरर्थक जैसे विशेषणों में नहीं बांधा जा सकता । किसी एक जाण में भी वह सर्वत्र एक-सी नहीं है । कहीं किसी जाण वह सार्थक है तो कहीं उसी जाण निरर्थक ।

अतः कहानी की सार्थकता तभी बनती है, जब वह मात्र जीवन-सण्डों या घनीभूत जाणों का सम्प्रेषण न होकर, उनमें निहित अर्थों या मूल्यों की कहानी बनती है, जो अनेक स्तरों पर घटित होती है । अभिवात्मक रूप में वह स्थिति विशेष, जीवन-सण्ड या घनीभूत जाण की सच्ची प्रस्तुति बनकर तथा व्यंजनात्मक रूप में वही मानवीय सम्बन्धों, घटना या जाण को नर अर्थों तक ले जाती है । जब हम मनुष्य के मानवीय रूप की व्यवस्था करना चाहते हैं तो हमें इस भाव बोध के मानवीय संदर्भ और वेदना की ईमानदारी, स्पष्टता और अनुभूति को महत्व देना पड़ेगा क्योंकि इसी से वह आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के आविर्भाव का सार विकसित हो सकेगा । संवेदना और उपलब्धि की मानवीय स्तर के इस गुण से ही वह भाव उपजता है, जिससे यथार्थ की दृष्टि के साथ-साथ अपने परिवेश के प्रति आस्था और विश्वास का भाव प्रतिष्ठित होता है ।

वर्तमान से, उपस्थित व्यवस्था से असन्तोष, इनकी अस्वीकृति और उदासीनता - बाज की विवशता है । अस्वीकृति, उदासीनता की स्थिति में मनुष्य देर तक नहीं रह

पाता । वास्तव में उदासीनता उसे क्षण-क्षण स्रष्टा करती रहती है, इसलिए अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए वह निरन्तर आत्मसंघर्ष में व्यस्त रहता है । संघर्ष के ये स्तर विभिन्न होते हैं, पर पथ समा संघर्षों का एक ही होता है, परिस्थितियों से साक्षात्कार करना तथा ऊपर उठना ताकि उदासीनता समाप्त हो सके । इसके विपरीत जब बाब की कहानी में उदासीन व्यक्ति निष्क्रिय हो जाते हैं और आत्महत्या की बातें सोचते हैं, जो विस्मय होता है ।

कहा जाता है कि बूँक बाब का बादमी बहुत अधिक अकेला है, इसीलिए उदासीनता ही उसकी धरोहर है । यह अकेलापन इस सीमा तक हावी हो गया है कि बाब के बहुत से 'उत्साही' कहानीकारों को अपना अस्तित्व तक बाँस देने लगा है और वे केवल दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी अजनबी बन गए हैं । उनके पात्रों के नाम तक गायब हो गए हैं, वे मात्र सर्वनाम भर रह गए हैं । मोहन राकेश की 'जल्म', निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात', या 'लवर्स', दुबनाथ सिंह की 'आइस बर्ग', ज्ञान रंजन की 'शेष होते हुए' आदि कहानियाँ इसी सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कभी-कभी व्यक्ति अपने चारों तरफ के फले जीवन और अपने जीवन, चारों ओर के फले विचारों और अपने विचारों में कोई संगति नहीं ढिठा पाता, और एकाएक ही उसे लगता है कि उसे समझने वाला, उसको अनुभूतियों को बाँटने वाला कोई नहीं और वह नितान्त अकेला है । किन्तु यह किसी विशेष स्थिति का प्रतीक है, जीवन का स्थायी अंग नहीं । और इसीलिए उन क्षणों की उदासीनता भी अस्थायी ही होती है ।

वास्तव में स्थायी रूप से देखा जाए, तो मृत्यु के दिन तक बादमी कभी अकेला नहीं होता, नहीं हो सकता । मृत्यु भी उसे अकेला नहीं कर सकता क्योंकि मृत्यु के साथ ही ही उसके 'मनुष्य' होने की स्थिति समाप्त हो जाती है । अन्तिम दिन तक जीवन से सम्पृक्त बने रहना, यह किसी के लिए भी उसका अपना विकल्प नहीं है । यह जीवन की आन्तरिक अनिवार्यता है, जिसे आत्महत्या द्वारा भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता । आत्महत्या की बात वही करता है, जो किन्हीं मानसिक दुर्बलताओं के कारण इस 'सम्पृक्त बने रहने' की स्थिति का साक्षात् नहीं रहना चाहता । जीवन एक ठोस वास्तविकता है और निराशा, क्षणों की कुंठा एवं उदासीनता के नाम पर आत्महत्या उस वास्तविकता से बाँस मूँद लेने का प्रयत्न । जब व्यक्ति ऐसा

प्रयत्न या इस तरह के प्रयत्न की बात करता है, तो उसका अर्थ यही है कि उसके अन्दर अपने साक्षात्त्व का साहस नहीं है। ज़ाणों का अकेलापन जूझने की एक स्थिति है, किसी तरह का अलगव नहीं। यह जीवन से अकेला होना नहीं है, जीवन के बीच अकेला पड़कर अपने जुड़े होने का निवाह करना है।

इन स्थितियों के बीच गहरी उदासता का कुछ बड़ी ही सार्थक कहानियाँ हमें मिलती हैं, जो गंभीर अर्थ प्रस्तुत करती हैं। धर्मवीर भारती की 'सावित्री नं० २'^१, मोहन राकेश की 'जंगल', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', नरेश मेहता की 'एक इतिश्री', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', सुरेश सिनहा की 'यहाँ-वहाँ बूँद', ज्ञान रंजन की 'सम्बन्ध' तथा उषा प्रियंवदा की 'बापसा' कहानियाँ रचनाकार के उस जाग्रह को प्रस्तुत करती हैं, जहाँ वह उदासता या ज़ाणों की कुंठा से पलायन नहीं, साक्षात्कार करने का चेष्टा है। यहाँ सम्बन्धों का सोखलापन भी है, ज़ाणों की रेक्सडिटी भी है, और दृष्टि का नेराश्य भी है, पर किसी में आत्महत्या की कायरता नहीं है, बल्कि सबसे जुड़ पाने का उत्कृष्ट भी है और प्रयत्न-शीलता भी। कुछ और कहानियाँ ले लें - निर्मल वर्मा की 'पिहली गर्मियों में', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों', धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं'^२, सुरेश सिनहा की 'सीढ़ियों से उतरता सूरज', मन्मू भण्डारी की 'तीसरी आदमी', उषा प्रियंवदा की 'कुले बंद दरवाजे', सुधा वरोड़ा की 'घर' तथा संतोष 'संतोष' की 'अपमान', गिरिराज किशोर की 'पैरों तली दबी परछायाँ' में अकेलापन और उदासता जुड़े हुए रूप में विभक्त हैं, किन्तु व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में उनका सार्थकता असंदिग्ध है। वे हमारे सामने आज की विसंगतियों में से, उमरे अविच्छिन्न मूल्यों के रूप में सामने आते हैं और एक नयी दृष्टि देते हैं 'साक्षित्व' का। वे वास्तविकता को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

१. धर्मवीर भारती : सारिका, जून १९६२, बम्बई।

२. धर्मवीर भारती : नई कहानियाँ, जनवरी १९६६, दिल्ली।

३. सुरेश सिनहा : सारिका, मार्च १९६६, बम्बई।

● अस्तित्व बोध, मृत्यु तथा संशय

यह जड़ पदार्थ से उतना सम्बद्ध नहीं है, जितना गतिशील जीवन से। यह इस बात की सम्भावनाओं का परख करता है कि जीवन की वास्तविक स्थिति क्या है और वह जीने के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल। इस प्रकार यह जीवन के सन्दर्भ में मानव चेतना के मानदण्ड निश्चित करता है। चेतना के आधार पर मानव अस्तित्व को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली में तो साधारण जन हैं, जो प्रायः परम्पराबद्ध होते हैं और पूर्व-निर्मित व्यवस्था के प्रति गहन रूप से वास्तविकता मानते हैं। उनकी अपनी वैयक्तिकता उभरने नहीं पाती। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं, जो अपने अस्तित्व के प्रति अत्यधिक आग्रहशील हैं और प्रत्येक क्षण अपनी वैयक्तिकता के प्रति सचेत रहते हैं। इसके लिए तीन स्थितियाँ अनिवार्य हैं। पहली तो अस्तित्व रक्षा में बाधक प्रत्येक वस्तु को अस्वीकारना। दूसरी अपनी निजता को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य और तीसरी है स्वतन्त्रता का भावना। वास्तव में मनुष्य स्वतन्त्र रहने के लिए अभिशप्त है।^१ स्वतन्त्रता की इस भावना के साथ ही मनुष्य में ज्ञान का दायित्व-बोध विकसित होता है। अतः चेतना, अस्वीकारात्मकता, वैयक्तिकता एवं स्वतन्त्रता एक दूसरे के पर्याय हैं।

मनुष्य अपने निर्माण के दायित्व की पीड़ा स्वयं फैलाने के लिए विवश है। वह शून्यता की स्थिति में जन्म लेता और बाद में वह वही होता है, जैसा अपने को निर्मित करता है। यही कारण है कि प्रत्येक क्षण वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके कुछ बनने या प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। यह एक प्रकार से विकास की प्रक्रिया है। अतः मानव चेतना ही संसार में एकमात्र ऐसी सत्ता है, जिसका कोई मूलभूत स्वभाव नहीं है। मानव चेतना वस्तुतः स्वतः सापेक्ष नहीं है। दूसरों की विवेचनपूर्ण दृष्टियों का संस्पर्श उसके अन्दर कोई उपस्थित है, जो उसकी परख कर रहा है। यह एक विवशता है, जहाँ से अस्तित्ववाद का वास्तविक बोध प्रारम्भ

होता है । मृत्यु, संक्रास, आतंक, अकेलापन, आत्महत्या या नगण्यता का आविर्भाव इन्हीं परिस्थितियों में होता है ।

पूर्ण वैयक्तिकता वस्तुतः किसी भी समाज में सम्भव नहीं है । चाहे अनचाहे हमें सामाजिक परिवेश से अपने को सम्बद्ध करना ही पड़ता है । पूर्ण वैयक्तिकता तो कदाचित् किसी निर्जन स्थान्त, गुफा या पर्वतीय शिखरों के अंचल में किसी साधु-संन्यासी के लिए ही सम्भव है । इसके विपरीत हम जब अपनी निजता स्थापित करना चाहते हैं, तो सामाजिक परिवेश से बराबर टकराना पड़ता है, और यह टकराव ही अस्तित्ववाद के मूल्य बोध का आधार है । अस्तित्ववाद के लिए यह सृष्टि निरर्थक है और ईश्वर की स्थिति नगण्य है । एक प्रकार से वह सृष्टि का केन्द्र ईश्वर को स्वीकार न कर धर्म के प्रति विद्रोह हो जाता है । यदि सृजन एक मूल कार्य है, तो ईश्वर मनुष्य से उसी प्रकार जुड़ा रहता है जिस प्रकार मूर्ति से मूर्तिकार । अस्तित्ववाद इसीलिए ईश्वर की समस्या को उतना महत्वपूर्ण नहीं मानता, जितना मानव की क्योंकि वाज्य आवश्यकता है कि मानव फिर से अपना अन्वेषण करे और समझ ले कि ऐसा कुछ भी नहीं है, जो अपने अस्तित्व के उत्तरदायित्व से उसे बचा सके - ईश्वर की सहायता का निश्चित प्रमाण भी नहीं है । यह परिकल्पना धीरे-धीरे स्वयं मर जाएगी ।^१ अतः मनुष्य प्रत्येक स्थिति में स्वतन्त्र है । यह उसके लिए अभिसाप है, जिसकी नियति से वह पलायन कर ही नहीं सकता । ईश्वर से असम्बद्ध यह सृष्टि निष्प्रयोजन मात्र है, जहां अपने दायित्व बोध के साथ मनुष्य अकेला है । यद्यपि वह अपने जन्म के लिए उत्तरदायी नहीं है, फिर

१. ज्यां पाल सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृष्ठ २३२ --

"If creation is an original act and if I am shut up against God, nothing any longer guarantees my existence to God. He is not united to me. Only I a relation of exteriority as the sculpture is related to the finished statue."

२. ज्यां पाल सार्त्र : एन्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, पृष्ठ ३२-३३ ।

भी जावित रहने के लिए उचरदाया है, जिससे वह बच नहीं सकता । उसके अस्तित्व की रक्षा का बोध इसी से सम्पन्न है । स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र स्वतन्त्र रहने के लिए संघर्ष है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं ।^१ इस दिशा में उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है । इस प्रयत्नशीलता से उसमें प्रकृत कितना ऊर्ध्वहीन है । मनुष्य में सदैव अपने वर्तमान को परिवर्तित करने की इच्छा-शक्ति विद्यमान रहती है । यह प्रयत्नशीलता इसी से सम्बद्ध है । इस प्रयत्नशीलता के विभिन्न स्वरूप होते हैं, जिन्हें कुने की मनुष्य को स्वतन्त्रता रहती है ।

प्रत्येक मानव कितना अपने मूल्यों का चयन स्वयं करती है और कोई भी मूल्य शाश्वत नहीं होता । प्रत्येक चयन हमें मृत्यु से साक्षात्कार कराती है अर्थात् हमें निरर्थकता का बोध कराती है । यह एक प्रकार से शून्य से भी साक्षात्कार है, जिसमें आतंक, संक्रास और मय भी सम्मिलित है । इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य इस बात के प्रति सदैव सचेत रहता है कि अगला कोई भी क्षण मृत्यु का हो सकता है । उस क्षण के सारे मूल्य और मान्यताएं निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं, जिनके माध्यम से हम जीवन भर अपने अस्तित्व की प्राणाणिकता सिद्ध करने में लगे रहते हैं । व्यर्थता एवं निस्सारता की यह अनुभूति शून्य को जन्म देती है, जिसमें अवसाद और घुटन मात्र शेष रहता है । मूल्य-बोध के स्तर पर अस्तित्ववाद में दो मत प्राप्त होते हैं । पहला मत सार्त्र का है, जिसके अनुसार किसी एक बिन्दु पर जाकर वैयक्तिकता की सामूहिकता से सम्पर्क करना पड़ता है । इस अर्थ में प्रति-बद्धता किसी परम्परा, व्यवस्था या सामाजिक मान्यता के प्रति न होकर भी स्वयं चुनी हुई कर्म समष्टि अथवा अपने वैयक्तिक मूल्य के प्रति होती है । दूसरा मत कामू का है, जिसके अनुसार वैयक्तिकता ही एकमात्र मूल्य है और सामूहिकता से सम्पर्क करने की कोई विवशता नहीं है । यहाँ अस्वीकार पर आत्यन्तिक बल है ।

१. ज्यां पाल सार्त्र : सिगुसन्स, पृष्ठ ६० --

"Our liberty today is nothing except the free choice to fight in order to become free."

२. ज्यां पाल सार्त्र : रजिस्ट्रेशनलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, पृष्ठ २६ --

"What we choose always better and nothing can be better

सार्थ साधकता की होश पर बल देता है, जबकि कामू निरर्थकता पर । कामू तो यहाँ तक मानता है कि निरर्थकता के अभाव में जीवन जीने योग्य नहीं रह जाता ।^१ इस अर्थ में अस्तित्ववाद एक अव्यवस्थित दर्शन मर बनकर रह जाता है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि वह एक दार्शनिक विचार मर है, ईश्वर या धर्म की उपेक्षा करके दार्शनिक चिन्तन को मानव-केन्द्रित बनाने की मांग की । किन्तु यह केवल मांग मर ही रह गई, क्योंकि मानव समस्याओं का कोई समाधान सुझा सकने में अस्तित्ववाद असमर्थ रहा । इसके विपरीत आध्यात्मिक आधार से व्युत्पन्न करके उसने मनुष्य को पूर्णतया हारणा, नैराश्य का पुजारा, कुंठाग्रस्त और दिशाहीन बना दिया । हम लोग जिन्दगी, मौत, सन्त्रास, एक्सिडेंटों की फेसलेबल बातें बहुत करते हैं, लेकिन विशेष स्तर की व्यक्तिगत प्रामाणिकता और व्यापकता कदाचित् ही किसी में प्राप्त हों । जीवन या मृत्यु की एक ऐसी कहानी नहीं है हमारे पास (सुरेश सिन्हा की 'एक उदास आत्महत्या' अवश्य ही अपवाद है), जो हमें उस यंत्रणा से सही साक्षात्कार करा सके । जिन्दगी के नाम पर जो कुछ दिया गया है वह सामने है ही, मौत के नाम पर विभिन्न धर्मों की अन्त्येष्टियों के अतिविस्तृत विवरणों वाली कहानियाँ हैं, शायद मृत्यु-साक्षी होने के नाम पर इन्हें ठेला जा रहा है । लेकिन बार-बार महत्वपूर्ण प्रश्न यही उठता है कि जिन्दगी और मौत या आतंक सन्त्रास को लेकर किसने क्या सोचा है ? सुरेश सिन्हा की उपर्युक्त कहानी में कथानायक अस्पताल में एक मेजर आपरेशन और अस्पताल के अमानवीय वातावरणको देखते हुए अपने अनुमानित मृत्यु को प्रत्याज्ञा कर रहा है । यह कहानी निश्चय ही हमें मृत्यु की यंत्रणा से संतुष्ट कर देती है, साथ ही एक आतंक का वातावरण भी निर्मित करती है, पर प्रश्न वही उठता है कि इसके बाद क्या ? क्या नायक के एक अन्धे सिरे पर आ जाने मात्र से दुनिया मर का दुःख-दर्द सोचने से बचकर वह सन्त्रास अस्तिफाई हो जायेगा ? क्या हम लोग, पहले से जिये और भोगे हुए से बल और अपना कुछ भा सोच-मोह नहीं सकते ? किन्हीं औरों का जीवन ही हमारे अपने जीवन में बाहिर कब तक उतरता और उसे निर्धारित

१. अल्बेयर कामू : द मिथ ऑफ सिस्सिफस, पृष्ठ ५५ ।

२. सुरेश सिन्हा : कई आवाजों के बीच (१९६८), इलाहाबाद ।

करता रहेगा ? सुरेश सिनहा की कहानी तो फिर भी गुनामत है, स्वर जो सन्वास या रेक्सर्टी के नाम पर सेल्फ को अलग आवेग बनाकर देखने की डेर सारा कहानियां निकल रही हैं, उनके पात्र तोड़ने या ऊपर उठाकर दिशा देनेवाला यातना का लेशमात्र भी नहीं मिलता । यह एक विडम्बना ही है कि आधुनिक हिन्दी कहानी में यातना-सन्वास बिपकाकर आधुनिक जोर शहीद बनना एक फैशन हो गया है । विद्रोहियों का ऐसा परिपाटीबद्ध मोड़, जहां विद्रोह कहां न हो, लेकिन विद्रोही समा हों, कहीं भी नहीं देखा गई और यही आज कहानी का दुर्गति का सबसे बड़ा कारण है ।

यहां अस्तित्ववाद और साहित्य के सम्बन्धों को भी स्पष्ट कर लेना उचित होगा । उसके अनुसार सभी कलाएं समान हैं । उनमें मूलमूल अन्तर है । यदि उनमें कोई समानता है, तो मात्र यही कि व्यक्ति विशेष की सौन्दर्य केतना मूलतः अविशिष्ट हुआ करती है और बाद में विभिन्न परिस्थितियों एवं ज्ञान के सम्पर्क से वह विशिष्ट रूप प्राप्त कर पाती है । इसके अतिरिक्त कलाओं में कहां समानता नहीं - अन्तर मात्र रूप का नहीं, तत्त्व का है और रंग ध्वनि के सहारे काम करना एक बात है और उन्हीं शब्दों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करना बिल्कुल दूसरी ।^१ सार्त्र के अनुसार उपयोगिता के धरातल पर शब्दों को साध्य और साधन दोनों का रूप दिया जा सके । अर्थ ही वह स्मार्त वस्तु है, जो शब्दों को उनकी सार्थक अन्विति प्रदान करती है, जिसकी अनुपस्थिति में वे निरर्थक ध्वनि मात्र रह जाते हैं । अर्थ शब्द से अलग कोई स्थिति नहीं रखता, वरन् वह शब्द में ही निहित रंग और ध्वनि के समान एक गुण है । शब्दों का संयोजन और अस्पष्टता ही उनका वह विशिष्टता है कि कोई चाहे तो उन्हें प्रतीक रूप में ग्रहण करके, उनके शब्दत्व से पार संकेतित वस्तु को फाड़ ले या चाहे तो अपनी दृष्टि शब्द तक ही सीमित रख कर उसे पदार्थ की स्थिति दे दे ।

शब्द भावनाओं को संकेतित नहीं करते, स्वयं भावना रूप हो जाते हैं । यद्यपि पद्य और गद्य दोनों ही लेखन-कार्य हैं किन्तु हस्तसंवाक्य के अतिरिक्त दोनों में कोई समानता नहीं है । गद्य तत्त्वतः उपयोगितावादी है और गद्यकार शब्दों को उपयोग

में लाता है ।^१ गद्य का उपयोग है स्पष्टीकरण और इसका सार है निसर्गः
संकेतमूलकता । गद्यकार के लिए यह जानना अनिवार्य है कि शब्द किसी वस्तु या
विचार को सही संकेतित करते हैं या नहीं । उसके लिए वह भाव या विचार हा
बहुमूल्य है, जिसकी ओर शब्द संकेत करता है ।

अपना अन्तस्चेतना के परिणामों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक को है
किन्तु कोई कर्म मात्र स्वान्तः सुखाय की भावना से करना निष्प्रयोजन मात्र है ।
स्वान्तः सुखाय के लिए तो अपना अन्तस्चेतना पास है ही, जिसे अभिव्यक्त करने
की कोई आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः अपने विशिष्ट अनुभवों को दूसरों तक
सम्प्रेषित करने में ही सार्थकता है । संसार की किसीके भी प्रति न तो मनुष्य तटस्थ
रह सकता है और न ही संसार का कोई वस्तु मनुष्य के प्रति तटस्थ रह जाता है ।
वास्तव में मनुष्य तो एक ऐसी चीज़ है, जिसके प्रति कोई भी तटस्थ नहीं हो
सकता, ईश्वर तक भी नहीं ।^२ अतः साहित्य में महत्वपूर्ण होता है सम्प्रेषण
का विषय, न कि सम्प्रेषण पद्धति । किन्तु कुछ कह देने मात्र से ही कोई लेखक
नहीं बन जाता, बल्कि अभिव्यक्त करने की निश्चित शैली ही लेखकीय व्यक्तित्व का
निर्माण करती है । शब्द पारदर्शी हैं और उनकी पारदर्शिता को स्रष्टित करने
वाले कुछ ऊबड़-खाबड़ रंगीन कांच के अपारदर्शी टुकड़े उनके बीच मिला देना मुश्किल
है ।^३ किन्तु पाठक यदि शैली के प्रति सजग हो जाए, तो अर्थ सुंघता ही नहीं
पड़ जाता, अपना महत्व भी तो देता है । अतः विषय के महत्व को नकारा
नहीं जा सकता । शैली उसके बाद ही आती है । शब्द भरी हुई पिस्तौल है -
और धोखे का अर्थ है गोली दागना । वह चाहे तो मौन भी रह सकता है पर
यदि उसने बन्दूक दागने का ही निर्णय लिया है तो उचित है कि एक पुरुष की
तरह उसे पूर्ण करे । निश्चित तथ्यों का संधान कर उसे भेदे, न कि बच्चों की तरह
कांपते हुए हाथों से बांस मींचकर आकाश की दिशा में अन्धाधुन्ध गोली बलाता
जाए - सिर्फ घमाकों की आवाज़ का मजा लेने के लिए ।^४ इस प्रकार विषय और

१. ज्यों पात सार्व : च्छाट क्क लिट्टेवर, पृष्ठ १०

२. वही, पृ० १४

३. वही, पृ० १५

दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, पर विषय अधिक बज़न रखता है ।

कलात्मक सृजन के प्रमुख सूत्रों में सबसे महत्वपूर्ण यह है कि मनुष्य निरन्तर यह अनुभव करता ही रहे कि संसार के लिए उसकी स्थिति अनिवार्य है । लेखक पाठक को निर्देशित करने का कार्य करता है । इस प्रकार अस्तित्ववाद विन्तन से उतना सम्बद्ध नहीं है, जितना अनुभूति से है । मानव संवेदना पर आधारित होने के कारण यह वैयक्तिक एवं आत्मपरक अधिक हो गया है । वैयक्तिकता, आत्मपरकता, अस्तित्व को प्रतिबिम्बित करने वाली परिस्थितियाँ और उनके दबाव से उत्पन्न मनःस्थितियाँ, निर्णय लेने की प्रक्रिया में मन को आक्रान्त करने वाली दुविधारे, मृत्यु से साक्षात्कार की यन्त्रणा आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जो किसी भी कलात्मक सृजन से सम्बद्ध हो सकती हैं ।

अस्तित्ववाद में विचार को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण किया गया है, इसीलिए इसका सम्बन्ध अनिवार्यतः साहित्य से जुड़ गया । अस्तित्ववादी अनुभूति का अभिप्राय है - सत्यता से साक्षात्कार और इसका परिणाम है बने बनाए रास्तों से हटकर एक नया पथ खोजने का प्रयास । इसीलिए इस अनुभूति के साथ उत्थाव, अव्यवस्था और वेदना का अंधकार भी सम्बद्ध हो जाता है ५ ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में अस्तित्ववाद को दो रूपों में ग्रहण किया गया है प्रभाव ग्रहण के रूप में और अनुकरण के रूप में । आज के कहानीकार की असफलता इस बात में नहीं है कि उसने पश्चिम से यह विचार ग्रहण किया है, इसमें भी नहीं कि उसकी परिस्थितियों और इस विचार में परस्पर कोई सामंजस्य नहीं है, बल्कि इस बात में है कि वह अपनी परिस्थितियों के साथ इस विचार का सामंजस्य नहीं स्थापित कर सका है । आज की अधिकांश कहानियाँ में अपने देश की परिस्थितियों में मानव की समस्याएँ और उनका समाधान नहीं है, सारंग, कामू और काफ़ू का से उधार लिया हुआ संत्रास बोल्ता है । उनके यहाँ की परिस्थितियों के साथ जुड़कर जो संत्रास और पीड़ा या बेराश्व संगत और स्वामाविक प्रतीत होता है, वही यहाँ की परिस्थितियों पर आरोपित होकर फूँटा, कृत्रिम और असंगत प्रतीत होता है । मानसिक असन्तुलन, यौन विकृतियों की कहानियाँ न अपने देश की लगती हैं, न समाज की । इसीलिए उनकी सम्भावनाएँ भी असम्भव प्रतीत होती हैं । अधिकांश रूप में

मृत्यु का साक्षात्कार - मृत्यों की टूटना - की मूल संवेदना को आधार बनाकर लड़ी होने वाली कृतियां विगत दो महायुद्धों की विभाषिका से गुस्त यूरोप के लिए बितनी यथार्थ हैं, जितनी ही मारतायता से बढ़ती हैं। उनमें मारताय मिट्टी का गंध नहीं है।

अल्बेयर कामू का एक नाटक है 'केला गुला'। 'केला गुला' पौराणिक निरंकुश हत्यारा शासक है, जो कहता है, 'मेरे शासन में महामारी नहीं फैला, धार्मिक संहार नहीं हुआ, एक विद्रोह तक नहीं हुआ। हां, जो कुछ नहीं हुआ, उस सब का ज़ाह ली है मैंने खुद।' उसके राज्य में बादमा स्थिति मरता है कि वह अपराधी है। वह अपराधी है, क्योंकि केलागुला की प्रजा है। सुनिश्चित मृत्यु के सामने, परिवेश की ऐक्सिडेंटी, प्रयत्नों की व्यर्थता और अर्थहीन जिन्दगी के अभिशाप को ढोने - या उससे मुक्त हो सकने का दर्ज है ही कामू की दार्शनिकता है। कामू की ही अन्य कृति 'घनीभूत' का नायक अपने वासपास की व्यवस्था, परिवेश की ऐक्सिडेंटी से जाल्वस्त होने के बहाने मृत्यु-सन्त्रास से तटस्थ हो जाने की चेष्टा करता है। इसके विपरीत हिन्दी में इस संत्रास को लेकर लिखी जाने वाली कुछ कहानियां हैं - रमेश बन्नी की 'एक आत्महत्या', निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मांते', सुधा बरोड़ा की 'निर्मम', दुधनाथ सिंह की 'रक्तपात' आदि असंख्य कहानियां आरोपित संत्रास को खना 'घनीभूत' (!) कर लेती हैं कि सारा प्रयास हास्यास्पद बन जाता है। मरना ही है, तो तटस्थ और उदासीन होकर स्थिति स्वीकार ली जाए। अशोक कलिंग की लाखों मौतों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझता रहा और उसका हृदय परिवर्तित हो गया। पार लागरविस्ट का बाराबास रंसा की मौत का साक्षी था और इस अपराध भाव के एहसास स्वयं उसकी बेतना में मृत्यु की तरह घनीभूत होने लगी। कामू भी लाखों की मृत्यु का साक्षी था और उसने उसके विचार दर्शन को बदल दिया।

यह उन लोगों के लिए साक्षात्कार की बात थी, लेकिन हिन्दी में यह फेज़न का कामूता है। हिन्दी कहानी के तथाकथित अस्तित्ववादी कहानीकारों को सर्वाधिक रोचक मुद्दा 'हंस्वर-विहीन' संसार में, परिवेश, का सन्त्रास और व्यवस्था की ऐक्सिडेंटी, दार्शनिक तटस्थता तथा उदासीनता है जहां व्यक्ति अपने प्रयत्नों की

व्यर्थता को अस्तिफार्ड कर सके, प्रयत्न करने की इच्छा को ही अस्वीकार कर सके और एक सीमा पर जाकर आत्महत्या को सभा समस्याओं का समाधान मान सके । सुधा अरोड़ा की एक कहानी में (हर कहानी उनकी एक ही है) यही मुद्रा है, जिन्हें डा० बच्चनसिंह 'उपलब्धि' स्वीकारते हैं । वास्तव में परिस्थितियों से संबंध करना, जूमना और अपने अन्दर जिजीविषा भाव उत्पन्न करना बहुत कठिन है, पलायन करना सबसे आसान है और नेति-नेति कहकर पोज़ बनाना उससे भी आसान । जिन अस्तित्ववादियों की नकल हमारे ये कहानोकार कर रहे हैं, उन्होंने वस्तुतः समाज की अव्यवस्था, जीवन की अर्थहीनता को सांसारिक माया या केवटस कहकर टाल नहीं दिया था, बल्कि बड़े गहरे पेठकर व्यवस्था और वर्गों के रेशों को समझने तथा दिशा पाने की चेष्टा की थी । हमारे यहां समझना और दिशा पाना तो दूर, किसी समस्या से सीधे साक्षात्कार करना ऐव्सर्ड समझा जाता है, ऊपर सतह को अमूल्य मोती समझकर तांग-लपेट से प्रस्तुत कर देना नायाब उपलब्धि समझी जाती है । रमेश बक्षी, दुधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, श्रीकान्त वर्मा, निमल वर्मा, सुधा अरोड़ा, राजकमल बोधरी तथा जोश-सरोश से बाने वाले अधिकांश नए कहानीकारों की यही नियति रही है । यहां कहानियों के नाम देने की आवश्यकता नहीं है । आज की कोई भी कहानी पत्रिका उठा ली जाए, अस्तित्व का बोध, संकट और मृत्यु का संक्रास प्रायः हर कहानी में प्राप्त हो जाएगा ।

वास्तव में आज का दुविधाजनक स्थिति में हमारे तनाव, घुटन एवं पीड़ा का समाधान ज्वेतन के गर्भ में पुनः पतन नहीं, वरन् सृजनात्मक जेतना से हमारा उत्थान है । अपने मन को असम्भव आकांक्षाओं से मुक्ति करना सबसे बड़ा दुराग्रह है^१, जो जीवन को पूर्णतया सन्निहित कर देता है और हम संक्रास तथा आतंक की कृत्रिम भाषा में बात करने लगते हैं । जैसा कि अब ऊपर कहा जा चुका है, दायता-बोध को मृत्यु-बोध स्वीकार करने वाले बहुत-से फिशनपरस्त कहानोकार आज इसीलिए समय-तिरस्कृत हो रहे हैं क्योंकि वे सिर्फ अपने में जी रहे हैं । अस्तित्व की समस्याओं से डुब्य और संक्रास व्यक्ति अपने, अपने तात्कालिक परिवेश में और अपने समय में - तीन स्तरों

१. लेविलीन पावीज़ : द ग्लोरी ऑफ लोइफ (१९३८), शिकागो, पृष्ठ ४७ ।

पर जीता है। इसीलिए वह अपना, अपने परिवेश का और अपने समय को अपनी कहानियों में सही ढंग से प्रतिध्वनित कर सकने में समर्थ होता है। अपने में जीने को स्वीकार करके, परिवेश और समय में जीने को बर्खाकार करना स्कॉटिंग दृष्टिकोण मात्र है। यह घोर व्यक्तिवादिता और रुग्णता का लक्षण है, जिसे अस्तित्व और मानव नियति की समस्याओं में कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस दृष्टि से यदि हम सार्थक एवं विशिष्ट कहानियों को ढोंकें, तो निराशा नहीं होगी। बर्मीर मारती की 'यह मेरे लिए नहीं' में क्यानायक के सामने यही संक्रास है और वह कभी घर से, कभी मां से और कभी मुहल्ले से भाग कर कहीं अपने को 'फिक्स' करना चाहता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी सोच निरन्तर जारी रखता है - कुछ विशिष्ट प्राप्त करने के लिए, संक्रास या वातंक से पीड़ित होकर वह निष्क्रिय नहीं हो जाता और न दायित्वहीन। यही समस्या अमरकान्त के 'जिन्दगी और जॉक' कहानी के नायक की भी है। वह कितनी ही स्थिति से गुजरता है और हर बार उसे ठोकर तथा निराशा ही मिलती है। किन्तु उसके जीवन की उदम्य लात्सा तथा अपने लिए समाधान ढोने की दिशा में कोई न्यूनता नहीं जाती। इसी संदर्भ में शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों' कहानी भी दृष्टव्य है, जिसमें वही संक्रास है, अपनी समस्याओं के प्रति वही दृढता है, लेकिन मानसिक रुग्णता नहीं है। वहां अपनी परिस्थितियों की विषमताओं से सदैव सीधा साक्षात्कार करने की प्रयत्नशीलता है। सुरेश सिन्हा की 'कई कुहरे', ज्ञानरंजन की 'पिता', संतोष 'संतोष' की 'समझौता', सुधा अरोड़ा की 'एक मरी हुई शाम' आदि इसी दृष्टि से उल्लेखनीय कहानियां हैं। इनमें विसंगतियों को समझने तथा संक्रास को चीरने और ऊपर उठने का प्रयत्न लक्षित होता है। ये अस्तित्व की गहनतम यातना को तटस्थता के साथ प्रस्तुत करता है और हमारे लिए अपरिचित नहीं प्रतीत होतीं। इन कहानियों की बड़ी विशेषता यह है कि ये मानव परिणति के तटस्थ ढंग से अभिव्यक्त करने में सफल हैं। ये मृत्यु बोध नहीं, सक्षमता की अनुभूति उत्पन्न करती हैं, साथ ही स्थिति को स्वीकारने की समर्थता तथा एक कठोर वैचारिक दृष्टि से यातना, मृत्यु, अन्तर्विरोध और प्रत्यावहता को देख सकने की यथार्थता।

इन कहानियों को देखकर एक आश्वासन तो मिलता है कि समय में जाकर ही उसकी परिधि को पार किया जा सकता है, पलायन करके नहीं। अपने ऊपर कृत्रिमता का लबादा हम जितना ही लादते जायेंगे, हमारी असमर्थता उतनी ही बढ़ती जायेगी। ओड़ी हुई मानसिकता एक प्रकार से हमें यथार्थ से काट देती है और हमारी सारी रचना प्रक्रिया कृत्रिमता-बोध का प्रतीक बन जाती है। मानव-नियति की परिणति और उसकी भयंकर प्रवचना में सांस लेते हुए व्यक्तियों के सुख-दुःख को हम तटस्थ हो कर ही चित्रित कर सकते हैं और वही एकमात्र विकल्प भी है। यह तटस्थता सत्य की रक्षा करती है और प्रामाणिकता को विश्वसनीय बनाती है। किसी के कह देने या चित्रित कर देने भर से ही कोई मृत्यु-बोध या संक्रास स्वीकृति नहीं प्राप्त कर लेता। तटस्थ होकर रखा गया कथ्य ही प्रामाणिकता का निरन्तरता को फैल पाता है। हम नियति, संक्रास, हारर, अभिशाप, भयावहता, बदहवासी, मय, मृत्यु, अस्तित्व आदि शब्दों के प्रयोग से चाहें, जो मायाजाल बुन लें, वह हमारी यथार्थ जिन्दगी का दस्तावेज़ कभी नहीं बन सकता।

● यथार्थ केतना के विभिन्न आयाम

जब अगली बीज जाती है मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने-समझने की आवश्यकता की कहानी की चेष्टा, जिसे हम आधुनिक यथार्थ केतना भी कह सकते हैं। कहा जाता है कि साहित्यकार जितनी समग्रता के साथ अपने यथार्थ अनुभव को एक जीवित मूल रूप देने में समर्थ होगा, अपनी संवेदनाओं को एक मानवाय विम्व के रूप में संजीव, संप्राण बनाने में समर्थ होगा, उसी सीमा तक उसके साहित्य में वह गहराई जा पायेगी, जो मर्म को छू लेती है, अभिभूत ही कर लेती है। यही गहराई साहित्य को जाणजीवी होने से बचाती है। वस्तुतः रोमांस और यथार्थ एक ही कोण की दो मुबारं हैं। रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रहस्य है, यथार्थ उसी की बुद्धिमत् परिकल्पना है। यह यथार्थ जीवन, जगत एवं समूचे सामाजिक परिवेश से भी अभिन्न रूप से सम्बन्धित है।

यथार्थ समकालीन संवेदना से जुड़ा हुआ होता है, वह किन्हीं पूर्व निर्धारित अपरिवर्तनीय मान्यताओं का प्रतिफल नहीं। जीवन स्वयं यथार्थ है - आंतरिक और बाह्य दो

रूपों में वह अभिव्यक्ति पाता है, इसलिए जीवन के यथार्थ को सीमा भी आंतरिक और बाह्य दो रूपों में उपलब्धियों द्वारा ही मर्यादित होता है । प्रत्येक उपलब्धि जीवन को प्रभावित करती है, जिसे यथार्थ के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहता है । उपलब्धि का वाधार है अन्वेषण, जिसकी प्रक्रिया कठिन है । उसमें कलाकार को एक प्रकार से अग्नि-शिखाओं में से गुजरना पड़ता है, जिसके लिए वह एक निश्चित माध्यम है । इसी वह की सहायता से कलाकार आंतरिक यथार्थ तक पहुंचता है अर्थात् जीवन की अनुभूतियों एवं भावनाओं से साक्षात्कार करना । जीवन के प्रति वास्थावान होना सबसे बड़ा यथार्थ है ।

आधुनिक यथार्थ चेतना इस बात पर कत देती है कि अध्यात्म की अपेक्षा आत्मनिश्चय और आत्मकल का महत्व अधिक है । अज्ञ के जीवन के समा कोई भी दर्शन या चिन्तन केवल ईश्वरीय या देवी अनुमति पर नहीं टिक सकता क्योंकि यह जीवनेतर सत्य है, जो यथार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता । अतः आधुनिक यथार्थ बोध का सीधा सम्बन्ध समसामयिकता से जुड़ जाता है । सम्भावनाओं के प्रति स्पष्ट दृष्टि सम-सामयिकता के संदर्भ में ही विकसित होती है । समसामयिकता जिस वर्तमान से गुजरती है और जिस सन्दर्भ को प्रस्तुत करती है उसमें दाण-प्रतिदाण यथार्थ का बागृह प्रकट होता है । उसका प्रयत्न होता है कि मनुष्य को उसके उचित संदर्भ और उसकी उचित पृष्ठभूमि में उसकी अनुमति को अधिक निकट से देखने और समझने का अवसर प्राप्त हो सके । मानवीय सम्बेदना इसी के साथ सम्बद्ध होती है ।

यथार्थ के स्वरूप का प्रश्न परिवेश से जुड़ा रहता है और कहानियां परिवेश से असम्पृक्त नहीं हो सकतीं । किसी भी युग में कहानियां अपने परिवेश से या तो द्वन्द्व रूप में स्थित होती हैं या सामंजस्य के रूप में । वस्तुतः किसी भी काल के साहित्य का मर्म उसके सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य में निहित होता है । किसी कहानी में अभिव्यक्त संसार क ही उसका मूल्य है, किन्तु उस मूल्य की प्रासंगिकता इस पर निर्भर करता है कि उसका संसार कितना यथार्थ है या यथार्थ के सम्बन्ध में हमारी समझ को कितना गहन और समृद्ध करता है । अतः परिवेश का समाज से अनन्य सम्बन्ध है और सामाजिक चेतना के स्तर पर आज का यथार्थ उस बरातल को विकसित करता है, जहां सामाजिक सत्य और उपलब्धियां बाह्य-प्रेरित न होकर आत्मप्रेरित होती हैं । यथार्थ के प्रति

प्रतिबद्ध कहानीकार को समस्त परिवेश पर सजग-संकेत दृष्टि रखनी पड़ती है, किन्तु यथार्थ के नाम पर केवल वर्तमान परिवेश का साहित्यगत चित्रण वांछनीय नहीं है। कहानीकार की संवेदनशीलता देशकालातीत हो सकती है। वह व्यक्तीत के यथार्थ से भी सम्पृक्त हो सकता है और जागत का सम्भावनावर्णन से भी।

लेकिन इसके साथ ही यथार्थ बोध की सीमाओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जिसे ठीक से समझ न पाने के कारण जाज की कहानी की इतनी दुर्गति हो रही है। यथार्थ बोध दैनिक घटनाओं का विवरण मात्र देना नहीं है। अनुभव की कमी लेखक को केवल असमर्थ बनाती है पर यथार्थ का बौद्धिककरण उसे वाततायी होने का अतिरिक्त सामर्थ्य दे देता है। स्थिर व्यवस्था के प्रति दारुण, अजनबीपन, अकेलेपन का संत्रास, मृत्यु का वार्तक तथा मय की अनुभूति एवं आनन्द भाव का विरोध करना ही यथार्थ बोध समझना बौद्धिक दिवालिस्मन का प्रतीक है। ये सीमारं लेखक के भावबोध और विषय चयन से सम्बद्ध होकर उसे अर्थहीन बना देती हैं। वास्तव में कहानी में जीवन यथार्थ केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है या विचार बनकर। एक श्रेष्ठ कहानीकार यदि असह्यारी यथार्थ की उपेक्षा नहीं करता, तो उससे विवर्जित भी नहीं होता। वह वर्तमान के यथार्थ की अतीत और भविष्य के लम्बे-बौढ़े परिप्रेक्ष्य में देखने का अव्यस्त होता है, फलतः उसकी प्रतिक्रिया एक ऊँचे अर्थ में सन्तुलित रहती है।

जाज मोगे हुए यथार्थ का जो नारा कहानी में दिया जाता है, वह वास्तव में जीवन की कुरुप्ताओं एवं विकृतियों मात्र को चित्रित करने का एक सतही बहाना भर है। सौज की दृष्टि - जीवन जीने की, उसके अर्थ तलाश करने की दृष्टि है और वह कदाई 'मोगने' की विरोधी नहीं है। मोगे हुए से उठ जाने, तटस्थ हो जाने की दृष्टि अवश्य है। कदाचित् जलन और जाने के व्यक्ति का दृष्टि से व्यक्ति और परिवेश को साथ देखने की भी दृष्टि है। अनुभूति का सीधा सम्बन्ध यथार्थ से है और यथार्थ है - समय और परिवेश - व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश। कहानीकार इनसे एक से भी असम्पृक्त नहीं हो सकता क्योंकि एक से असम्पृक्त होने का अभिप्राय पूरे से कटना है। वस्तुतः यथार्थबोध इतिहासबोध का अंग है। जो लोग इसे ठीक से नहीं समझ पाते, वे यातना, संत्रास, घुटन, अनास्था, मृत्यु, मय और पराजय जैसे शब्दों को ही

यथार्थ समझ लेते हैं। उनका यही शब्द मोह उन्हें अपने समय के यथार्थ से उन्हें असम्पृक्त कर देता है। यथार्थ हृद् की लम्बी परम्परा को देन होता है और उसे तमाम आवरणों के नीचे सौजना पड़ता है।

शिवप्रसाद सिंह की 'हन्कार', निमल वर्मा की 'लन्दन की एक रात', मोहन राकेश का 'फटा जूता', कमलेश्वर का 'पानी की तस्वीर', नरेश मेहता की 'एक शीर्षक हीन स्थिति', राजेन्द्र यादव की 'लंब टास्म', जेठर जोशी की 'अप्रतीक्षित', अमरकान्त की 'डिप्टी क्लवटरा', रामकुमार की 'यात्रा', रामाय राघव की 'गदल', सुरेश सिन्हा की 'एक अपरिचित दायरा', माकण्डेय की 'दूध और दवा', मन्मू मण्डारी की 'नई नौकरी', भीष्म साहनी की 'सिफारिशी बिट्ठी', जगनरंजन की 'सीमारं' तथा संतोष 'संतोष' की 'छोटा माकरं' आदि कहानियाँ हम यथार्थ की इसी जेतना से सम्बद्ध करके देख सकते हैं। इनमें कार्य-कारण-क्रम का विश्लेषण करके ही यथार्थ को सही ढंग से पहचानने का प्रयत्न किया गया है। इन सभी कहानियों का यथार्थ इतिहास-जन्य परिस्थितियों की देन है। यद्यपि उनमें वाकस्मिकता का घटनात्मकता का भी कहीं-कहीं आंशिक योगदान है, पर वह अनिवार्य रूप से अप्रत्याशित की देन नहीं है। इनमें यथार्थ परिस्थितियों के हृद् से ही उत्पन्न होता है, जिसकी कार्य-कारण परम्परा है, जिसे इतिहास की पीठिका में विश्लेषित किया जा सकता है।

● अनुमति की प्रामाणिकता

इसके साथ ही प्रामाणिक अनुमति की चर्चा भी जुड़ी हुई है। प्रायः कहा जाता है कि कोई कहानी प्रामाणिक अनुमतियों का दस्तावेज है अर्थात् हर कहानी का सम्बन्ध लेखक की अन्तर्जीत से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब तक किसी कहानीकार में अन्तःप्रेरणा नहीं जागती, वह सजीव कहानी नहीं प्रस्तुत कर पाता। उसकी सृजन प्रक्रिया का मूल अन्तःप्रेरणा है। यह अन्तःप्रेरणा ही वास्तव में अनुमति है। यद्यपि 'एसी रचनाएं हैं, जिनमें बिना तीव्र अनुमति के जीवन को कुत्सित यथार्थ का

चित्रण करने के प्रयास दृष्टिगत होते हैं। ऐसी रचनाओं का मूल्य एक साधारण समाचार पत्र से अधिक नहीं है।^१ वास्तव में रचना के लिए दो चीजें बाहिर : एक तो कलात्मक अनुभूति या संवेदना, दूसरे उसके प्रति तटस्थ मात्र जो उसे सम्प्रेष्य बना सके। और यह एक के पूरा हो जाने के बाद दूसरी होती हो, ऐसा भी नहीं है, संवेदनशील कलाकार निरन्तर अपना अनुभूति से अपने को अलग करता चलता है, तभी तो वह देख पाता है कि वह अनुभूति देय है या नहीं। इसी प्रकार तो वह दृष्टा है।^२ अतः अभिव्यक्ति का महत्व अनुभूति से अधिक नहीं है क्योंकि कलात्मक अभिव्यक्ति के बिना भी अनुभूति अपनी अर्थवत्ता बनाए रखती है, जबकि अनुभूतिहीन कला महत्वशून्य है।

कहा जाता है कि अनुभूति कुछ और नहीं आत्मानुभूति है किन्तु आत्मानुभूति का अभिप्राय कोरी निजी अनुभूति नहीं है। अनुभूति के साथ विवेक जुड़ा हुआ होता है, जो ज्ञान के यथार्थ और आत्मोपलब्धि की सीमाओं का साक्षात्कार करा देती है। जो लोग केवल कल्पना को यथार्थ का रंग अपने 'कौशल' से देने की चेष्टा करते हैं, वे भूल करते हैं क्योंकि कल्पना से पाँदे जब तक अनुभव की शक्ति नहीं रखती, तब तक वह अर्थहीन है। अतः अनुभूति के साथ विवेक होना आवश्यक है क्योंकि कला या साहित्य की सीमा रेखा उदित ही वहाँ होती है, जहाँ किसी वस्तुस्थिति का साक्षात्कार करते समय यह ज्ञान शेष रहता है कि हम साक्षात्कार कर रहे हैं। अनुभूति में एक परिध्यात्मक संवेदना का साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही अपने अस्तित्व का स्वचेतन बोध भी।

प्रायः प्रत्येक युग में अनुभूति का स्वल्प देकाल सापेक्ष ही होता है। अतः वाज का कहानीकार जीवन-परिवेश के बदलने का हवाला देकर अनुभूति-परिवर्तन का तर्क उपस्थित करते हैं। नई कहानी पर वाज दुर्बोधता, जटिलता तथा अर्थ-क्लृप्तता का जो दोष लगाया जाता है, वह वस्तुतः अनुभूति के स्तर से ही सम्पृक्त है। इसके बचाव में कभी कह दिया जाता है कि अन्तर्बुद्धियों की जटिलता के कारण ही अनुभूति में जटिलता आ जाती है और कभी कहा जाता है कि अनुभूति की तथाकथित जटिलता

१. मोहन राकेश : परिवेश (१९६०), काशी, पृष्ठ १७८।

२. शैलेश : आत्मनेपद (१९६०), काशी, पृ० २४१।

का सम्बन्ध अन्तर्वर्षियों की संख्या से नहीं, बल्कि सन्दर्भ और सन्दर्भ से उत्पन्न होने वाले भावबोध की प्रकृति से है। आधुनिक भावबोध में मुख्य परिवर्तन यह है कि वह तिक्तता को वर्जित नहीं मानता, निराशा और अवसाद को भी स्थान देता है। एक घटना मात्र अपने तक ही सीमित नहीं रहती। उसमें कई अन्य घटनाओं का अन्तर और बाह्य साक्ष्य रहता है। इसीलिए एक अनुभूति का पृष्ठभूमि में अनेक छोटी-छोटी अनुभूतियां भी समविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार आज की अनुभूतियों को सन्दर्भ के साथ देखने का आग्रह है, उससे अलग हटकर नहीं।

जब अनुभूति सन्दर्भ से असम्बन्धित हो जाती है, तो प्रामाणिक नहीं रह पाती और उसकी सत्यता सन्देह हो जाती है। व्यक्तिगत होना ही अनुभव का प्रामाणिक होना नहीं है, परिवेश सापेक्ष होना प्रामाणिक है। परिवेश और व्यक्ति के सन्दर्भ को सही परिप्रेक्ष्य में फँड़ा जा सके तो 'हेत्युसिनेस' जैसा व्यक्तिगत अनुभव भी प्रामाणिक हो सकता है। अनुभव हम कहीं खरीदते नहीं या दूसरों से उधार नहीं लेते, वरन् दूसरों के मनोविज्ञान से अपना सहज एवं आत्मीय सम्बन्ध जोड़ कर ही पाते हैं। आज हम जिस सामाजिक अवस्था से गुजर रहे हैं, उसमें सबसे प्रमुख बात व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धों को नए परिवेश में समझने की, संशोधित करने की ही है। वास्तव में अनुभूति की प्रामाणिकता का युनून व्यक्तिगत अनुभूति के और सामूहिक वास्तविकता के समन्वय पर आधारित है। अनुभूति की शक्ति केवल तीव्रता में नहीं, वरन् स्थायित्व में भी होती है और स्थायित्व का आधार वस्तुतः व्यापक मानवीयता ही है।

अनुभवों की वस्तुतः कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। कोई बंद ड्राइंग-रूम में बैठकर पहाड़ों का चित्रण करता है और कोई पहाड़ों पर जाकर शहर की तंग-बंदबंद गलियों, उमसमयी धिनीनी जिन्दगी के बारे में लिखता है। बाइगुस्त इस हलाकों में या अकाल पड़े क्षेत्रों में गर बिना भी वहाँ के दुर्भाग्य के सम्बन्ध में कहानियां प्रकाशित की थीं। प्रश्न यह नहीं है कि लेखक युद्ध की सीमा पर गर या नहीं, क्यों से उनका परिवार नष्ट हुआ या नहीं, या राकेटों से उनका अंग-अंग

हुआ या नहीं। प्रश्न यह है कि जो अनुभव कहानियों में प्रस्तुत किए गए हैं, वे कहां तक सार्थक हैं, वास्तविक एवं विश्वसनीय हैं। अतः जब अनुभव की प्रामाणिकता की बात की जाती है, तो उसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि चूंकि एक लेखक का अनुभव बहुत व्यापक ही नहीं होता, इसलिए वायुनिक कहानी संक्षिप्त या संकीर्ण अनुभवों का कहानी है।

वस्तुतः एक लेखक के अनुभवों में दूसरों के अनुभव भी अनिवार्यतः सम्मिलित होते हैं। इसका अभिप्राय हमारे समय के सम्पूर्ण अनुभव की प्रामाणिकता है, जो एक बड़ी चीज़ है और प्रत्येक सवेत लेखक जिसका एक अंग होता है। दायित्व-बोध का निर्वाह करने वाला कोई लेखक अपना सारा जो अपने समय और उसके अनुभव से असम्बन्धित नहीं करता। वह मात्र अपनी वैयक्तिक वास्तविकता और अपने स्कांगी सत्य का ही वाहक नहीं होता। वास्तव में एक बड़ी चीज़ की उपलब्धि दूसरों के साथ सम्मिलित होकर ही होती है, वारों से कटकर नहीं। कहानीकार का कार्य समय, उसकी स्थितियों, वास्तविकताओं और पूरे परिवेश से कभी निरपेक्ष होना नहीं है। उसका व्यक्ति भी इन सबकी सापेक्षता में ही रह रहा है और वह सापेक्ष दृष्टि से ही सब कुछ देखता और अनुभव करता है। इसलिए अनुभव की प्रामाणिकता कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं है, वह समय सापेक्ष अनुभव की सच्चाई है। इसीलिए यह प्रामाणिकता केवल व्यक्ति लेखक की नितान्त वैयक्तिक और असम्बन्धित स्थिति नहीं है, बल्कि यह सम्बन्धित अनुभव की स्थिति है। इसीलिए यह मात्र लेखक का अपना अनुभव नहीं अनुभूति का अंग बन जाने पर ही सम्प्रेषित करता है। जब कहानी इस मूल संवेदना से कट जाती है, तो वह निजी हो जाती है।

वास्तव में प्रत्येक कहानी जब तक पाठक की उतनी नहीं बन पाती, जितनी लेखक की, तो सहजता एवं आत्मीयता का वह उद्देश नहीं उत्पन्न होता, जो किसी कहानी की सार्थकता के लिए अनिवार्य है। कहानीकार की यह तटस्थ एवं ईमानदार दृष्टि ही वाच्य व्यक्ति को अधिकाधिक आत्मीयता एवं संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती

है, जिसके कारण हम आज की कहानी के पात्रों को यथार्थ, विश्वसनीय और काम्प्रेहेंसिव पाते हैं। आज के कहानीकार का व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक एवं पारिवारिक परिवेश से न काटने का लक्ष्य ही उस सामाजिक यथार्थ की स्थापना करता है, जो आज की प्रत्येक कहानी में हमें यह भ्रम उत्पन्न करता होता है कि कहानी का व्यक्ति स्वयं कहानीकार ही है और कहानी का परिवेश उसके लेखक का अपना व्यक्तिगत है। स्वानुभूति का यह आस्वादन एवं विश्वास ही आज की कहानी के यथार्थ की सबसे बड़ी सफलता है।^१ अतः प्रामाणिकता की बात किसी एक लेखक की अपनी बात नहीं है, वह समूची संकेतना से सम्बद्ध है क्योंकि लेखक का यह कर्तव्य ही जाता है कि वह उन्हीं स्थितियों को उजागर करने का प्रयत्न करे, जो समाज के व्यापक परिवेश में उपयोगी सिद्ध हों और मर्यादा के नए प्रतिमान स्थापित करें।^२ आज जो सामाजिक विसंगतियाँ हैं, तत्ताव हैं तथा दूषित परिस्थितियाँ हैं, कोई भी श्रेष्ठ कहानीकार उनका मात्र दर्शक नहीं बन सकता। उसे इनका भोक्ता बनना ही होगा। प्रामाणिकता उसकी शक्ति है और वास्तविकता को कैल करने का मूलमन्त्र भी।

जैसा कि कहा गया है, युग परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से पहली बात यह समझ में आती है कि सम्भवतः अभी भी नए युग का पदार्पण नहीं हुआ है, किन्तु मानवता के इतिहास का एक नया युग हमारे द्वार खटखटा रहा है। यह कल प्रतीक्षा और तैयारियों का है - संक्रान्ति कात है। हर जगह, हर दिशा में लोग कुछ-न-कुछ नया सोजने की चिन्ता में हैं। पिछले ढाँचे, पिछले वादर्थ, पिछली शक्तियाँ आज संतोष नहीं दे पातीं। आविष्कार और अन्वेषण की प्यास, भाषा, इन्द्र, रूप-विधान की अन्तर्निहित अनजानी शक्तियों को सोज निकालने की कामना आज सभी में जाग उठी है, क्योंकि एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट जीवन-चेतना जन्म ले रही है, अभी बहुत-सी ऐसी गूढ़ और अर्थमयी बातें कहा जानी शेष हैं, जो अभी तक नहीं कही गयीं। इन अव्यक्त बातों को हम काल्पनिक घरातल पर

-
१. डा० सुरेश सिन्हा : नई कहानी की मूल संवेदना (१९६६), दिल्ली, पृष्ठ ४१।
 २. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६), इलाहाबाद, पृष्ठ १०६।

नहीं, वरन् प्रामाणिक अनुभवों के माध्यम से यथार्थ बरातल पर कर सकते हैं।
असकी उपेक्षा करके हम केवल रोमानी साहित्य ही रच सकते हैं, जीवन्त साहित्य
नहीं।

इस दृष्टि से जब हम आधुनिक कहानी पर दृष्टिपात करते हैं, तो तमाम दावों
और घोषणाओं के बावजूद विस्मयजनक अंधकार लक्षित होता है। 'मनुष्य को
उत्तमैयथार्थ परिवेश में प्रामाणिक ढंग से देखने वाले' ऐसे असंख्य कहानीकार आज
हैं, जो अंगुलियों पर रक्त लगाकर खड़ी हो जाने की मुद्रा में तन्मय हैं। मोहन
राकेश की 'स्क ठहरा हुआ बाकू', राजेन्द्र यादव की 'स्क कटी हुई कहानी',
उपेन्द्र नाथ अस्म की 'पतंग', नरेश मेहता की 'स्क समर्पित महिला', निर्मल वर्मा
की 'दहलीज', दुधनाथ सिंह की 'रीढ़', ज्ञान रंजन की 'सत्तायिका और बाकू
के फूल', जगदीश चतुर्वेदी की 'अधखिले गुलाब' तथा 'मुर्दा औरतों की फीत',
सुदर्शन चोपड़ा की 'किंब', या रमेश बघी, ममता कालिया, सुधा बरोड़ा, सुनीता,
गंगाप्रसाद विमल आदि की लिखी गई अधिकांश कहानियाँ बिन प्रामाणिक अनुभूतियों
को प्रस्तुत करती हैं और उनकी सार्थकता क्या है, यह तो शायद ये लेखक भी ठीक-
ठीक न बता सकें। प्रश्न उठाया जा सकता है कि इन सबकी कहानीकार क्यों माना
जाए ? सम्भव है (निश्चित भी !) कि समय का प्रवाह इनमें से अधिकांश लेखकों
को अपने साथ बहा ले जाए और उनके नाम के साथ कुछ भी शेष न रहे। आधुनिकता
की 'सत्यता' एवं अनुभूति की 'प्रामाणिकता' के नाम पर आज के अधिकांश कहानीकार
परिवेश से निरपेक्षा, अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं और अहं के दर्प से भरे वैयक्तिक
आवश्यकताओं और सुविधाओं की दृष्टि से ही 'कथ्य' का चुनाव करने में संलग्न
हैं, जिसका प्रमाण आज लिखी जाने वाली ढेर सारी कहानियाँ हैं।

इससे अलग हटकर दायित्वबोध का निर्वाह करने वाले भी कहानीकार हैं, जिनके
लिए अनुभूति की प्रामाणिकता मात्र वास्तविक या यथार्थ की सही-सही अभिव्यक्ति
ही नहीं, यथार्थ का सत्यपरक चुनाव भी है। कथ्य में यथार्थ को इसी सत्यपरक
चुनाव का दृष्टिकोण निहित है। किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि
प्रत्येक 'यथार्थ' कहानी का कथ्य बनने के उपयुक्त होता ही है। जो 'बैलिड' है,
वही कहानी का कथ्य बनने का अधिकारी है। 'बैलिड' का यह चुनाव ही इन

कहानीकारों की रचनाओं में अनुभव की प्रामाणिकता है। धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', रेणु की 'रसप्रिया', शिवप्रसाद सिंह की 'बिन्दा महाराज', जयरामन्त की 'दोपहर का मौज', मार्कण्डेय की 'धुन', मोहन राकेश की 'फटा जूता', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', कमलेश्वर की 'देवकी माँ', राजेन्द्र यादव की 'बिरादरी बाहर', सन्तोष 'सन्तोष' की 'जंग', सुरेश सिन्हा की 'हालत', ज्ञान रंजन की 'शब्द होते हुए' कहानियाँ इसी सत्य को प्रतिपादित करती हैं। वस्तुतः ये कहानियाँ मात्र यथार्थ अभिव्यक्ति का प्रयास नहीं हैं, या तत्सम्पन्न परिणतियों का यथातथ्य और मात्र अनुभूतिमूलक सम्प्रेषण भी नहीं हैं। 'वैतिह' (परिवेश और समय संगत) कथ्य को उसकी विविचिन्न इतिहास-धारा में से चुनकर अनुभव की सत्यता को अभिव्यक्ति देना ही इन कहानियों की प्रामाणिकता है।

ये कहानियाँ भविष्य के लिए एक प्रकार से संकेत माँ हैं। अनुभूति की प्रामाणिकता के नाम पर भविष्य में वे ही कहानियाँ रह जाएंगी, जिनके कथ्य को आज का कहानीकार परिवेश और समय की संगति को ध्यान में रखकर चुनेगा।

● प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व

आज की कहानी में बराबर यह माँग की जाती है कि कहानीकार की प्रतिबद्धता किसके प्रति हो? कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि किसी-न-किसी चीज़ के प्रति लेखक का प्रतिबद्ध होना अनिवार्य है, मते ही वह वांछनीय हो या अवांछनीय। प्रायः प्रतिबद्धता के आधार पर ही 'बुरा' व 'लेखक' और 'नव लेखन' का भी निर्णय कर लिया जाता है। कहा गया है कि भारत के अतीतकालीन लेखक धर्म के प्रति प्रतिबद्ध थे। परम्परा से पोषित लोकशास्त्र से अनुमोदित मूल्यों के प्रति ही उनकी प्रतिबद्धता थी। जो लेखक मार्क्सवाद के प्रतिबद्ध थे, उनकी सीमाएं अधिक संकीर्ण मानी गईं, क्योंकि मूल्यों की अपेक्षा पांटी एवं अनुशासन उनपर अधिक हावी था और एक स्वतन्त्र चेतना की सक्रियता असम्भाव्य स्थिति बन गई।

धारणा है कि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तथा ईमानदार रह सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अर्थात् आन्तरिक संवेदन से अपने दायित्व को जांच करे। इस स्थिति में स्पष्टतः दायित्व उसकी सर्वनात्मक प्रक्रिया का अंग बन जाता। आत्मोपलब्धि के बिना प्रक्रिया का अंग कुछ नहीं बन सकता, ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समस्त सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि के रूप में ग्रहण करे।

लेखक की ईमानदारी के प्रश्न को केवल उस लेखक की निजगत भावाभिव्यक्ति की निजगत सत्यता ही में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। वास्तव में वस्तुपरक सत्यपरायणता की संवेदनात्मक प्रवृत्तियाँ और उन्मुखताएँ ही ईमानदारी से सम्बद्ध होनी चाहिए^१। आत्मपरक ईमानदारी तथा वस्तुपरक सत्य परायणता, इन दोनों का अन्तःकरण में जो संवेदनात्मक योग होता है - वही जीवन विवेक का प्राण है। इस प्रकार प्रतिबद्धता आधुनिक युग के व्यक्ति की गहरी प्रवृत्ति है, उसका मूल विश्वास है तथा अस्तित्व के बोध को अनिवार्य स्पर्श है। व्यक्तिनिष्ठ रचनाओं में भी लेखक अधिक-से-अधिक अपने व्यक्ति को मिटाने का प्रयत्न करता है। इसके बाद जो अवशिष्ट रहता है, वही प्रतिबद्धता है।

इस प्रकार आत्मानुमति और सामाजिक दायित्व का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। युग निरपेक्ष साहित्य आत्मोपलब्धि का साहित्य होता है, पर अनिवार्यतः वह आत्मोपलब्धि सामाजिक सन्दर्भों से असम्पृक्त नहीं होती अन्यथा वह साहित्य निजावि हो जाएगा। कोई भी श्रेष्ठ कहानीकार अपने युग के सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक धेतना के रूप में ग्रहण करता है और अपनी कहानी को युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का वाहक बनाता है। कहानीकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के लिए उसकी आन्तरिक संवेदना अनिवार्य है, जिसके माध्यम से वह मानव मूल्य और मर्यादा को प्रतिष्ठित करने में सफल हो जाता है। जब वह बौद्धिक स्तर पर वस्तुस्थिति के सत्य को ग्रहण करता है, तो प्रकारान्तर से वह अपने पात्रों को ही प्रकट करता है,

जीवन को उपलब्धि के रूप में प्राप्त नहीं कर पाता । एक कहानीकार की अपनी वैयक्तिक सीमा में समस्त समाज को वात्सल्य करने की प्रयत्नशीलता ही उसकी रचना प्रक्रिया का मूल धरातल होता है ।

अतः कहानीकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न उसके दायित्व से सम्पृक्त है । इसी संदर्भ में उसके व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य का प्रश्न भी जुड़ा है । जब यदि समष्टिगत भावना का महत्व है, तो व्यक्तिगत भावना की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती । इस प्रकार दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रिया के दो स्तर हैं और उनके साथ वैयक्तिक व्यक्त 'सामाजिक' शब्द लगाना बहुत तर्कसंगत व नहीं है । ये एक दूसरे के अविच्छिन्न मूल्य हैं । वस्तुतः व्यक्ति स्वातन्त्र्य से ज्यों किता व्यक्ति विशेष की स्वतन्त्रता न होकर एक दूसरे की स्वतन्त्रता की परस्पर पूर्ति है, जिसमें अनिवार्यतः सामाजिक दायित्व अन्तर्निहित रहता है । जब इसकी उपेक्षा की जाती है, तो जो स्तरा उपस्थित हो जाता है, वह सातवें दशक में लिखा गई अधिकांश नए-पुराने लेखकों की रचनाओं में देखा जा सकता है । एक तरफ यदि उपेक्षनाथ अश्व की 'पलंग' (१९६४) तथा यशपाल की 'संकटमोचन' (१९६६) कहानियाँ हैं, तो दूसरी ओर दूधनाथ सिंह की 'रक्तमात' (१९६६) तथा 'रीढ़' (१९६६) कहानियाँ हैं । इनके अतिरिक्त राजेन्द्र यादव की 'प्रीतिदा' (१९६४), कमलेश्वर का 'ऊपर उठता हुआ मकान' (१९६५), मोहन राकेश का 'एक ठहरा हुआ चाकू' (१९६६), निर्मल वर्मा की 'अन्तर' (१९६३) आदि कहानियाँ इसी दायित्वहीनता या विवेक-शून्यता का ही परिणाम हैं ।

वस्तुतः कहानीकार की प्रतिबद्धता उसकी अपनी ईमानदारी के प्रति होती है । ईमानदारी के दो रूप हैं - रागात्मकता और बोद्धिकता । उसी को वैयक्तिकता या व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा समष्टि केतना या यथार्थ दृष्टि कहा जा सकता है । कहानीकार की प्रतिबद्धता किसी पोथणा-पत्र की तरह नहीं हो सकती । उसकी रचना ही उसको 'कमिट' कराती है और 'वास्तव' में लेखक की प्रतिबद्धता जब तक जीवन और समाज से सम्बद्ध नहीं रहती और वह अपने व्यापक एवं महती दायित्व के निर्वहण की भावना से ओतप्रोत नहीं रहता, तब तक अच्छे स्तर की जीवनपरक

सर्वशक्ति की वांछ करना ही व्यर्थ होता है ।^१ प्रतिबद्धता की कई सीमारें हो सकती हैं - आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, आत्म परक, कुण्ठापरक, सेक्सजनित, आस्थाहीन आदि या इन सबका समन्वित विराट बोध का आभास देने वाली प्रतिबद्धता । पर सामाजिक दायित्व के निवाह से सम्बद्ध प्रतिबद्धता अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि आतिरेक कहानीकार समाज का जागरूक प्रहरी होता है और समाज की समस्याओं, पीड़ा-व्यथा, आस्था-निराशा और नर यथार्थ का स्वाभाविक चित्रण करना ही उसका सामाजिक दायित्व होता है । प्रतिबद्धता किसी भी तरह के आरोपण के अर्थ में नहीं, बल्कि अपने समय-संगत सत्य के प्रति । प्रतिबद्धता के अभाव में लेखक यथार्थ को नहीं, यथार्थ के अवांतर को प्रेषित करके शून्य पैदा करने लगता है । और तब लेखक की प्रतिबद्धता मिथ्या सिद्ध हो जाती है ।

● तथाकथित विद्रोही पीढ़ी और दृष्टिकोण में अन्तर

इस लम्बे विवेचन से कहानी की साम्प्रतिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है । कई बार यह कहा जाता है कि जब धीरे-धीरे कहानी 'फूँटी पड़ने' लगी है और जब कहानी को नाम पर केवल कूड़ा-कबरा ही लिखा जा रहा है । साप्ताहिक पत्र 'दिनमान' ने तो जनवरी १९६६ के विशेषांक में बाकायदा यह घोषणा ही कर दी कि १९६८ कहानी की मृत्यु तथा नयी कविता के पुनर्जन्म के लिए ही साहित्य में स्मरण रखा जाएगा । वस्तुतः यह सब एक भ्रान्त धारणा है । किस देश का साहित्य किस समय कूड़े कबरे से जड़ता रहता है ? हर युग में हर स्थान पर हमेशा लेखकों की एक बहुत बड़ी पीढ़ी हुवा करता है और जब आलोचक उन्हें 'एक्सपोज़' करने के बजाय अपने-अपने 'हिटों' से विवश होकर एक दूसरे को उड़ाते लगते हैं, तो समय स्वयं इस कूड़े-कबरे को साफ करने का दायित्व उठा लेता है । पिछले पाँच-छह वर्षों में देखें, तो हिन्दी कहानी के क्षेत्र में सातवें दशक के नाम पर कतनी बड़ी पीढ़ी

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६),
 है इलाहाबाद, पृष्ठ ११६ ।

दिखाई पड़ती थी कि लगता था, कहानी के क्षेत्र में कोई नयी क्रांति होने जा रही है, पर अब पांच सार्थक नाम भी कठिनाई से मिलते हैं। यही स्थिति दूठे दशक की भी रही। अब तो दूठे दशक के भी जाने कितने कहानीकार नेताओं के पांवों के नीचे की ज़मीन हिसकती दृष्टिगत होने लगी है।

सही तो यह है कि जय-पराजय, अकेलापन, उदासीनता, मृत्यु तथा संक्रास - जैसे मंतव्य ही हमारे अनेक कहानीकारों को सतत अन्वेषण से विमुक्त करते जा रहे हैं। मनुष्य इस तरह की स्कांगी धारणाओं और मंतव्यों से कितना बागे निकल कर जीवन को फेलने और अपने सही-सार्थक अस्तित्व की समस्याओं में संलग्न है, यह उन्हें पता ही नहीं। आज का मनुष्य असन्त संकट और अपनी संश्लिष्ट परिस्थितियों को और अभिमुख है। उसके अस्तित्व के लिए केवल अणुयुद्ध और मौत का ही सतरा नहीं है - यह मौत तो बड़ी बेकार और क्रूरता से मरा बर्द-प्राकृतिक या अप्राकृतिक मौत है। इससे भी बड़ा और दारुण मौत एक और है - वह है जादमी के अपने विचारों, जीवन-स्रोतों, स्वाधीनता, निर्गम शक्ति और जीवन-तंतुओं की मौत। मयावहता तो इस मौत की है। संक्रास और यातना भी इसी मौत के कारण हैं। पाप और पुण्य, सुख और दुःख, अच्छा और बुरा वादि बातें से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात आज है मानवीय जिंदाबिधा का।

जो लोग केवल फेज़न के लिए अकेलापन, अजनबीपन, मोगे गर यथार्थ, उदासीनता, कुण्ठा, मृत्यु, मय, संक्रास तथा आत्महत्या की बातें बड़े उत्साह से आज कहानी में कर रहे हैं, वे कदाचित् भूल जाते हैं कि समाजपरक कहानियों के अलावा शेष फेज़न अधिक स्थायी नहीं बन पाते। कहानी का सम्बन्ध मानव जीवन से है, समाज से है, फेज़न या वाधुनिक जागृनों से नहीं। मविष्य में वही कहानियाँ रह जाएंगी और स्मरण की जाएंगी, जो चाहे आत्मपरक हों अथवा समाज-परक, पर जो व्यक्ति के चित्रण से समाज को अथवा समाज के चित्रण से व्यक्ति को समझने में पाठकों को सहायता देंगी।

८ : सातवां अध्याय : सती बों पर टगे प्रश्न और साम्प्रतिक नई कहानी

- भारतीयता और संस्कृति की उपेक्षा
- सेक्सजनित दृष्टिकोण और नवीन नैतिक मूल्यों की आवश्यकता
- वादसिद्धांत मानदण्ड और दुराग्रह का उत्कर्ष
- मानवतावाद दृष्टिकोण और जीवन का सतही स्पर्श
- परम्परा का निषेध एवं आचरण की प्रष्ट मर्यादा
- आत्मान्वेषण जयवा आत्म संकेन्दुण
- बौद्धिकता का आग्रह और प्रसर युग बोध
- मध्ययुगीन मानसिकता जयवा प्राच्य का मोह
- नास्तिकता और टूटी हुई बेसाक्षियां

● भारतायता और संस्कृति की उपेक्षा

हमारा सांस्कृतिक संकट, संस्कृति का द्रास वस्तुतः आर्थिक संकट और राजनीतिक संकट की ही देन है। संकट के मय से लोगों में अस्थिरता की भावना आ गयी थी जिस कारण सांस्कृतिक मूल्य भी अस्थिर उठराये गये। अपनी संस्कृति पर हमें विश्वास नहीं रहा। आधुनिक सुख-सुविधा के साधनों की भांति ही विदेशी संस्कृति भी हमें अच्छी लगने लगी और उसकी चमक-दमक तथा चकाचौंध से अभिभूत होकर हमने उसे अपनी संस्कृति के साथ मिला लिया। टेलाविज़न, फ़्रिज, कार और मिनी स्कर्ट के साथ-साथ हमने ज़ूंग, फ़्रायड, काफ़्का, सार्त्र और कामू को भी अपना लिया।

भारतीय और पश्चिमी संस्कृति में टकराव स्वतन्त्रता के पहले से ही है। भारत योग पर विश्वास करता था और यूरोप भोग पर। भारत भी यूरोप की चकाचौंध से प्रभावित हुआ और उसने योग के साथ-साथ भोग को भी आवश्यक समझा। यथार्थवाद, अतियथार्थवाद अथवा दाण्ड-वाद जैसी प्रवृत्तियाँ उसी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण ही हमारे यहाँ आईं। भोग और योग को मिला कर हमारी संस्कृति पूर्व और पश्चिम को खिचड़ी हो बन गयी है।

मध्यकालीन अमराताय (यूरोपीय) तत्वों का विदेशी शासकों द्वारा आरोपित कहा जाना कुछ हद तक ठीक भी है, लेकिन आधुनिक युग में जिन अमराताय तत्वों को हमने आत्मसात् किया, उनके संदर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता। आधुनिक जीवन के भारतीय और यूरोपीय तत्वों का समवाय इतिहास का एक अनिवार्य विकल्प था जो अंग्रेज़ी की पराधीनता के अभाव में भी हमारे सामने आता। युत्सिंहितो का आपान इसका साक्ष्य है।

हमारी सभ्यता के विदेशी तत्वों में विदेशी तत्वों का तादात्म्य ही भावबोध की प्रक्रिया में अमरातीय तत्वों के समवाय का इतिहास रहा है। उसके अन्य साध्य हैं - साहित्य, कला और युग चिन्तन के नानाविध रूप और विभिन्न आयात। भारतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य की रचना तो ब्रिटिश भारत की ही देन है। कहा जाता है, आरम्भ में आरम्भ के अंतिम वर्षों तक भारतीय

साहित्य में कोई नया रचना नहीं थी। साहित्य ही क्यों जीवन के विविध क्षेत्रों में अमरातीय तत्वों का समवाय होने लगा और उन्हें आत्मसात् कर लेने में हमें तनिक भी असुविधा न हुई। और तो और, इस युग में हिन्दू धर्म का जो पुनर्जागरण हुआ, उसने भी अपने संगठन और प्रचार-प्रसार के लिये पाश्चात्य तौर-तरीके अपनाए। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने इस कार्य के निमित्त जिन मठों और मिशनरियों की स्थापना की, वे हिन्दुओं के प्राचीन मठों की अपेक्षा आधुनिक ईसाई मिशनरियों के संगठन और ढाँचे से उत्तमनीय साम्य रखते हैं।

ऐसे-ऐसे अमरातीय तत्वों के ताने-बाने से हमारी आधुनिक सम्यक्ता गुंधी हुई है कि आधुनिक मानव-बोध के संदर्भ में अमरातीयता जैसी आसंकावों-कुसंकावों का त्याग कर देने के सिवा हमारे सामने और कोई दूसरा विकल्प ही नहीं। नीरद चौधरी ने ही अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा है कि बंगला कविता पर कभी तो शेक्सपियर और मिल्टन का प्रभाव डाला रहा तो टेंगोर तक बाते-बाते होती, स्विनबर्ग और टेनीसन की मटकी हुईं प्रतिध्वनियाँ सुनने को मिलीं। और अब तो नव्यतम बंगला कविता में टेंगोर के भी काव्य-मूर्त्यों का स्पष्ट विघटन हमारे सामने है और नयी काव्य-चेतना के उजागर करने वाले कुछ नये नाम सामने थे - टी० एस० इलियट, स्वरा पाउंड और बाडेन इत्यादि।

बंगला साहित्य की यह बात क्या हिन्दी साहित्य के लिये भी शतप्रतिशत सत्य नहीं? क्यों हिन्दी की शीर्षस्थ पत्रिकाओं में सात्रों के आधुनिक संकट का शीर्ष व्याख्याता स्वीकार किया जाता है, अथवा दास्तावस्की को नवमुक्त मानव का मसीहा क्यों मान लिया गया? कामू और काफ़्का के नाम यहाँ बार बार दुहराये गये। उनके नवचिन्तन की नयी नयी व्याख्याएँ की गयीं। दिनकर के कवि ने डी० ए० लॉरेंस पर आधारित कविताएँ लिखीं और डा० जर्मेयर भारती जैसे कवि भी जर्मन कवि रिल्के की व्याख्यात्मक सम्येदनाओं से स्पंदित रहे।

और साहित्य ही क्यों, क्या हमारी कला भी ऐसे अमरातीय प्रभावों से मुक्त रही है? उसने भी क्या फ़ारस, रोम, चीन, जापान और फ़्रांस के घेरे नहीं किये? तिवी नाथों व किंबी और माइकेल स्विडे से लेकर पिकासो तक इन सबने भारतीय चित्रकार की तुलिका को जाने कितने रंग और रूप दिए।

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी रूसो, स्टुअर्ट, मिल और जोसेफ मेज़िनी की विचारधाराओं की अनुगूँज सुनी गयी। मेज़िनी और मेरिबाल्डी के पुनीत कार्य जवाहरलाल तथा सुभाष जैसे भारतीय नेताओं की प्रेरणा के स्रोत रहे। और इन सबके बाद यूरोपीय राजनीति के आकाश के धूमकेतु - कार्ल-मार्क्स के मानस-पुत्रों की भी क्या भारत में कमी रही? मार्क्स तो मार्क्स, यहां तक कि बुखारेव, कोसीजिनवादी कामरेड और चाउ-माऊवादी लोग भी भारत में एक कतार बांधकर खड़े हो गये।

सब तो यह है कि आधुनिक मानव-बोध बनाम भारतीयता जैसा कोई प्रश्न न हो कर समस्या होनी चाहिये थी - इंडो-यूरोपियन संस्कृति बनाम सस्तापन, हिंदीरा-पन। किन्तु यूरोप में कुछ अच्छाइयां भी थीं। स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीय और यूरोपीय तत्वों के समवाय की ही बात कही थी। उन्होंने एक स्थान पर संकेत किया था कि हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसका स्वरूप तो यूरोपीय हो और बर्म भारतीय।

भारत और यूरोप की यह मिली-जुली संस्कृति हमारे देश में वस्तुतः 'ब्रिजो दृष्टि' के कारण ही आयी। भारतीय बुद्धिजीवी जो भी यूरोप गये, वह भारत वापस समय 'भारतीय कसौटी' की पीढ़े होड़ जाये और साथ में 'ब्रिजो-दृष्टि' लेते जाये।

इस प्रकार हमारी संस्कृति का भी पश्चिमीकरण होता गया और भारत में मोंगवादी प्रवृत्ति, अतिथ्यार्थ का वाग्दह, वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि - बुद्धिवादी तटस्थता तथा मौलिकवादी दल्ले सभी कुछ यूरोप से ही आए। परम्परा का निषेध फैशन समझा जाने लगा और पश्चिमी नग्नता तथा मांसल आकर्षण सारे समाज में फैल गया।

● सेक्सजनित दृष्टिकोण और नवीन नैतिक मूल्यों की आवश्यकता

फ्रेडर के मनोविज्ञान तथा डार्विन के जीवविज्ञान से प्रभावित होकर सिंगमन फ्रायड ने मनोविज्ञान को वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर खड़ा किया। फ्रायड ने व्यक्ति तथा समाज की समस्याओं का मूल कारण काम-वासना की व्युत्पत्ति को माना। वस्तुतः मनोविज्ञान भी बाह्य दृश्य जगत् की ही चिन्तन का मूल तत्व मानता है।

लेकिन बाह्य दृश्य जगत् का अध्ययन न करके वह मन पर पड़ी हुई उसकी प्रतिच्छाया का अध्ययन करता है। इस अध्ययन का मूल केन्द्र है, जो वादिम सहज वृत्तियों का केन्द्र है। अतः मनोविज्ञान सभ्यता तथा संस्कृति के विकास, संस्कारों के परिष्कार तथा बुद्धि की अवहेतना करके वादिम संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत करता है। फ्रायड स्वयं स्वीकार करता था कि मनोविज्ञान केवल पिछली घटनाओं को समोक्षा कर सकता है, लेकिन भविष्य का अध्ययन नहीं कर सकता। यह मनोवैज्ञानिक चिन्तन पद्धति को सबसे बड़ी सीमा है। अवचेतन मन सहज वृत्तियों का आगार है। सहज वृत्तियों की संख्या शारीरिक आवश्यकताओं की मानसिक अभिव्यक्ति है। फ्रायड मुख्यतः दो प्रकार की सहज वृत्तियाँ मानता है। पहली जीवन-सम्बन्धी तथा दूसरी मृत्यु सम्बन्धी। फ्रायड ने मृत्यु सम्बन्धी सहज वृत्तियों को प्रमुखता दी है। उसकी दृष्टि में जीवन एकमात्र बाह्य जगत् की अज्ञान्ति पर आधारित है। विध्वंस तथा युद्ध, मृत्यु-सम्बन्धी सहज वृत्तियों के ही रूप हैं। अतः फ्रायड एवं मनोविज्ञान, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक प्रश्नों को भी सुलझाना चाहता है। लेकिन यह संदेहास्पद है कि उसका मरणोन्मुखी दर्शन तथा व्यक्तिवादी चिन्तन पद्धति वैज्ञानिक होते हुए भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को भी सुलझा सकने में समर्थ होगी या नहीं। हाँ, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ मानसिक बीमारियों के लिये यह विज्ञान सफल सिद्ध हुआ है। लेकिन उसे दर्शन का रूप देना तथा साहित्य एवं संस्कृति का आधार बनाना उपयुक्त नहीं। यदि इसे दर्शन तथा विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाए तो इसका प्रभाव केवल कुछ बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा। मध्यमगीये बुद्धिजीवी जो निराशा की स्थिति में था, फ्रायड के विचारों के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ। क्टर नेतिकतावादी दृष्टिकोण मध्यम वर्ग का स्वयं अपनी ही उपज थी। अब वह मनोविज्ञान का आश्रय ले कर स्वयं ही अपनी बनायी नैतिक मान्यताओं की पूर्ण उपेक्षा करने लगा। फ्रायडवादी विचारों के प्रसार के लिए यह उपयुक्त समय था। क्योंकि निराश एवं कुंठित मध्यम वर्ग क्टर नैतिक मान्यताओं के बंधन से मुक्त होने के लिए हटपटा रहा था। निराशावादी होने के कारण वह बाह्य परिस्थितियों में बराबर की स्थिति का अनुभव कर रहा था। फ्रायड ने अवचेतन मन में सहज वृत्तियों की बराबरता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। मध्यमवर्ग को इस सिद्धान्त में अपनी परिस्थितियों का साम्य दिखाई पड़ा। निराशा के कारण

मध्यवर्ग यों भी वन्तमूर्खी हो गया था । अतः अपने अवचेतन मन में बराबर स्थिति का तीव्र अनुभव करने लगा । मध्यम वर्ग की परिस्थितियों से फ्रायड-दर्शन का गहरा साम्य बैठ गया । यही कारण है कि मध्यमवर्गीय विन्तकों ने ही इस दर्शन का सबसे अधिक स्वागत किया ।

इस दर्शन ने न केवल मध्यवर्गीय जीवन-दृष्टिकोण को प्रभावित किया, बल्कि साहित्य एवं संस्कृति पर भी उसकी प्रतिच्छाया पड़ी । अतः न केवल सेक्स सम्बन्धी मान्यताओं का प्रचार हुआ, बल्कि अपनी भैतिक, सांस्कृतिक विरासत की भी उपेक्षा होने लगी । फ्रायड के पश्चात् जुंग, एडलर तथा मेकडूगल आदि मनोवेज्ञानिकों ने इस दर्शन एवं विज्ञान का और अधिक विकास किया । फिर बाद में फ्रोम, सलीवन, काडीनर, मार्गरेट मीड, स्थेनेडिकट आदि मनोवेज्ञानिकों ने भी जीवन के विविध क्षेत्रों में फ्रायडवाद दर्शन को लेकर नये नये प्रयोग किये और नयी पारमात्माएं दीं । फ्रायड के अनुसार दमित इच्छाएं ही स्वप्न में जाती थीं अतः लोगों ने इच्छाओं का दमन छोड़ दिया । इच्छाओं की पूर्ति को सुती कूट दे दी गयी । इससे समाज में हिंसात्मक प्रवृत्ति फैल गयी और साथ ही सेक्स तथा मांसल आकर्षण जैसी अनेतिक्रारं भी ।

फ्रायड ने स्वयं अपने सिद्धान्तों को परा-मनोविज्ञान (मेटा-साइकोलाजी) कहा है और वह उनकी अज्ञानिकता तथा काल्पनिकता के प्रति अपने मक्तों की अपेक्षा काफी सचेत भी था । और यहाँ तक बाहरी दुनिया के साथ सम्बन्ध का सवाल था, फ्रायड ने मनुष्य को, उसके लाखों वर्षों के विकास को फुठला कर, फिर उसी आदिम जीव-दृष्टीय प्राणियों के स्तर पर ला बैठाया था ।

● आदर्शवादी मानदण्ड और दुराग्रह का उत्कर्ष

हम पूरी तरह से न तो रुढ़िवादी ही रह गए हैं और न पूरी तरह से आधुनिक ही

१. फ्रायड : क्यांड द सेलर प्रिंसिपिल, पृ० ३७

२. हेरी के० वेल्स : सिगमंड फ्रायड, पृ० ४८

बन पार हैं। रुढ़िवादिता और वाधुनिकता - इन दोनों के बीच भारतीय समाज की स्थिति बिलकुल अपर में लटके 'त्रिशंकु' जैसी हो गई है।

अंग्रेजी शासन के कारण काफी सीमा तक हमारा पश्चिमीकरण हो चुका है। भारतीय समाज और संस्कृति में बहुत से बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए हैं। अंग्रेज अपने साथ नई औद्योगिक संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य लेकर आए थे। उन्होंने भूमि का सर्वेक्षण करके राजस्व निर्धारित किया। वाधुनिक शासन तन्त्र, सेना और पुलिस की स्थापना की, वदालतें स्थापित करके कानून की संहिताएँ बनायीं, संचार साधनों का विकास किया। स्कूलों और कालेजों की स्थापना की और इन सबके द्वारा वाधुनिक भारत की नींव डाली। पश्चिमीकरण में कुछ मूल्यगत अधिमान्यताएँ भी निहित थीं। एक सबसे महत्वपूर्ण मूल्य है, जिसे मोटे तौर पर मानवतावाद कहा जा सकता है। इसमें कई अन्य मूल्य सम्मिलित हैं। मानवतावाद में समानतावाद और लोकिकीकरण दोनों ही निहित हैं।

लेद की बात तो यह है कि मानवतावाद के नाम पर हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने सभी परम्परागत आदर्शवादी मानदण्डों की हत्या कर डाली और दुराग्रह का उत्कर्ष इतना अधिक हुआ कि प्रत्येक क्लृप्तिकार सार्व, कामू या काफ़ू का की शब्दावली में बात करना ही कला की सार्थकता समझने लगा। वाधुनिकता के नाम पर पुराने नैतिक प्रतिमान तो समाप्त कर दी दिए गए, आश्चर्य तो यह है कि मानव-मूल्यों के नाम पर मनुष्य को भी पंशु और विकलांग बनाकर उसे सेक्स, शराब तथा लड़की की सीमाओं में जकड़ दिया गया। हमारे कलाकारों के लिए मानवीय मूल्य मर्यादा तथा कला की सार्थकता वहीं तक सीमित हो गई और नई कहानी इस धुंधलके में कहीं भटक गई।

जो लेखक यह समझते हैं कि आज आदर्शवादी मानदण्डों को अपनाना गैर-वाधुनिकता है और परम्परागत साहित्य लिखना है, वे यह मूल बातें हैं कि साहित्य का सर्व-प्रथम प्रमुख उद्देश्य मानवीय मर्यादा की स्थापना करना है। आज के मर्यादहीन संकट में

१. एम० एन० श्रीनिवास : वाधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन (१९६७), दिल्ली, पृष्ठ ५६।

२. वही, पृ० ६१।

मनुष्य के सौर हर विश्वास को लौटाकर उसे वास्था एवं संकल्प का बल देना है। वाज कहानी के नाम पर जो ढेर सारा झपकर आ रहा है, वह साहित्य नहीं लेखन के रूप में दुराग्रह है। हर वाज के प्रति विद्रोह बुरा नहीं है, पर विद्रोह की भी एक सार्थक दिशा होनी चाहिए। यदि कतुर्दिक विद्रोह से मानव-मूल्य की नई मर्यादाएं स्थापित होती हैं, तो उसका स्वागत ही होना चाहिए। लेकिन विद्रोह से मनुष्य की आत्मा का हनन होता है और वह प्रबंधनाजों का शिकार बनता है, तो वह निन्दनीय है। दुर्भाग्य से हमारे वाज के अनेक प्रतिभासम्पन्न कहानीकार इन अवांछनीय तत्वों को ही लेखन की सार्थकता मान बैठे हैं, जो मात्र दुराग्रह है। जो कहानियां सामने आ रही हैं, उनमें भारतीय समाज का थका-हारा व्यक्ति या पराक्षित होकर फिर से खड़े होने में प्रयत्नशील आंखत बादमी कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा है। वाज की कहानी की यह एक मयंकर विडम्बना है।

● मानवतावादी दृष्टिकोण और जीवन का सतही अर्थ

मनुष्य अकेला नहीं रहता। इसके दो कारण हैं। एक है - परिस्थिति, दूसरा है - वंशानुक्रमण। परिस्थिति के कठोर थपेड़ों का वह अकेले सामना नहीं कर सकता। कभी खाने को मिलता है, कभी नहीं। कभी मयंकर सर्दी है, कभी असहनीय गर्मी। जन्म के उत्पादन के लिए, रहन के लिए मकान या फर्नीचरी बनाने के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। परिस्थिति के अतिरिक्त वंशानुक्रमण की अनेक बातों के कारण भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। कोई जन्म से ही कमजोर है, कोई बलवान। कोई समर्थ है, कोई असमर्थ। असहाय व्यक्ति सदाय व्यक्तियों के सहारे अपनी जीवन रक्षा करता है। जब इन दोनों कारणों से मनुष्य अकेला नहीं रह पाता, तो वह समूह बनाता है। इस प्रकार समाज में रहते-रहते व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करने लगता है, जैसा कि समाज से जयवा साथ के दूसरे व्यक्तियों से वह सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति का व्यक्ति के साथ जयवा व्यक्ति का समूह के साथ जो समाज में रहकर सीखा हुआ व्यवहार है, उसी को संस्कृति कहा जाता है।

इस प्रकार संस्कृति एक ऐसी वस्तु है, जिसके मूल्य का निर्धारण हम नहीं कर सकते। संस्कृति का अपना मूल्य होता है। संस्कृति ही हमारे जीवन के सारे व्यवहार को

बनाती रहती है। संस्कृति के सम्बन्ध में हम यह नहीं सोचते कि वह स्वयं उत्पन्न है या अनुत्पन्न। अगर हम संस्कृति और सभ्यता को एक में मिलाकर देखने लगे हैं, जो प्रायः है। 'संस्कृति' वांछित है, सभ्यता बाह्य है। संस्कृति आत्मा है, सभ्यता देह है। सभ्यता एक शब्द में 'संस्कृति' की अभिव्यक्ति का साधन है। संस्कृति का अपने में स्वयं मूल्य है... सभ्यता उपयोगिता है या 'संस्कृति' के द्वारा उसका मूल्य है। रेडियो 'सभ्यता' का सूचक है और रेडियो से जो भाषण दिया जाता है वह हमारी संस्कृति का सूचक है। भाषण वांछित है और रेडियो बाह्य।^१

इस प्रकार सभ्यता एक प्रकार से 'भौतिक संस्कृति' है। भौतिक संस्कृति - जैसे रेल, तार, मकान, मोटर - यह सब साधन भौतिक संस्कृति में आ जाते हैं।

एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर भी प्रभाव पड़ता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जब दो संस्कृतियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आयें तो उनमें सहकारिता की प्रक्रिया ही प्रकट हो। सहकारिता के स्थान पर उनमें असहकारिता की प्रक्रिया भी प्रकट हो सकती है। 'सहकारिता की प्रक्रिया' में 'अनुकूलकरण' (Accommodation) तथा 'सात्पीकरण' (Assimilation) होते हैं, जैसे असहकारिता की प्रक्रिया में प्रतिस्पर्धा, विरोध तथा संघर्ष दिख सकता है। अमेरिका तथा रूस की जन-सत्तावादी तथा कम्युनिस्ट संस्कृतियों में वही तरह का संघर्ष चल रहा है। हमारा सांस्कृतिक रूप से ऐसा कोई विरोध किसी के साथ नहीं है, बल्कि हम तो सहकारिता की भावना से प्रेरित हैं और विदेशों की संस्कृति को अपनाये चले जा रहे हैं -- 'मैं पूर्व-पश्चिम की अजीबोगरीब सिन्धी बन गया हूँ, हर कहीं अजनबी हूँ, कहीं घर का नहीं हूँ। शायद मेरे विचार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्वीय के बजाय जिसे पश्चिमी कहा जाता है, उसके ज्यादा करीब हूँ। लेकिन अपने अन्य बच्चों की तरह ही यह हिन्दुस्तान भी मुझसे अनगिनत स्तरों में बिपका चुका है।'^२ इस प्रकार जब हमारे देश का जननायक ही अपने को दो संस्कृतियों की सिन्धी स्वीकार कर लेता

१. सत्यनुर सिद्धान्तालंकार : समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, पृष्ठ २३३।

२. जवाहरलाल नेहरू : उन बातोंबातोंग्राफी (१९३६), तन्मन, पृ० ५६७-५६८।

हैं तो औसतन साधारण भारतीय की जो बात ही छोड़ देनी चाहिए । भारत आज पूरा का पूरा पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने का प्रयत्न कर रहा है किन्तु न तो वह पाश्चात्य बन पाया है और न पूर्वाय ही रह गया है । उसकी संस्कृति मिली-जुली और एक तरह से भुष्ट ही हो गया है ।

यों तो एक बार कालिदास ने भी जावाब उठाया था^१ कि पुरातन ही सब कुछ साध नहीं, नया काव्य है इसलिए अवैध है यह भी ठीक नहीं । भले लोग परीक्षा करके ही दो में से एक चेतो चुनते हैं । पर मूर्ख प्राचीनता पर ही विश्वास रखता है । कालिदास की यह सूक्ति काव्य के नये और पुराने रूपों को लेकर है किन्तु पुरातन के प्रति जाया मोह और नवीन के विरुद्ध अनास्था रखने वालों की यह चेतावनी भी है ।

हम बिना सोचे समझे जब किसी आधुनिक संस्कृति को अपनाने का प्रयत्न करते हैं, तो ग़लती करते हैं । अतिसम्यक्ता के नाम पर यह नयी बर्बरता होती है जिसे हम आधुनिकता के चक्कर में पड़कर अपनाया चाहते हैं । यह संस्कृति नहीं 'असंस्कृति' अथवा 'विकृत संस्कृति' होती है । इस आंदोलन के नेता के मुंह से ही सुना जा सकता है - 'संस्कृति अनेतनता नहीं, रेण्टीचेतना है, हमें चुप कराने का साधन है ।'^२ यह अति-सम्यक्ता हर निषेध को अवज्ञा की दृष्टि से देखती है । और ऐसा बोधत्व-संस्कृति की कल्पना मानव जाति के लिये बहुत ही हानिकारक है ।

संस्कृति सामाजिक परिष्कृति का कोष है और सामाजिक रचना का सम्पूर्ण रूप, प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं का संकलित अवरोध मात्र । संस्कृति को मानवीय अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता । पर संस्कृति बदलती अवश्य है ।

मनुष्य की महत्वाकांक्षा सदा से ही सिद्धि के प्रति फुक्ती रही । वह सदैव से ही समष्टि में व्यष्टि को देखता रहा और इसलिए उसे आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता महसूस होती रही । उसने महसूस किया कि जो सिद्धियाँ हमारे लिये आवश्यक हैं वही

१. 'पुराण मित्येव न चापि काव्य नवमित्यवयम् ।

सन्तः परीक्षान्यतरम् भवन्ते मूढः परप्रत्ययेय बुद्धिः ।'

२. 'हा। हा। हेपरिंग' - वर्षाग, ३ दिसम्बर, ६७, पृ० १७ ।

दूसरों के लिये भी आवश्यक होंगी । इसी भावना के सुव्यवस्थित रूप ने कुछ प्रपंच और जिज्ञासा के उपशायक व्यामोह के मूल सूत्रों को स्कन्न करके वर्ग की साम्यभौमिकता से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए संस्कृति का स्थापना की । संस्कृति सामाजिक और आध्यात्मिक परिष्कृति के मूल बिन्दु पर मानव-मात्र से लोकहित का सम्बन्ध जोड़ने लगी । अतः संस्कृति ने ही मानव-जीवन को लोक-हित से बाँधने का कार्य प्रारम्भ किया था । किन्तु यह नहीं 'हा ! हा ! हेपनिंग ' वाली सम्यक्ता संस्कृति का विरोध करती है और हमें मानव हित और लोकहित से दूर हटा कर स्वार्थ के धेरे में कैद कर देती है ।

आज संस्कृति के साथ तुल्य मानमाना व्यवहार हो रहा है । कोई उसे यूरोप की धरोहर समझता है और उसकी परिणति साम्राज्यवाद के अमानुषिक तांडव में होती है, कोई इसे जर्मन की कोम की बपोती मानता है तो नृसंस्फासिज्म का उदय होता है जो मानवता के साथ अकल्पनीय अत्याचार करता है और जब संस्कृति को सर्वहारा का जन्मजात अधिकार मानने का आग्रह किया गया - तब मजदूर वर्ग के सब निर्वाचित पंक्तों ने संस्कृति के साथ मिल कर मानमाना दुर्व्यवहार किया । हमने यह सब भोगा है और फिर भी लोग संस्कृति को सण्डों में बाँट कर उसके नाम पर अधन्य, अपराधों की नयी योजनाएं बना रहे हैं । 'प्रजातंत्र' और 'साम्यवाद' की रक्षा के नाम पर इस धरती के सम्पूर्ण विनाश की तैयारियां कर रहे हैं ।

संस्कृति का पर्याय बस मनुष्य है । पार्श्वात्य संस्कृति कर्तव्य-व्युत्त हो गया है और मनुष्य की चेतना को मात्र मशीन मानती है, यानी यह मानवीय चेतना की हत्या का प्रयत्न कर षड्यन्त्र है जो हमें आज यूरोप की कमक दमक के आगे समझ में नहीं आ रहा है । हमारी संस्कृति का आचार बस मनुष्य है, उसमें कमक-दमक भले न हो, भले ही वह गांवों और कस्बों में पसी है लेकिन वह वास्था दे सकती है और मानवता के लोभ मस्तिष्क हैं के हित में विकास करने में समर्थ है ।

हमारे देश के लोग गरीब हैं और विदेश उनके लिये 'बादश' बना हुआ है । इस बादश के चक्कर में वह निश्चित ही अपना संतोष खोते जा रहे हैं । भारत अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति को भूलकर एक 'बास्टर्ड संस्कृति' के पीछे दौड़ रहा है और भारत समाजवादी देश है और एक समाजवादी देश की संस्कृति अपनी परिभाषा के अनुसार -

असंस्कृति की मान्यताओं से प्रेरित होती है जिसमें मुनाफे और व्यावसायिकता का वह दूषित सिंचाव नहीं होता, तो पश्चिमी देशों का कुर्बाना संस्कृति का अभिशाप है। अतः भारत जैसे समाजवादी देश में यूरोप जैसी बाजार और नंगी संस्कृति एक बहुत बड़ा विरोधाभास है। संस्कृति का यह फलन अर्थात् यह असंस्कृति बहुमुखी रूप से भारत के लिये हानिकारक है। देखो, यौनाचार जैसी पाश्चात्य प्रवृत्तियाँ उसकी ऊँचाई नष्ट करके इसे रसातल की ओर ही ले जाएंगी।

अनास्था और अश्लीलता एक प्रकार से अब हमारी संस्कृति बनती जा रही है। बुभुक्षित, दिगम्बर, मूखी और नंगी पीढ़ियों का उदय - अमरीका ही हुआ है (बीटल बान्दोलन)। असंस्कृति उचित-अनुचित हर बात की बाजादी बाधती है। 'हंगी जनरेशन' को हर बात की 'मूख' है और लिहाजा वह संतोष, सम्यता और श्लीलता सब कुछ पचा गयी है। फिर भी 'मूखी' है। इस प्रकार इस दुराचार की परिणति अश्लील प्रवृत्तियों, मृत्यु-संत्रास, आत्म हत्या की प्रवृत्ति तथा अस्तित्व संकट में ही होनी थी।

● परम्परा का निषेध एवं बाजारण की भ्रष्ट मर्यादा

परम्परा के निषेध की इतनी मर्यादक बांधी बली है कि प्राचीन परम्पराएं मले ही वह अच्छी भी थीं, समाप्त होती जा रही हैं। परम्परा के विरोध में बहुत कुछ सड़ा हो गया है - हंगी जनरेशन, बुभुक्षित पीढ़ी, बीटल बान्दोलन, दिगम्बर पीढ़ियाँ इत्यादि।

पूर्वजों और पश्चिम में जिसे नयी सम्यता कहा जाता है - उसमें बहुत कुछ पुराना भी चमका कर नया घोषित किया जा जाता है। स्टेन गिन्सबर्ग ने कलकत्ता में इस बात की चर्चा की थी कि 'बो बड़े बड़े बीट हैं, वे बाजकर बांटों के दुश्मन हैं'। मूखी पीढ़ियों के अनेक स्तंभ (शक्ति, संदीपन, सुनील) स्वयं को हात्कातर सम्प्रदाय से सम्बद्ध किए जाने पर स्तराज करते हैं। ऐसा क्यों होता है कि जिस प्रसन्नता और विद्रोह को लेकर एक पीढ़ी उठती है, वह कुछ समय के बाद इतनी पंगु हो जाती है कि अपने बाक़ोश को सावत्य नहीं दे पाती।

नयी सभ्यता (नवीनतम नहीं) को सामाजिक विकृति और संस्कारों का विघटन करने से भी बात नहीं बनती। उसका न अतीत है न भविष्य। क्योंकि नगरों की परिधि में जिस आभिजात्य का ढांचा अवमूल्यन का निरन्तर बोट से जबर कर दिया गया है, उसका वाज के स्नायविक तनाव और उसकी प्रतिक्रियाओं से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। एक तरह से कुलानता के समस्त संदर्भ नवीन सभ्यता के लिए अपना अर्थ खो चुके हैं, या खो रहे हैं। इतना ही नहीं, वर्तमान स्थिति में - पारस्परिक रूप से अज्ञात परिवेश में - मनुष्य की जो सामाजिकता सभ्यता कही जाती है, उसके लिये सभ्यता शब्द भी झोटे से हो गया है।

आयोनेस्को जिस 'अनविव्यक्त यथार्थ' (इन कम्युनिकेज रियलिटी) को समस्त विसंगतियों और ऊलझलताओं के साथ नंगा करना चाहता है, वह यथार्थ सभ्यता के सतही सिलसिले से कटा हुआ है। दूषित पीढ़ी जिस औपचारिकता के विरुद्ध मनुष्य के 'अस्तित्व की एक अजीब ज़ुबान' के लिए 'मैं' ही सब कुछ है, मैं वाकर उद्ग्रान्त हुई, उद्ग्रान्ति उन्माही और बीषड़ है। अगर जीवन से सम्बन्धित देह के प्रगाढ़ रिश्ते को साहित्य में अस्वीकार नहीं किया जाता तो जीवन में ही उसकी अकुलाहट और जबर मोह यंत्रणा से क्यों परहेज किया जाये ?

सामाजिक वाक्तीनों ने जिस सभ्यता को महानगर के बाँराह पर जाकर सड़ा किया है उसकी हड्डियों पर बिपके मांस को नोच-कर अज्ञात, धके-हारे 'बीटन-डाउन' बीटनिकों ने उसे मूले प्यासों की ओर झेकल दिया। कलकत्ते में जाकर सभ्यता के उसी कंकाल की रानों के बीच बिपके ल्यूको प्लास्ट को मलमल राज बाँधरी की टोली ने, स्लेन गिव्सबर्ग की प्रेरणा से उकेड़ना शुरू किया। 'हंग्रियलिज्म' का अवसान हो गया। 'प्रेमिका के प्लाउज से अपनी कविता की कापी की विलय बाँधर सुप्त होने की केशोर्य मावुक्ता ने अंत में यही पाया कि जीवित रहने का कोई अर्थ नहीं है' (संदीपन चट्टोपाध्याय) यही नई पीढ़ी की तथ्याकथित आधुनिकता है।

बीट चाहे वह ठण्डा हो या गरम 'किन्हे' चाहता है। उसकी नकारात्मक और अस्वीकारात्मक दृष्टि, अवज्ञा और कबाड़ियापन - 'डाउन विथ रविथिंग' उसे अकेला बनाते हैं। वह निठल्ले और मावुसिक रोगियों की मांति व्यवहार करता है। ये बीटनिक लोग - उन्माद के लिये मावुक द्रव्य का सहारा लेते हैं, नारी की देह

में 'सटोरी' पाते हैं या वित्तवृत्ति बेचारा करते हैं । या फिर जीवन को दिमाग के अन्येरे दीप का साथी समझकर 'स्वयाय' (ढोंगी) सम्यता के विरुद्ध रुक और ढोंग से व्यापक ढोंग को ठेका दिसाते हैं ।

यह मनःस्थिति कब्यों की हुई । दूषित पीढ़ी कोजिन्होंने अपना वादश बनाया, वे और भी दोहरा यंत्रणा के शिकार हुए । बहुत से वाद पार के असंस्कृति अब बस्थिर है । या शायद क्षम हो रही है । अमरीकी आलोचक और गण लेखक से ओल्सन से जब बीटनिकों के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो उसने कहा -- 'सभी बीट रोमैटिक हैं, अत्यन्त मंद रूप में रोमैटिक । क्योंकि वे अहम् में पागल हैं ।'

आखिर में हुआ यही कि नाराज और बीट जो समाज को 'शाक' देना चाहते थे आज खुद 'शाक' हो गये हैं । उनका आक्रोश ढोंग और व्यवसाय है । वह पश्चिम में ही पिट रहे हैं तो भारत में तो समाप्त हो गये हैं । इंग्लैण्ड को यद्यपि अभी बीटलों से भारी संस्था में विदेशी मुद्रा का ताम हो रहा है । सन् ६६ में ही बीटल्स के रेकार्डों से पचहत्तर करोड़ से ऊपर की आमदनी हुई । इस प्रकार यदि हम जान जायें कि बीटल्स क्रांतिकारी नहीं हैं, बल्कि केवल ऐसे कमाने वाले विदूषक हैं तो इन बीटनिकों के मुसोटे बेनकाब हो जायें ।

इस प्रकार दुनिया भर में वर्तमान का जैसे तबमर्दन किया जा रहा है । कला, राजनीति चिन्तन सब पर एक विचित्र प्रकार की सेंसर फैल रही है - एक ओर है ताल रजाक - (रेडगार्ड) - मरकर, कूर और हर प्रकार की मानवीय संवेदना एवं प्रतिक्रिया से कटे, पूर्ण निरंकुश, सपाट और उद्धत । दूसरी ओर हैं हिप्पी - विभक्त मनस्क और उल्टे । गलत संदर्भों में गांधी और बुद्ध को पुकारते अन्तर्मुखी यात्रा के कहाने 'मारि-जुवाना' और एच० टी० पी० के नज़े में यौन-स्वच्छंदता का आनंद लेते । इनकी अवसांस्कृतिक गतिविधियों से चोकन्ना होकर राज्य को दिनोदिन नये-नये मनो-विकित्सा-गृह खोलने पड़ेंगे ।

बाहे ताल रजाक हों बाहे हिप्पी - इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि दोनों बुरी

तरह सिम्न हैं और वाक्य विरुद्ध-रोग से ग्रस्त हैं जिनमें एक की प्रतिक्रिया आक्रामक है, दूसरे की विनयपूर्ण। लालरक्षाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि वादपी दीमक नहीं है। जो मरते वम तक रानी दीमक के जैसे कार्य करता चला जाए। जबकि पुष्प युद्ध का नारा लगाने वाला हिप्प्यो समुदाय यंत्रगुस्त व्यक्ति का अपना वैयक्तिक विशिष्टता को पुनर्मूर्त्यांकित करने का एक कमजोर प्रयत्न है जिसके पीछे बाज के जटिल तंत्र वाले युग में पिछले, अस्त होते व्यक्ति की क्षीण आवाज़ सुनायी देता है।

अपनत्व के स्थान पर ये लोग मन में परायेपन का भाव अधिक करते हैं। 'यह हाहाहूती दुनिया' है और यहां स्वार्थ तथा 'मारि जुआना' के सिवाय कुछ भी सुनायी नहीं देता।

इस प्रकार 'बीट जेनरेशन' अमरीकी तरुणों की अस्तीत कृति, नैतिक या मानसिक अवक्षतता और प्रांत जीवन-दृष्टि का एक साहित्यिक प्रतिफलन था। जिसकी प्रतिक्रिया भारतीय समाज पर भी बहुत अधिक हुई। यह लोग 'अविकसित आत्मा' के मनुष्य हैं क्योंकि उन्हें ऐसे काम बहुत रुचिकर हैं - मोटर गाड़ियों को लूब तेज़ चलाना, कामुक व्यापारों में लीन रहना, 'मारि जुआना' या 'पेयोटे' जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करना। 'यो' 'बीट' शब्द का अर्थ है - ताल। बेंडमास्टर के डंडे की चोट से व्यक्त होने वाला ध्वनि या संगीत का परिमाणित क्रम। बीट जेनरेशन के लिए 'मारि जुआना' या 'पेयोटे' जैसे मादक द्रव्य सेवन का उद्देश्य काव्य-त्मक प्रेरणा अथवा मानसिक ईंद्रजाल की प्राप्ति नहीं है। उसका स्मभाव उद्देश्य निठल्ले पड़े रहना और सामाजिक बंधी पाणों से बाह्यतः मस्तिष्क बोद्ध स्मृति के कठोर नियन्त्रण से मादक मुक्ति की प्राप्ति है - पलायन या कुटकारा है। मतलब यह कि 'बीट जेनरेशन' के सदस्य मूलतः 'जुआना रिबेल्स' हैं, जिन्हें 'न्यू बोहेमियस' भी कहा जा सकता है। इन्हें समय-समय पर कई नामों से पुकारा गया है -

१. स्तेन गिंसबर्ग : 'द लायन फार रियल' (कविता) माध्यम : जनवरी १९६६, पृष्ठ ७।

२. स्तेन गिंसबर्ग : 'बाह स्मोक मारि जुआना स्त्री चांस बाह फेट' : जनम माध्यम : जनवरी १९६६, पृष्ठ ७।

‘साइलेंट जेनरेशन’, ‘वेटिंग जेनरेशन’, ‘गो जेनरेशन’ इत्यादि कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इसके सदस्य अपने व्यक्तित्व का तल्लट पीते हैं और एक तरह से अस्तित्ववादी हैं। यद्यपि इनका अस्तित्ववाद सार्त्र से भिन्न और ‘कोकैगार्द’ के निकट है।

इस प्रकार यह एक नरेंडी संस्कृति थी जिसका असर हम पर भी हुआ। अमेरिका में स्ल० स्ल० डी० नामक एक मादक द्रव्य और चल्ता है जिसका कि ये नरेंडी सेवन करते हैं। गिब्सबर्ग की तो एक कविता का नाम ही - स्ल० स्ल० डी० पोयम है।

नकारात्मक प्रवृत्तियाँ, अस्तोच का भाव, अस्वीकार की प्रवृत्तियाँ, नये की चाहना और पुराने से ऊब - बीटनिक पीड़ी, मूखी पीड़ी, बुभुक्षित पीड़ी, एंग्री की बतायी हुई पीड़ी के बाद अब भारत में दिगम्बर पीड़ी पैदा हुई है। स्वरा पाउंड ने कहा था कि सामाजिक संसार कहीं नहीं है और एक महान्तम अनिश्चितता की बात बतायी थी। किन्तु दिगम्बर पीड़ी के घोषणापत्र से ज्ञात होता है कि जीवन में कोई अर्थ नहीं है। वादपी अतृप्ततृप्तपन की इस शून्यता में जी नहीं सकता।

इस प्रकार सम्यता अब ज़रूरत से ज्यादा सम्य होती जा रही है। और प्रसिद्ध इतिहासकार जर्नाल्ड ट्वायनबी ने कहा भी था कि सम्यता जब ज़रूरत से ज्यादा सम्य हो जाये तो कोई न कोई बर्बरता उसे जीत लेती है। इस मिली-जुली असंस्कृति को अब कौन ही सी बर्बर संस्कृति जीतेगी, यह तो भविष्य ही जाने।

● वात्मान्वेषण अथवा वात्मसंकेन्दुण

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज इस प्रकार एक ऐसी, नयी वाधुनिकता का स्वभाव अर्जित कर चुका है या कर रहा है जिसके अंदर वात्मसंघर्ष, प्रश्नाकुलता, त्रास, वात्मान्वेषण और वात्मसंकेन्दुण के भाव हैं। इस तरह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति

१. स्लेन गिब्सबर्ग : धर्मयुग : २५ जून, ६७, पृ० २१

२. दिगम्बर पीड़ी का घोषणापत्र : धर्मयुग १ जनवरी १९६७, पृ० १८

३. ‘हा। हा। हेपनिंग’, अतिसम्यता के समक्ष नयी बर्बरता: धर्मयुग.३ दिसंबर ६७.

पेदा हो गयी है । अपने को ही सोचते अथवा अपने ही स्व-मिर्द चक्कर काटते व्यक्ति व्यापक समाज से कटते जा रहे हैं और समाज टूटकर 'अपने-अपने' में बंटता जा रहा है ।

व्यक्ति आज अपने ही प्रति अधिक संकेतन है । अपने प्रति संकेतन होने का अर्थ है दूसरे पदार्थों से अपने को अलग कर लेना । चाहे वह साधारण व्यक्ति हो अथवा कहानीकार सभी आज कल अपने में ही सिमटे हुए हैं । आत्मसंकेन्द्रण व्यक्तिवाद का और भी विकृत रूप है । व्यक्तिवाद में व्यक्ति अपने को दूसरों पर आरोपित करना चाहता है, इस कारण फिर भी दूसरों से जुड़ा रहता है किन्तु आत्म-संकेन्द्रण की प्रवृत्ति तो व्यक्ति को केवल अपने में ही सीमित कर देती है और वह अन्य व्यक्तियों से पूरी तरह से कट जाता है । अपने आप में सिमट जाने के कारण नयी पीढ़ी अत्यन्त जटिल एवं दुःख होती जा रही है । बीटनिक्स की भांति यह भी समाज से अलगाव चाहती है ।

आत्मसंकेन्द्रित हो जाने के कारण व्यक्ति आज अपने को नितान्त अकेला महसूस करता है और दूसरा व्यक्ति उसे अजनबी की भांति लगता है । अथवा अपने में सिमटा और उलझा हुआ व्यक्ति दूसरों के लिये ही अजनबी बन जाता है और आत्म-विश्लेषण में तीन व्यक्ति को लगता है कि वह हर कहीं अकेला है, हर कहीं अजनबी है और पूरे परिवेश से कटा हुआ है ।

अक्सर 'विशिष्ट' होनी की भावना लोगों में पायी जाती है । यह अजीब सी सनक है और इसमें अहंकार और 'स्वावरी' की फलक अधिक होती है, समझदारी कम । अक्सर ये लोग अपने आपको आकर्षक की भौतिक सीमाओं और आवश्यकताओं से परे मान कर चलते हैं और इसीलिए ये लोग जो सोचते-करते हैं, उसमें आत्मतुष्टि और जनकल्याण के बजाय आत्मश्लाघा का पुट अधिक होता है । यहां पर वही अस्तित्ववादियों का वर्ण आता है और सार्व की सम्बद्धता (इन्वेमेंट) अगर बुद्धिजीवी मानसिक रूप से समाज से अलग जा पड़ा तो यह 'अकेलापन' और 'भरण' उसे अवश्य सायेगा । यदि इस विषय परिस्थिति से आत्मसंकेन्द्रित व्यक्ति निकलना चाहता है तो उसे फिर से समाज के साथ सम्बद्धता ढूंढनी पड़ेगी । और इस सम्बद्धता के मानी होते हैं कि असाधारण होते हुए भी व्यक्ति साधारण की

तरह समाज में लोट बाये और उसके साथ-साथ बने ।

दूसरों को ज़नबी दिखने के साथ-साथ वास्तव्य तो तब होता है कि जब यह व्यक्ति अपनी आत्मा के बाढ़ी में स्वयं के ज़क़ को ही ज़नबी पाता है । यह एक प्रकार की निस्संगता है, जो बाधुनिकता के प्रसार के साथ बढ़ती जा रही है । इस निस्संगता के शिकार बेतोंग होते हैं, जो महानगरों में रहते हैं । महानगरों का जीवन कर्मसंकुल और व्यस्त होता है तथा हर सफल आदमी को नगरों में प्रतिदिन बहुत लोगों से मिलना पड़ता है । किन्तु महानगरों का जीवन इतना कृत्रिम होता है कि वहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता । प्रायः सभी लोग एक दूसरे के साथ सतह पर मिल कर चल ही जाते हैं । यह बाधुनिकता का और वतिसम्यता का शाप है कि इसी निस्संगता के प्रसार के कारण महानगरों में पागलों की संख्या बढ़ने लगी है, वनिडा का रोग फैलने लगा है और आत्महत्या की प्रवृत्ति में वृद्धि होने लगी है । बाधुनिक मनीषी की निस्संगता में इससे कहीं पुष्टर वेदना है । निस्संग मनीषी का अकेलापन उस व्यक्ति का अकेलापन है, जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है । धर्म में जिसकी वास्था नहीं है और सम्यता के सभी मूल्यों को जो संका की दृष्टि से देखता है । जब कहीं कोई भी आधार न रहे तो मनुष्य निस्संग होने के सिवा और हो क्या सकता है ?

अकेलेपन की इस व्यथा का चित्रण आन्द्रेजीद में बारम हुआ था और पिरान्देलो, जूलियन ग्रीन, मालरो, अल्बेर कामू और ज्यां पोल सार्त्र में अधिकधिक विकास पाता रहा है । हमारे हिन्दी बुद्धिजीवी भी इस अकेलेपन की वेदना से पीड़ित हैं । व्यक्ति और कलाकार दोनों ही अपार स्वार्थी हैं और स्वार्थ के कारण ही ज़नबी तथा अकेलेपन के गर्त में जा पड़े हैं ।

वेसे कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जो पारंपरिक जड़ता से मुक्ति प्राप्त करके 'कुछ नया' लाना चाहते हैं और समाज को बदलना चाहते हैं । यों कलाकार साधारण व्यक्ति से अलग हो जाता है । किन्तु उसकी यह आत्मनिष्ठता अपने आप में एक लक्ष्य होती है अर्थात् उसका स्वार्थ है या स्थापित से टूट जाने की और अनुपस्थित अनागत से न जुड़ पाने की अकुलाहट ही उसके अकेलेपन के लिये जिम्मेदार है । इस अकुलाहट का मयानक विस्फोट हमें स्वरा पाउण्ड, निराला, मजाब काजी नज़रत इस्लाम, उगु,

मुक्तिबोध आदि में दिखायी देता है। उसे अतिवादी कहा जा सकता है। लेकिन अपने अपने रूप में आ क्या हर कलाकार (यदि वह समाज से प्रतिबद्ध है तो) उतना ही अकेला और अनसमझ नहीं है ?

‘अकेला कलाकार’ जरूर होता है, लेकिन यह अकेलेपन की अनुभूति ही समझ से उसके जुड़े होने का ‘सबसे बड़ा प्रमाण है।’ ‘सबकी तरह’ न सोचने वाला लेकिन ‘सबके लिये’ सोचने वाला व्यक्ति हा अपने को सज्जे अर्थों में अकेला महसूस करता है।^१ अकेलेपन की यह परिभाषा संभवतः वादर्श से प्रेरित है और स्वाध्यायियों की मांड के सामने विलकुल बेमानी है। स्वाधी व्यक्ति केवल अपने बारे में सोचता है।

‘सबके लिये’ सोचने वाले सुचारु होते हैं और निश्चित ही यह तीन संस्था में बहुत कम हैं। आज के बौद्धिक बस अपने घर-बारे में सोचते हैं और अपने को ‘विशिष्ट’ घोषित करने के लिये बराबर एक नकली मुसौटा लमार रहते हैं।

● बौद्धिकता का आग्रह और प्रहार युगबोध

नया व्यक्ति बुद्धिजीवी है और बुद्धिजीवी के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर सबसे से पराजित सौन्दर्य-बोध से पूरी तरह अपना समझौता कर ले। उसे तो अब ऐसे बौद्धिकता से प्रेरित सौन्दर्य-बोध की उपेक्षा होने लगी है जिससे उसकी भावात्मक सत्ता के साथ-साथ उसके बौद्धिक व्यक्तित्व का भी संतुलित समावेश हो। आज का ‘सहृदय’ पाठक केवल रस नहीं चाहता। साहित्यकार ‘सहृदय’ पाठक से आज बौद्धिकता की मांग करता है।^२

१. मन्नु मंडारी : कर्मयुग, ८ जनवरी, ६७, पृ० १७

२. वित्तमस : इन्ट्रोडक्शन टू माडर्न पौयट्री (१९६६), लन्दन, पृष्ठ १०० --

"Your modern poet does expect you to use your brain "

A monstrous new conception of poetry, which requires one to think before one can begin to enjoy."

बौद्धिकता का यह बागृह इसलिए भी है कि सर्वसाधारण का मानसिक स्तर भी ऊँचा उठे। आज के साहित्य का मूल स्वर उच्च कोटि का चिन्तन एवं अतिशय बौद्धिकता ही है। आज के यांत्रिक परिवेश में यह स्वामाविक ही था कि युग की कठोर वास्तविकताओं के ग्रीष्म से व्यक्ति की मानुष्यता का सारा रस सूख गया। अब तार्किक एवं बौद्धिक हो जाना नितान्त स्वामाविक था। आधुनिकता 'बौद्धिकता' को ही मान्यता देती है।

सामान्य मानव भी अपने परिवेश के प्रति संवेदनशील हो उठता है तो कोई कारण नहीं कि बौद्धिक वर्ग ही इसका अपवाद बने। बौद्धिक कितना ही व्यक्तिवादी और विद्रोही क्यों न हो, एक सम्बन्ध-सूत्र से समाज उसे अपने से बाँधे ही रहता है। सभी मनुष्यों को सम्बन्ध-सूत्र से बाँधने वाला समाज कभी भी इतना अचेतन नहीं होता कि वह किसी बुद्धिवादी को अपने बंधन से स्वतन्त्र छोड़ दे।

रचना में यदि उसका युग सम्बन्धित नहीं होता तो वह व्यर्थ है^१। यह सत्य है कि रचनाकार को व्यक्ति, समाज तथा युग - तीनों के ही प्रति प्रतिबद्ध होना पड़ता है। वह इतिहासकार और समाजशास्त्री नहीं होता, फिर भी समाज को अपना समय को नकार भी नहीं सकता। उसे इतिहासकार न होते हुए भी अपने युग की व्याख्या करनी ही पड़ती है। आज का संघर्ष, विषमता, आवेश, विकृता - यह सभी युगीन परिस्थितियाँ हैं और आज का व्यक्ति अथवा बुद्धिवादी इनके प्रति अत्यन्त संवेत है। कोई भी व्यक्ति अपने युग में, अपने समय में ही जीता है। अपने समय और युग से परे कोई नहीं जीता। अपने युग में जीना और उस युग की मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना ही आज कथाकार का मुख्य कर्म है। यों तो सामान्य जन के लिये ही अपने परिवेश का महत्व होता है किन्तु जगत् और जगत् की वस्तुओं की महत्ता कथाकार के लिये और भी अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि कथाकार अन्वेषी होता है और जगत् तथा उसमें बिखरी हुई वस्तुओं की सार्थकता कथाकार के लिये

१. सी० डी० लेविंस : ए होप फार पोयट्री (१९३४), न्यूयार्क, पृष्ठ २६ -

"A poet is nothing if not sensitive to his environment."

अन्वेषण के विषय हैं। समस्त सांस्कृतिक प्रयत्नों - जैसे विज्ञान, दर्शन, कला प्रविधि आदि का उद्देश्य जगत् जीवन और मानवीय अनुभूतियों के वास्तविक मूल्य को उद्घाटित और प्रतिष्ठित करना है। वस्तुओं का मूल्य उस सार्थकता में है, जो उन्हें जगत् के बीच उनके सही स्वरूप के उद्घाटन से उपलब्ध होती है। यह सार्थकता मूल्यवान् जगत् में वस्तुओं के सार्थक स्थान-ग्रहण करने में है। अतः अन्वेषक का प्रथम कर्तव्य यह होता है कि वह फटा लगाये कि जिस जगत् को वह अपने सामने पाता है, उसमें क्या वस्तुएं अपनी सार्थकता रक्षती हैं ?

नागरिक-सम्यता के 'ग्लेमर' से आज व्यक्ति बेहद संव्रस्त है। सम्यता आज सुविधा बन गयी है। मानव अपने कुत्सित पर सम्यता का आवरण डाल कर बड़े इत्मीनान से इधर-उधर घूम सकता है। विज्ञान तथा यांत्रिक सम्यता ने आज लोक-जीवन की परिस्थितियां बदल डाली हैं। जीवन-मूल्यों के टूटने से लोगों में कुंठा, निराशा, घुटन, विज्ञाभय, उदासीनता, घृणा, पराजय और अतृप्ति का आ जाना स्वाभाविक है। स्वाधों की भीड़ में होकर व्यक्ति एक दूसरे के लिये ज्वनबी बन गया है। तीव्र संघर्षों से होकर गुजरने के कारण ही व्यक्ति अनेक बोझों से लदता गया। दबावों की अतिशयता के फलस्वरूप व्यक्तियों के व्यक्तित्व ही सन्निहत एवं विघटित होने लगे हैं। क्याकारों ने युग की इस गति को पहचाना और इसे अधिव्यक्ति देने के लिये नये जीवन्त प्रतीकों एवं संकेतों का आकलन किया - ('ग्लास टैंक', 'मांस का दरिया', 'सेफ्टी पिन', 'मरी हुई मक्खनी' आदि)।

युग के प्रति अत्यन्त संवेदित होने की शर्त के साथ-साथ आज अनुभव के प्रामाणिक होने की शर्त भी जुड़ी हुई है। अर्थात् क्याकार जो कुछ भी अपने और अपने परिवेश को लेकर अनुभव करता है वह अनुभव प्रामाणिक और मोगा हुआ होना चाहिए। दूसरे के द्वारा मोगे हुए युग-बोध को आज हम सत्य नहीं मान सकते जबकि वह स्वतः अनुभूत एवं प्रामाणिक न हो। इस प्रकार हमारी दृष्टि आज बहुत ही आधुनिक, वैज्ञानिक, तार्किक और प्रसर होती जा रही है। हमारी दृष्टि आज रुढ़ भारतीय नहीं रह गयी है। उसमें अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विदेशी मन का पुट भी आ गया है। हर चीज को हम विदेशों के समकक्ष ही तोलते हैं। ऐसी दृष्टि एवं गहन विन्तना शक्ति के कारण ही हमारा युगबोध भी आज अत्यधिक प्रसर होता जा रहा है।

● मध्ययुगीन मानसिकता ज्यवा 'प्राच्य' का मोह

इतनी आधुनिक होकर भी हमारी संस्कृति आज भी उसी मध्ययुगीन संस्कृति से बिपटी हुई है। 'प्राचीन' का मोह हममें आज भी है। यह व्यक्ति ऊँतोद्वार के फण्डे फहराते घूमते हैं किन्तु बहूतों में स्वयं रोटो-बेटी का सम्बन्ध नहीं कर सकते। 'काउन्सिल पेंट' पहनकर यह घर से बाहर निकलते हैं किन्तु बिल्ली रास्ता काट देती है ज्यवा सली बाल्टी या घड़ा देस लेते हैं तो ये अपशकुन के भय से मर जाते हैं। कहने को यह लोग बहुत ही आधुनिक भी हैं - यानी कि अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवाह करते हैं किन्तु कट्टरता और संकीर्णता भी इतनी है कि 'हिन्दू' ज्यवा 'मुस्लिम' शब्द छटाने के लिये यहाँ लोग फण्डे करते हैं। गोवध के नाम पर एक वर्ग दूसरे पर गोखियां चलाता है। होने को तो हम अति आधुनिक हो गये हैं। केफों में रेस्त्राबों में जाते हैं। आधुनिक लड़कियों के साथ ट्विस्ट करते हैं और नारी स्वातंत्र्य की हिमायत करते हैं। किन्तु साथ ही कहीं हम प्राचीनता से बुरी तरह बिपटे हैं और नहीं चाहते कि उन स्वतन्त्र रूप से ट्विस्ट करने वालियों में हमारी मां-बहनें भी हों। इस प्रकार हमारा एक पैर तो पूर्व में ही है और दूसरा हम पश्चिम में रत भले ही चुके हैं लेकिन हमारा जागे बढ़ना असम्भव है। अब या तो हमें अपनेपूर्व में ही लौट जाना होगा ज्यवा पश्चिम की तरफ ही बढ़ जाना हमारी विवशता हो जायगी। 'प्राच्य' का मोह ज्यवा हमारी प्राचीन रुढ़ियां अभी पूरी तरह टूटी नहीं हैं और भारत आज भी उसी दक्खिनासी भारतीयता ज्यवा मध्ययुगीन मानसिकता का शिकार है।

● नास्तिकता और टूटी हुई भेसातियां

देखने पर लगता है कि सारी दुनिया बीमार है। ज्यादातर लोग बिबिध हैं। सारी कलारें तेजी से अपरूपता की ओर दौड़ रही हैं। हर आदमी की तस्वीर अंत में 'डोरियन ग्रे' से मिलने लगती है। कीर्णोर्ध्व जीवन को 'मौलिक पाप' घोषित करके मर चुका है। और नीत्ये का 'पागल' मरी दोपहर में लास्टेन लेकर ईश्वर की तलाश में भटक रहा है। ग्लोब पर लिपटा हुआ सांप उसी तरह लिपटा है। अवस्थायामा के माथे का घाव सड़ने लगा है किन्तु मयंकर पीड़ा के बावजूद अवस्थायामा

के लिये मृत्यु वज्रित है । अवचेतन में घंसी एक-एक पर्त उधाड़ कर पिकासो कहता है - 'यह है बाज का बादमी - बीसवीं शती का नर-प्रेत !'

अपनी मुक्ति की प्रक्रिया में बाज का बादमी इतना अप्रत्याक्षित एवं अविश्वसनीय हो गया है कि उसके हाथों क्या हो जायेगा, यह स्वयं नहीं जानता । 'न जानना' जिस घबराहट की सूचना देता है वह दरजस्त एक भयंकर रोग है, जो आधुनिकता की जड़ों में बड़े गहरे उतर चुका है । वर्तमान चिंतक इस 'इन्ज्यायटी' का संज्ञा देते हैं । हिन्दी में इस शब्द के लिये 'उद्देग', 'दुश्चिन्ता', 'बकुलाहट', उत्सुकता, व्यग्राता, बासंका आदि पर्याय मिलते हैं ।

मनुष्य के सम्बन्धों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । उसके और ईश्वर के बीच के सम्बन्ध को 'ऊर्ध्वमुखी' और उसके तथा अन्य वस्तुओं के बीच के सम्बन्धों को 'अधोमुखी' सम्बन्ध की संज्ञा दी जा सकती है । यंत्र की प्रगति ने उसके और ईश्वर के सम्बन्ध को तो लगभग नष्ट कर दिया । अब शेष रह गये हैं 'अधोमुखी' सम्बन्ध । ये सम्बन्ध क्योंकि मनुष्य से मनुष्य बने रहने की अपेक्षा नहीं रखते और क्योंकि इन सम्बन्धों को तोड़ने बदलने का अधिकार - मनुष्य के ही हाथों में था, इसलिए इनका उपयोग मनुष्य ने मनमाना किया । उसने प्रकृति के सभी उपादानों को अपनी शक्ति और बुद्धि द्वारा अपने अधीन कर यह स्पष्ट कर दिया कि वह निश्चित रूप से महान है । किन्तु इन सम्बन्धों के उपयोग में धीरे-धीरे मनुष्य इनका शिकार भी बनता गया । बाज के समाजशास्त्रियों द्वारा बार-बार जब यह प्रश्न 'मशीन चलाता हुआ बादमी या बादमी को चलाती हुई मशीनें ?' पहिली की तरह दोहराता जाता है तब इसके पीछे छिपा यही व्यंग्य उभरकर सामने आता है कि मनुष्य मशीन बनाकर स्वयं संक्रुस्त हो गया है । मनुष्य की इस यांत्रिक प्रगति को यदि बिना किसी पूर्वग्रह के स्वीकार भी कर लिया जाए, तब भी उस दुर्घटना को कैसे दरागुजर किया जाए जिसकी जातिपूर्ति के लिए बादमी को एक बार अपना सारा ज्ञान शुरू से मूलना होगा । यह दुर्घटना है - समस्त कार्य-व्यापार के पीछे ईश्वर की अनुपस्थिति । मनुष्य के आंतरिक संसार से ईश्वर का नायब हो जाना मानव-जाति के इतिहास की सबसे बड़ी दुर्घटना है और यही वह दुर्घटना है जिसकी मविष्यवाणी कीर्त्तनार्द ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में की थी - ग्लोब पर अब ईश्वर नहीं है

उसका पुत्र शैतान सर्प बनकर लिपटा है, यह और बात है कि शैतान ईश्वर का सबसे अधिक बुद्धिमान पुत्र है ।

धर्मीनिरपेक्ष राज्यों और साम्यवादी सत्ताओं - दोनों के पीछे यदि देखा जाए तो एक ही तथ्य कार्य करता मिलेगा। एक ओर ईश्वर के प्रति उदासीनता है और दूसरी ओर ईश्वर के प्रति घृणा । तीसरी ओर मनुष्य ने ईश्वर को मृत भी मान लिया है । तीनों ही स्थितियों में वह मर्य जो मनुष्य को अस्म अमर्यादित होने से रोकता है, अस्त हो चुका है और शेष रह गया है एक सर्वव्यापी शून्य और अनास्था, जिसे अस्तित्ववादी 'नास्तित्व' का संज्ञा प्रदान करता है ।

'सब कुछ वैध है क्योंकि ईश्वर नहीं है ।' - यह धारणा मनुष्य को कहाँ से जायेगी कुछ नहीं कहा जा सकता । यह 'नास्तित्व' का सोखता व्यक्ति को लगातार सोखता बनाये जा रहा है । ईश्वर अथवा देवत्व का भाव बहुत से सत् पदार्थों के अनुभव पर ही बना है । और ईश्वर अथवा देवत्व से अलग हो जाने का मतलब सत् पदार्थों अथवा सद्गुणों से अलग हो जाना ही है और जब हम मर्यादा और सद्गुणों से अलग हो जाते हैं, तो संसार में स्वार्थ, बराजकता और अस्त के सिवाय और कुछ नहीं बचता है । अपनी आत्मा से वृहत्तर किसी पदार्थ से एकता तो मनुष्य को स्थापित करनी ही होगी । मरे ही हम उसे ईश्वर अथवा देवत्व जैसे नाम न दे कर कोई और नया नाम ही क्यों न दे दें ।

ईश्वर की मृत्यु का कार्य होगा - 'अनिमा' (द्रान्तेण्डेन्स का पर्याय और सुमित्रानन्दन पंत द्वारा अनुमोदित) की मृत्यु । सौन्दर्य, स्नेह, करुणा, दया एवं पुरुषार्थ आदि मूल्य, जो अब तक जीवन की इस शून्य देश में आधार प्रदान कर प्रतिष्ठित किये थे, अनिमा के न रहने से रिक्त, अर्थहीन हो जायेंगे । क्योंकि ये अपने नरम रूप में अनिमा पर ही निर्भर हैं । समस्त भाषात्मक और दार्शनिक साधना में, अतीत की सारी लहलहाती सेती में बाग लग जायेगी । नीचे भावों के उपवन में लगी ज्वाला की कल्पना कर चुका था । तभी तो अपने अन्तरात् के फरिश्ते को पागल के रूप में पहचानते हुए उसने इस प्रकार लिखा --

'तुमने उस पागल की बात नहीं सुनी, जो दिन दोपहर में ताँलटेन जलाकर बाजार में

चिल्लाता हुआ दौड़ रहा था - मैं ईश्वर को खोज रहा हूँ... । (फिर ईश्वर को न पाकर) वह चिल्लाया - 'ईश्वर कहाँ है ? हमने और तुमने मिल कर उसकी हत्या कर दी है ।... किसने हमें वह स्पंज दिया जिससे पोंछ हमने सारी क्षितिज रेखा को ही मिटा दिया ? क्या रात्रियाँ, जनवरत रात्रियाँ, नहीं जा रही हैं ? क्या दोपहरी में ही लास्टेन जताकर हमें तैयार नहीं हो जाना चाहिए ? ... सुनो, उनकी वावाव सुनो जो ईश्वर की कब्र खोद रहे हैं । हमने उसे मार डाला है । पर इससे मिला क्या ? क्या इस महान कार्य को सहन करने की शक्ति हममें है ? क्या हमें इसके लायक नहीं होना पड़ेगा ? क्या हमें ही स्वतः ईश्वर नहीं होना पड़ेगा ?' नीत्से के पागल की बात सुन कर बाजार की जनता हँसती है । वह सोचता है - अभी उनके पास खबर नहीं पहुँची है । खबर रास्ते में ही है । पर ये ही लोग उसे मारने वाले हैं और आश्चर्य है कि ये नहीं जानते ।

ईश्वर को वस्वीकृत करके मनुष्य ने बुद्धि को स्वामिनी और कामिनी बनाया । यह मनुष्य सम्भवतः प्रभु और पिता के नियन्त्रण से ऊब गया था । बुद्धि का उन्मत्त लात्सा-नृत्य प्रारम्भ हुआ और इस बुद्धि के मेरवी चक्र में जाकर मनुष्य मरता गया और उसके प्रेत जीने लगे -- अस्तोच, आत्मघात, विद्रोह, दुःख, मय, एवं अजनबीपन की कपाल-साधना और मूछी, बुभुक्षित, असहिष्णु नंगी पादियाँ ।

ईश्वर की सृष्टि मते ही मृण्मय हो किन्तु फिर भी हम उसका मुकाबिला नहीं कर सकते । ईश्वर के स्थान पर हम मते ही अतिमानव अथवा सुपर-मैन की कल्पना करें और किन्तु सब कुछ ईश्वर के समक्ष तेजहीन है । सभी जानते हैं कि इस नश्वर संसार में जीवन से अर्थ की तलाश करते हुए फाउस्ट और कर्माजीब अन्त में प्राप्त कुछ भी नहीं कर सके । क्योंकि वस्तुओं में अर्थ है ही नहीं । और जहाँ अर्थ नहीं है, वहाँ अर्थ खोजने का दुराग्रह लगन बचपना है । सब ऐसी स्थिति में एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि व्यक्ति स्वयं सीमित संदर्भ में (जहाँ कहाँ वह है) अपने आसपास के जीवन में किसी 'अर्थ' की प्रतिष्ठा करे । क्योंकि 'अर्थ' खोजने के बजाय 'अर्थ' भरना उसके लिये अधिक तर्कसंगत है । आसंकाग्रस्त होते हुए भी सही या

गलत, बादमी अपनी सामर्थ्य पर यही प्रयत्न करे कि उसे वस्तुओं में 'अर्थ' मरना है। अस्तित्व संकट से व्यक्ति तभी छुटकारा पा सकेगा और उसकी युगीन वास्तविकता के द्वारा समाप्त हो सकेगी।

000

संत्रास और संत्रास। तुलसी का भव-मय हरण सामूहिक संत्रास का ही थोकर है। संत्रास - जिसका बोध जन्म से ही होने लगता है। संत्रास ओढ़ा नहीं जाता। उसका बोध तो मिथ्या अर्थ के शून्यीकरण की स्थिति में ही हो सकता है। रोजी-रोटी, अर्थ वास्तविकता - इन सबके बन्धन में पड़कर व्यक्ति खर-खर भागता दौड़ता रहा... और जब भीवह एक क्षण के लिए अकेला हुआ उसने अपना अर्थ विसर्जित किया और मुसोटे उतार कर चेहरा हलका किया तो पाया कि वह एक ऐसे संत्रास से घिरा हुआ है जिससे वह बाह्य कर भी अलग नहीं हो सकता... यह संत्रास ऐसा था जो व्यक्ति को ध्वज की प्रेरणा भी दे सकता था और दूसरी ओर विनाश की प्रवृत्ति की ओर भी मोड़ सकता था। मूल्यहीनता ही इस संत्रास का सबसे बड़ा कारण है। लेखकों ने अपने युग के इसी संत्रास को पकड़ना चाहा... कुछ ने इसे गहराई से समझा और अभिव्यक्त करने में सफल भी हुए और कुछ केवल ऊपरी 'टीम-टाम' में ही व्यस्त रह गए। उनका साक्षात्कार संत्रास से नहीं मात्र उसके आभास से ही हो सका। ऐसे लेखकों की संवेदना बड़ी कमजोर थी और वहां संत्रास की तरह तह तक नहीं, पहुंच सके और उसकी वास्तविक स्मरणा - कुंठा, निराशा, हताशा और अपने को दूसरों को ऊपर लादते जाने की घृणित प्रवृत्ति में ही उत्पन्न कर रहे गये। ऐसे लेखक बुरी तरह विफल हुए और अन्ततः सेक्स के दलदल में घंसे गए। 'संत्रास' का सहारा लेकर ये लेखक लेखन के क्षेत्र में जबरदस्ती घुसना चाहते थे - लेखन में सिद्धि नहीं मिली तो उन्होंने अपना अस्तित्व प्रतिष्ठित करने के लिए कुछ भी लिखना शुरू कर दिया - और मचा दिया। डोल-पीट-पीट कर उन्होंने बताया कि वह अपने युग का संत्रास अभिव्यक्त कर रहे हैं। किन्तु असलियत यह थी कि वह मात्र अपनी सेक्स जनित घृणित और कुंठित भावनाएं ही अभिव्यक्त कर पाते थे और संत्रास की गरिमा - अपने आपको इनकार कर देने वाला संत्रास उनकी सभ्य बुद्धि

के बहुत परे था । साठौंरी लेखक अधिकांशतः ऐसे ही लेखक हैं । इन लोगों ने बदलते सम्बन्धों के नाम पर अपने निकट सम्बन्धियों - विशेषतः माता, पिता, भाई-बहन और पति-पत्नी के साथ मजबूत बंधन तोड़ दिए । और यह बंधन तोड़ना जीवन में सिर्फ एक बार ही किया जा सकता था फलतः यह लेखक कभी अपनी एक-एक बंधन दो-दो कहानियों से पाठकों को 'शाक' करने के बाद अब स्वयं 'शाक' हो कर चुप बैठ गये हैं ।

किन्तु समझाने पर भी इन लेखकों को कुछ भी समझ में नहीं आया और ये 'अपने अस्तित्व' को बचाव रखने के नाम पर अपने अस्तित्व को बनाये रखने की निरीहता के नाम पर यह दूसरों के अस्तित्व को बराबर सस्ते में डालते रहे जो कि श्रद्धा से बहुत अलग एवं अधन्य कार्य था । फलतः ये दूसरों के अस्तित्व को नकारने और उस पर कीचड़ उड़ाने के चक्कर में ही रह गये और इसी घृणित प्रयत्न में ही समाप्त हो गये । हुआ यह कि दूसरों का व्यक्तित्व तो ज्यों का त्यों बचाव बना रहा किन्तु इन क्रांतिकारी मसीहा लेखकों का व्यक्तित्व अवश्य ही अत्यन्त घृणित एवं कुत्सित बन गया । दूसरों को समाप्त करने के प्रयत्न में, ये स्वयं समाप्त होते गये ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में परस्पर सम्बन्ध उत्कर्षित हो जा रहे हैं । और इतने उत्कर्षित गये हैं कि इनका कोई समाधान न ढूँढ़ कर हम मात्र इन्हें विज्ञापित करने लगे हैं -- 'उत्कर्षित हुआ मंगल सूत्र', 'बप्पी', 'पिता', 'रीढ़', 'एक पति के नोट्स', 'सुहागिन' और 'एक और जिन्दगी' जैसी कहानियाँ इसी फैलनपरस्त संक्रास से अभिभूत होकर लिखी गयी हैं । इन कहानियों में वास्तविक संक्रास नहीं, व्यक्तिगत और बहुत ही गलत 'संक्रास' सामने आया है जिसे शायद संक्रास कहा भी नहीं जा सकता ।

मानव सम्बन्ध आज काफी बदल गए हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है । हमें तो चाहिए था कि हम इन बदलते सम्बन्धों पर फिर से लोगों की आस्था जमाते । आस्था के लिये संघर्ष करते । संघर्ष तो हमें करना ही था क्योंकि संघर्ष ही जीवन का सन्तान है । हम स्वस्थ हैं - इसे हमारी संघर्ष की दामता ही परिमाणित करती है । संघर्ष का न होना हमारी अस्वस्थता बताता है, इसे ठगता समझा

जाता है । किन्तु दुःखद बात यह है कि हमारा यह संघर्ष किसी 'बच्चे' के लिये नहीं हुआ ।

लेखन में राजनीति नहीं बानी चाहिए - इस धारणा ने - सम्पूर्ण राजनीति को लेखक के लिये अकृत-सा बना दिया ।^१ लेखक राजनीति से अलग हट गया और उसने एक नयी राजनीति अपना ली - 'देह की राजनीति' - जहाँ वह मनमानी साहसिकता दिखा सकता था । वास्तविक राजनीति से उसका कोई वास्ता नहीं रहा । न उसने प्रष्ट सरकारों को देखा, न वर्तमान संस्थाओं को । न आदमी का संघर्ष देखा और न उसका अस्तित्व । देश का प्रष्टाचार, युद्ध, अकाल, बाढ़, मृत्युहानता, दुःख-दर्द, यातना, बाकांता - उसे कुछ भी तो नहीं दिखा । दिखा तो बस - एक अपना धोया जूँ, अपना निरर्थक अस्तित्व और लेखक विश्व से, देश से, व्यक्ति से हट कर मात्र अपने ही इन्द्र में फँसा रह गया । 'मौने गये' के नाम पर कुंठित और गलित यथार्थ लिखता रहा, देह की राजनीति से उत्पन्न रहा, बस ।

पुराने लेखकों में अब भी वास्था थी और उनकी जीवन पर और व्यक्ति पर अब यह गरिमामयी वास्था हमें आज भी दिशा देती है । पुराने लेखकों ने और नयों में भी कृष्ण लेखकों ने व्यक्ति के सही संवास को अभिव्यक्त किया - ऐसा संवास जो व्यक्ति को तोड़ कर उसे बेमानी नहीं बनाता है, यह संवास तो उसे नव-निर्माण की एक नयी दिशा देता है - यह संवास एक नये प्रकार की जिजीविषा उपजाता है - जीवन पर व्यक्ति की अपार वास्था जमाता है, और बहुत-बहुत टूट कर भी जीवन का अर्थ नहीं खोता । यह वास्था सचमुच बंदनीय है । पचास के वासपास लड़े हुए लेखक अपनी ऐसी वास्था के बल पर आज भी लड़े हुए हैं और हम पाते हैं कि उनकी यह वास्था ही उन्हें अक्षुण्ण बनाये हुए है । साठोसरी पीढ़ी जितनी तेजी से, जितने जोर-शोर से आयी - उतनी ही तेजी से वह बुलबुले-सी फूट भी गयी । सिवाय अपनी कुंठाओं के उसके पास सार्थक कुछ भी तो नहीं था ।

000

अमरकान्त की 'हत्या' राजनीतिक जीवन की कहानी है । राजनीतिक दृष्टिकोणों

का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है - इसे व्यंग्यपूर्ण शैली में चित्रित किया गया है ।

सामाजिक विद्रोहता से उत्पन्न होने वाले आस और आतंक का भी यह कलात्मक दस्तावेज़ है । किसी भी समाज से प्रारंभिक प्रत्याशा यही होती है कि वह अपने सदस्यों को सुरक्षा दे । किन्तु हत्यारे न तो समाज की सुरक्षा प्राप्त कर पाते हैं और न ही समाज के अन्य सदस्यों से सम्मान प्राप्त कर सकते हैं । स्वतन्त्रता के बाद उपजा नयी पीढ़ी के लिये वे डेर सारे शब्द और अवधारणाएँ अब केवल उपहासास्पद भर रह गयी हैं जिनको लेकर तमाम विन्तक, व्यवस्थापक, राष्ट्र निर्माता आदि अब तक स्वप्न देखते आये थे । देश की प्रगति, समाजवाद, विश्व-शांति, देश का बोफ 'ग्रामर बाफ पासिटिक्स', रूस-अमरीका-विवाद आदि उनके लिये हंसी-मजाक का एक स्तर मात्र बन गया है । वस्तुतः नयी पीढ़ी के लिये इन शब्दों के अर्थ ही लो गये हैं, किन्तु कहीं-कहीं ये 'कण' चमक भी जाते हैं और आकांक्षा को सूचित करते हैं । वे प्रशासन के उच्चतम पदों के आकांक्षी हैं । ये आजन्म कृतचारी रहना चाहते हैं किन्तु पीढ़ी से वासना फाँकती है । यह भावना बगल से लड़कियों के गुबरने पर हवा में उड़ते गये बुम्बनों या बन्डासिंह प्रसंग से प्रकट होती है और आगे इसका और भी निम्नतम रूप सामने आता है । एक गरीब औरत को थोसा देकर अपनी देह की भूस कुम्हार जाती है और फिर लास्की की 'ग्रामर बाफ पासिटिक्स' की दस दिनों में कृपापूर्वक डिक्लेट करा देने वाले, सती-साध्वी चंडा के शील को प्रोफेसर दीक्षित से बना लेने वाले, जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रधानमन्त्री पद के लिए आमंत्रित ये नवयुवक, उस गरीब औरत को भेसा न देना पड़े, इसलिए हाथों में जूँ उठाकर माग लड़े होते हैं । 'पूर्ण अहिंसात्मक तरीके से' नवयुवकों का बुद्धिमानी, मौलिकता, साहस और कर्मठता का पथप्रदर्शन इस प्रकार होता है कि उस वृत्ति के शोर मचाने पर जो व्यक्ति उनके पीछे दौड़ते हैं, उनमें से एक के पेट में पथप्रदर्शक महोदय ही बुरा घुसेड़ देते हैं । इसके बाद दोनों पुनः तेज़ी से माग चलते हैं । जब बिजली का सम्पा आया तो रौशनी में उनके पसीने से लथपथ ताकतवर शरीर बहुत सुन्दर दिखाने देने लगे । फिर वे न माकूम किस अंधेरे में लो गये । इस प्रकार संकर्म-भाषा का अभाव शहर में होने वाली हत्या के प्रति किसी प्रकार का लगाव नहीं उत्पन्न होने देता और हत्यारे बिजली के सम्पे के प्रकाश में अपने स्वस्थ

शरीर की सुंदरता नमका कर ओधरे में गायब हो जाते हैं - यह है हमारे यहाँ की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था, जिसे लेखक ने बहुत गहरे जा कर साक्षात्कार किया है।

‘शाम’ में दिन भर कार्यालय में पिस कर लौटे हुए एक निम्नमध्यवर्गीय विवाहित युवक की शाम चित्रित है जिसमें पत्नी से इसलिए किंव-किंव होता है कि वह उसे प्रसन्न करने के लयाल से अपनी एक परिचित से चाय पिलाने के प्रस्ताव के विषय में उससे चर्चा करती है। पति इसे अपनी आर्थिक स्थिति और स्वाभिमान पर व्यंग्य समझता है और बाफ़ी ‘तू-तू में-में’ अपनी शाम को बोझिल और तिरक़्त बना डालता है। जिस साफ़गोई और आत्मीयता से भरी सादगी के लिये अमरकान्त प्रसिद्ध रहे हैं, वह इस कहानी में है। घर-घर की शाम का ‘रत्नम्’ इस कहानी में पेश है।

‘राक्ष-प्रेमी’ (१९६७) में भी जाज की सोसली सम्यता की सोसल रह-रह कर बजती है। राजनीतिक व्यंग्य भी बहुत स्पष्ट है। राक्ष के लिये लम्बे-लम्बे ‘न्यू’, महंगाई पर फीकते हुए लोग, आत्म इनकार से टूटते हुए लोग, बस्तीकार मुद्रा अपनाये हुए लोग, भावनाओं का दीवालियाफ़ लिये हुए लोग, पुंसत्वहीन लोग, फिर भी जीने में बहुत-बहुत इच्छुक लोग - कस, ऐसे ही देश के लोग अमरकान्त की कहानियों के प्रमुख सूत्र हैं।

‘एक असमर्थ हिलता हाथ’ (१९६४) नारी जीवन के आधुनिक आयामों को लेकर लिखी गयी है। स्वातंत्र्योत्तर नारी प्राचीन चौखटों में अपने आपको मिसफिट पाती है - इसी तथ्य का यहाँ उद्घाटन बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है। मानसिक दृष्टि स्व विश्लेषण प्रशंसनीय है। यह कहानी एक ऐसा करुणा उत्पन्न करती है जिसका प्रभाव बहुत गहरा और स्थायी होता है। यह कहानी ज्वालामुखी पर बैठे एक मोले आदमी की निष्कण्ट बातों जैसा दिल बहला देने वाला आतंक जगाती है। इसमें अंधविश्वासों, रुढ़ियों, जाति-पथा एवं प्रेम की आधुनिक विसंगतियों पर मार्मिक व्यंग्य है।

शिवप्रसाद सिंह की 'मुरदा सराय' (१९६४) इन ज्यों में बहुत सशक्त कहानी है कि इसमें 'कुछ न होने का कुछ' संवेतना की मुट्ठी से फिसल नहीं पाया है। सृजन प्रक्रिया सहज है और बहुत अधिक संवेदनशीलता तथा मानव-मन की संश्लिष्टताओं को सम्हाले है।

यह कहानी असीमित जीवन, और मृत्यु की ही कहानी है। नियति और जावन की विडम्बनाएं इसमें चित्रित हैं। 'एक 'जीवित' घर में पत्नी की मृत्यु हो जाती है और फिर बच्चे की भी। और वही एक 'मृत' मुरदा सराय में सुलक्खी न चाहते हुए भी एक 'नये जीवन' को संसार में लाने का माध्यम बना दी जाती है। सब कुछ 'जबरदस्ती' होता है, और इसी 'जबरदस्ती' का दर्द, हम पूरी कहानी में फैला पाते हैं। ऐसा 'दर्द' जो विराट् वाकांक्षाओं वाले मनुष्य की सीमा निर्धारित कर देता है और फिर व्यक्ति वहां बहुत विवश होता है - 'मुरदा सराय' व्यक्ति की ऐसी ही विवशता की, विवशताओं के बंगुल में झटपटाने और उनसे छूट पाने के प्रयत्न की कहानी है। और जीवन के और मृत्यु के संदर्भ में व्यक्ति की जिजीविषा को नये अर्थ देती है। कभी हम मृत्यु से डरते हैं, तो कभी जीवन से - नियति की ऐसी ही कूरता सहने को व्यक्ति विवश है। और 'मुरदा सराय' उसकी ऐसी विवशता की कहानी है।

दर्द के समय कोई भी 'गांठ' शरीर पर नहीं रहनी चाहिए। इससे दर्द से शोध छुटकारा नहीं मिलता। यह बड़ा मौला-सा और बड़ा सरल-सा प्रतीक है। साथ ही सहज भी। दर्द के ऊपर किसी भी 'गांठ' ही मारी हो पड़ेगी - जरा मेरी देणी सोल देना... मेरे गले का लाकेट भी उतार लो... उतार ले न।' - मुझे हल्का हल्का देख वे तेज स्वर्णों में बोलीं - 'कुछ और न सोचो। ऐसे में शरीर पर एक भी ऐसी चीज नहीं होनी चाहिए - जिसमें गांठ हो... बचिया से सुना था कभी, गांठ वाली चीज के वदन पर होने से देर लगती है।' बात यहां निस्संदेह प्रसव-की पीड़ा के संदर्भ में है किन्तु संकीर्णता छोड़कर और व्यापक होकर देखें तो देखते देखते यह सीधी-सादी, संस्कारयुक्त बात तो बहुत गूढ़ार्थक बन जाती है और किसी भी दर्द के संदर्भ में ठीक उतरती है। कोई भी दर्द 'गांठों' से और बढ़

जाणा, चाहे वह जीवन का दर्द हो, चाहे मृत्यु का । 'गाँव' यहाँ अपने आप व्यथा और कष्ट को और उत्पन्न देने का प्रतीक बन गयी है और यह प्रतीक कहानी के भीतर ही बना हुआ है । उसके कहीं बाहर से लाये जाने का प्रयास तक इसमें नहीं है - यही प्रतीकों की सफलता है । कहानी हर दृष्टि से सफल है ।

000

धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिये नहीं' (१९६४) अपने बोध की गहराई और संवेदना की तीव्रता तथा गृहीत जीवन के संश्लिष्ट सम्बन्ध-सूत्रों की पहचान के कारण बड़ी प्रभावशाली है । किन्तु उसका बोध इतना आधुनिक नहीं है और वह एक मावुक संसार की रचना ही मानी जाता है - वस्तुतः भारती की कहानी सन् ५० के जीवन-बोध पर लड़ी है और सब मिलाकर अपनी रोचकता के बावजूद किसी गहन अर्थवान स्तर पर नहीं उमर सकी ।^१ इसमें दानू का मुड़ा पुराने बलिदानी की सा बनी रहती है । दानू का सारा रुस कटे रहने के बावजूद जुड़े रहने की आकांक्षा का है । विद्रोह की मुड़ा रोमांटिक है और लहीद का मुड़ा ही अधिक लगती है । फलतः पुराने जीवन-मूल्य समाप्त नहीं होते । सामाजिक संस्थाओं के प्रति 'सम्पूर्ण इनकार' भी नहीं है, और आंतरिक त्रास की अनुभूति भी बहुत गहरी नहीं लगती । क्योंकि यहाँ सब कुछ स्वीकार कर लिया जाता है और लाख विद्रोह के बावजूद भी पुराने मूल्य - ज्यों के त्यों बने रहते हैं । पुराने मूल्यों, ज्योत् 'जैसे उनके दिन फिरे वैसे सबके फिरे' इस रोमांटिक कामेडी पर कहानी समाप्त होती है । कहानी में रोमांस का उपयोग बटनी की मांति हुआ है । अतः भाषा को कवित्वमयी भाषा बनाना आवश्यक हो गया है । यों बहुत परिष्कृत और संवेदनशील भाषा और शिल्प की दृष्टि से इस कहानी का अपना अलग एक महत्व है ।

पीढ़ियों का संघर्ष, पारिवारिक अवनवीपन भी किसी सीमा तक इस कहानी में

१. डा० देवीशंकर अवस्थी : नई कहानियाँ, अगस्त १९६५, पृ० ५५

२. वही, पृ० ५५

सामाजिक संदर्भ में चित्रित हुआ है। मानसिक द्वन्द्व के माध्यम से इस कहानी में पात्रों का विश्लेषण हुआ है। 'बंद गली का बाहिरी मकान' बाज के जीवन के यथार्थ को कहीं गहरे जाकर अभिव्यक्त करता है। टूटते हुए परिवार और मनुष्य की विवशता बड़े सशक्त ढंग से चित्रित हुई हैं। 'बाज' (१९६६) कहानी भी एक भावुक संसार की रचना है, जिसमें बाज का आन्तरिक संकट नहीं प्राप्त होता, बल्कि एक साधारण-सी अभिव्यक्ति मात्र का स्पर्श होता है।

०००

नरेश मेहता की 'एक समर्पित महिला' (१९६३) में श्रीमती शेता के रूप में एक ऐसी आधुनिक नारी का चित्रण हुआ है, जो अपने को सम्पूर्ण भाव से साहित्य और कला के प्रति समर्पित माने हुए है। और इस साहित्य और कला के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होने की भावना उसे सत्य जीवन से अलग काट देती है। साहित्य और कला का एक अलग संसार निर्मित करने के बजकर में अपना व्यक्तिगत संसार ही देना - यह मुसता श्रीमती शेता ही कर सकती है। जिन्दगी के अलग से कोई मायने उनके लिये नहीं हैं। वह किताबों से जिन्दगी को नापती है, कहती भी है -- 'टू मी, नथिंग इज पर्सनल बट आर्ट'। व्यक्तित्व से परे जाने पर ही कला की अग्नि उपलब्धि होती है। मैंने अपना सारा विगत बड़े ही स्कात में दफना दिया है समीर। क्योंकि वह व्यक्तिगत था।' किन्तु असलियत यह है कि वह सब कुछ किताबी बोझिली जाती है। फेस की आधुनिकता उनमें है और वह उनके स्वयं द्वारा किए गए अपने नामकरण 'शेता' में स्पष्ट झलकती है। शेता न तब तक 'शेता' लिखना ही उन्हें आधुनिक और कलात्मक लगता है - व्यंग्य की एक सूक्ष्म धारा ऐसी 'आधुनिकता' और कलात्मकता के पीछे प्रवहमान है।

०००

निर्मल वर्मा की 'माया का मर्म', 'बेगाटेले' जैसी ही कहानी है। इसमें 'बेगाटेले'

का ही सुमेर है और हेम का नाम बदल कर लता मायुर हो जाता है । इनकी आयु में भारी अंतर है, जिसे पाटने के लिये रोमांस का सहारा लिया गया है । किन्तु एक आलोचक का कहना है कि 'बेरोजगारी भी इसी प्रकार जिन्दगी की व्यापक निरर्थकता को व्यंजित करती है जिसे बहलकेयर कामू 'रेक्सर्ड' कहता है ।^१ फलतः नायक के लिये बेरोजगारी की भावना 'पराधी' बन जाती है, वह इसमें तटस्थ हो जाता है और 'कुट्टी' का सहज भाव अपना लेता है । अब वह सुला हुई प्रकृति के बीच जाता है, और फिर प्रकृति-प्रसन्न एक छोटा-बच्चा का साथ उसे मिल जाता है तो उसे नया वातावरण महसूस होता है । उसे लगता है कि उसकी उम्र कहां बहुत पीछे छूट गयी है, और इस तरह कि जैसे नायक से उसकी उम्र का कोई वास्ता ही नहीं था । यह भावना यथार्थ से दूर लगती है और मात्र वैयक्तिक चिन्तन पर आधारित लगती है । और यह चिन्तन भी इस नायक के लिये - 'मेरा सोचना मेरे जेसा ही बेकार है ।'

'पिक्ली गर्मियों में' (१९६४) कहानी भी विदेशी परिवेश को लेकर नहीं लिखी गयी तो भी यह विदेशी परिवेश की गंध लिये अवश्य है । यह कहानी रुढ़ और स्वीकृत ढाँचे को बुरी तरह ककमोरती है । किन्तु निर्मल वर्मा की पुरानी कमजोरी अतीत में जीने की प्रवृत्ति यहाँ भी है - अतीत का सीमाहीन बिसराव है और छोटे-छोटे टुकड़ों में उसे मन चाहे ढंग से जिया जाता है । 'पिक्ली गर्मियों में' कायुबक यही करता है । कोई सूत्र उसे अतीत में सींचकर ले जाता है और हथर वर्तमान उसके हाथों से सरकता रहता है -- अंत में यह युवक चौंक कर पाता है कि समय बहुत जागे बढ़ गया है । निर्मल वर्मा की कहानियों के बहुत-से पात्र इसी नास्टेलजिया के शिकार हैं और अतीत हर कहीं उनके साथ है । इस कहानी का शिल्प भी अन्य कहानियों की भाँति ही सहज, अनारोपित और प्रयासहीन है तथा केतना-प्रवाह को बहने देने में पूर्ण सक्षम है ।

'डेढ़ इंच ऊपर' (१९६५) कामू के 'द फाल' की प्रेरणा से बोधिल है । इस कहानी में आधुनिक संवेदना में भी अन्तर आ गया है उसे स्पष्टतः जाँका जा सकता है ।

कहानी जहाँ से शुरू होती है, वहाँ इसका अंत हो जाता है। विन्दगी जहाँ से शुरू होती है वहाँ जाकर यह सत्य हो जाता है। इस बीच एक दायरे में चक्कर काटना पड़ता है। थोड़ा होश में रहना होता है। क्योंकि डेढ़ इंच से यदि अधिक ऊपर उठा जाता है तो व्यक्ति हवा में होता है और उसे जीवन का कोई सहसास नहीं होता। और यदि डेढ़ इंच से नीचे गिरा जाता है जीवन बहुत विकृत और बड़ लगता है। इसे शायद यही वाक्य है कि बहुत अधिक यथार्थ भी नहीं सह जा सकता। व्यक्ति के लिये अपने को उससे थोड़ा सा जलम खींचना ही पड़ता है तभी वह जीवन की कुरूपता को सह पाता है। इस वाक्य में कि कुरूपता के जलम कुछ ऐसा भी है जो व्यक्ति को संतुलित और सहज बनाता है। कुरूप को बहन करते-करते व्यक्ति निश्चित ही बहुत थक जाता है और तब उसे परिस्थितियों से मात्र 'डेढ़ इंच ऊपर' उठने पर ही वह सार सौन्दर्य मिल जाता है जो उसे फिर से जीवन में रस लेने के लिये बाध्य करता है। क्योंकि थोड़ा-सा पंतायन बुरा नहीं है - यदि वह राहत देता है तो हाँ डेढ़ इंच से अधिक ऊपर उठ जाने पर क्योंकि अधिक पंतायन करने पर व्यक्ति का जीवन से सम्बन्ध कट जाता है और वह अपने को उस हवा में ही पाता है। मतलब निर्मल वर्मा के अनुसार बाधुनिक युग में संतुलन कास्तर मात्र 'डेढ़ इंच ऊपर' है।

इसका नायक एक बूढ़ा है, जिसकी पत्नी को गेस्टापो पुलिस ने मौत के घाट उतार दिया है। यह अपने जीवन की व्यथता और आतंक को विदेशी शराब लागर में डुबोता है क्योंकि यथार्थ और आदर्श में उसे एक सामंजस्य स्थापित करना है। क्योंकि सहज होकर जीवन जीने के लिये उस बूढ़े को शराब पीकर कटु यथार्थ से 'डेढ़ इंच ऊपर' रहना बहुत आवश्यक लगता है। जीवन की विसंगतियों से इतना 'पंतायन' वह अनिवार्य मानता है।

चेतना की पत्तें इसमें सुलती और बंद होती रहती हैं। 'डेढ़ इंच ऊपर' रहने पर ही चेतना की पत्तें सुली रहती हैं - इसे अधिक ऊपर उठ कर जयवा इस स्तर से नीचे गिर कर सहज जीवन की चेतना लुप्त हो जाता है। सुनेपन की अनुमति भी इसमें बहुत है और वह बिल्ली पालने से और अधिक गहराती है। गेस्टापो पुलिस की गतिविधि दूसरे महायुद्ध के परिणाम को दिखाती है। कहानी का मूल स्वर है -

‘होश में रहना’ । ‘ढेड़ हंच ऊपर’ रहकर भी व्यक्ति होश में रहता है और जीवन की यातना को सहन करने के लिये ‘ढेड़ हंच ऊपर’ उठना अनिवार्य है - इतना ऊपर उठने के बाद भी व्यक्ति होश में रहता है, जीवन से जुड़ा रहता है और इस स्तर से अधिक ऊपर उठ जाने पर व्यक्ति ‘बेहोश’ हो जाता है अथवा इस स्तर से नीचे आ जाने पर यातना इतनी तीव्र हो जाती है कि जीवन मुश्किल हो जाता है । प्रेम और विवाह सम्बन्धी वायुनिक मूल्य भी इस कहानी में ध्वनित होते हैं ।

यह कहानी मानव की अनिश्चित नियति के बारे में अवसाद का ही सूजन करती है, किन्तु यह अवश्य है कि यह अवसाद उथला न होकर बहुत गहरे में है ।

‘पिता और प्रेमी’ (१९६५) काव्योक्तियों और उपमाओं से मरी हुई कहानी है । संदेह की इसमें ‘सी-सा’ से तुलना की गयी है - संदेह ‘सी-सा’ सेत की तरह होता है । अर्थात् जब हम ऊपर होते हैं तो वह नीचे दबा रहता है, और जब हम नीचे आते हैं तो वह ऊपर चला जाता है । कहीं यह संदेह डोर से कटा हुआ, एक पतंग की भाँति लगता है - अवस और हवा में डगमगाता-सा । ‘अमालिमा’ (१९६६) में भी नया स्वर, नया संस्कार, नयी व्यंजना, नयी भाषा तथा नवीन विचार-प्रणाली है । पुरुषों की यहाँ भी मरमार है और उनके समाधान सोचने का प्रयास भी है ।

000

राजेन्द्र यादव की ‘किनारे से किनारे तक’ (१९६३) कहानी-संग्रह की मुख्य कहानी ‘टूटना’ है । ‘टूटना’ (१९६३) सामाजिकता और सोदेस्यता के लिहाज से एक सफल कहानी है । प्रतीकों का बहुत चाव, दुर्बोधिता एवं जटिलता भी इसमें नहीं है । और यह भी ‘बिरादरी बाहर’ जैसी ही श्रेष्ठ कहानी सिद्ध हुई है । वायुनिक संवेतना को वहन करने में यह पूर्ण सक्षम है और सामाजिक जवाबदेही के स्तर पर भी यह सरी उतरी है । कथ्य और शिल्प दोनों की ही इसमें नवीनता है ।

पति किशोर समाज के उस वर्ग से आया था जहाँ एक-एक पैसे का महत्व था। दूसरी ओर पत्नी लीना थी जिसकी रंग-रंग में आभिजात्य वर्ग की नफासत और गरिमा समायी हुई थी। इस आर्थिक वैषम्य ने दोनों के मध्य ऐसी साईं लोढ़ दी जिसे पाटना संभव न था। यौवन की भावुकता में पड़कर लीना इसे पार भी करना चाहती है किन्तु फिर उसे वहाँ दुर्लभ्य लड़ाई का एहसास होने लगता है। और जब किशोर लीना के सामने अपनी हीनता ग्रंथि के कारण अपने को बहुत छोटा और अकिञ्चन पाता है और इस हीन भावना के कारण ही वह मात्र लीना और उसके पिता के ही नहीं, पूरे के पूरे उच्च वर्ग के प्रति ही आक्रोश से भर उठता है। सबसे अधिक आक्रोश उसे दीक्षित साहब, लीना के पिता, पर था। यह संघर्ष इतना बढ़ गया कि पति-पत्नी का साथ रहना मुश्किल हो गया। नारी के भी आज अपने कुछ मूल्य हैं, जिन्हें वह किसी भी कीमत पर छोड़ने के लिये तैयार नहीं है। अब वह घर की स्वामिनी ही नहीं, 'बाहर' भी उसका क्षेत्र है। और घर की बहारदीवारी से बाहर निकलते ही पर-पुरुष की परछाईं से बचने का मूल्य अपने आप ही समाप्त हो गया। अतः पहले पति जहाँ ज़रा-से भी संदेह पर घर में एक तूफान सड़ा कर पैता था वहाँ आज का पति संशय की स्थिति के मध्य भी सख्त भाव से जीने का प्रयास करता है क्योंकि आज के पति को पता है कि पत्नी भी स्वयं अकिञ्चल है और बराबरी का दर्जा रखती है और उसे बंधनों में बांध कर नहीं रखा जा सकता। इसीलिए वह पारिवारिक तथा मानसिक शांति बनाये रखने के लिये यथासंभव परिस्थितियों से समझौता करने का प्रयास करता है, किन्तु 'अलगाव' की साईं अब बहुत गहरी होती है तो वह अपने को फिर विवश पाता है।

लीना का समझौता करने का हर प्रयास रूपकतीय होने के कारण विफल हो जाता है। और इस विफलता पर बात समाप्त नहीं हो जाती है - किशोर और लीना के सामने एक विराट प्रश्न मुंह बार आ लड़ा होता है - अकेलेपन का, साथ रहने की आवश्यकता का।

किशोर की वास्तविक लड़ाई लीना से न होकर लीना के पिता दीक्षित साहब से है। इस अदृश्य, अस्पर्शित और अघोषित लड़ाई में जो अकारण ही सबसे अधिक टूटता है - वह लीना है। दीक्षित जी को हराकर किशोर को परम सुख मिलता है, किन्तु सुख चूँकि कूर होता है, फलतः वह किशोर को भी तोड़ता है।

एक अप्रत्यक्ष और अदृश्य रूप से लड़ी गयी ज़ाई के परिणाम बहुत ही भयंकर होते हैं - एक सुखी दाम्पत्य जीवन का पूर्ण विघटन हो गया है। बाठ वैसे यूँ ही सोकर वन्त में लीना की ओर से समझौते का संकेत कहीं भी अतिरिक्त भावुकता नहीं लिये है और किशोर का दिली जाना केंसित करना यह स्पष्ट संकेत लिये हैं कि वह भी टूटने की उस भयावह अर्थहीन स्थिति से बचना चाहता है क्योंकि किशोर यांत्रिक सम्यता के बीच पैदा हुए मूल्यों में अपने अस्तित्व को अकेले फेल्ता-फेल्ता अब धक गया है।

‘मेहमान’ (१९६८) कहानी तक जाते जाते लगता है कि अब यादव जी में भी सहजता जाती जा रही है और दुःखता का उनका बाग़ुह अब समाप्त हो गया है। इसमें भी नायक मध्यवर्ग का है और उच्च वर्ग से ऐसा ही आक्रांत और नर्वस है। और अपनी यह हीनता, ‘नर्वसनेस’ दुपाने के लिये, वह अपनी पत्नी को दोषी ठहराता है। उसे सहमस्ताह गालियाँ देता है जबकि नायक की सारी दयनीयता के लिये उसकी पत्नी नहीं, नायक की हीनता गुंथि स्वयं उत्तरदायी है।

0000

कमलेश्वर की ‘पराया शहर’ पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें विचारों और सम्बन्धों का स्वरूप है और शहर में जा जाने के बावजूद उनमें कस्बे के प्रति मोह बना ही रहता है। शहरों और महानगरों में एक अलगवाब और कस्बे के अतीत का सम्मोहन संभवतः कमलेश्वर की सभी कहानियों में है। यह कहानी भी सार्थक सवालों की ही तलाश है।

‘जार्ज पंचम की नाक’ का व्यंग्य लेखक के महानगर में जा जाने के बाद - बदला हुआ मनःस्थिति की उपज है। बाज का राजनीतिक जीवन यहाँ व्यंग्यपूर्ण शैली में चित्रित किया गया है। सार्थकता इस कहानी की अन्य विशेषता है। पूरी कहानी ही एक संकेत सी लगती है। कहानी में इससे बहुत ही सूक्ष्मता आयी है और व्यंजना की तीव्रता और प्रभावशीलता में बढ़ हुई है। कमलेश्वर पहले सोद्देश्य लिखते थे और उत्तर देते थे किन्तु अब उन्हें अब सार्थक सवालों की तलाश है - ऐसे सवाल जो जीवन को के सही दिशा दे सकते हैं।

‘एक वशील कहानी’ वस्तुतः बहुत ही संश्लेष एवं साहसपूर्ण कहानी है, जिसमें कमलेश्वर ने मध्यमवर्गीय हिन्दुस्तानी पुरुषजी और उंगली उठाकर, बल्कि उसके बदा पर मुक्का मार कर कहा है कि तुम पुरुष नहीं हो, केवल कार्टून हो, एक अंग्यपूर्ण आमास-मात्र, जो बिना अंधेरे के आवरण के नारी को नारी रूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं। नारी जो केवल शरीर नहीं है, लेकिन सशरीर है। उसमें भी ऐसे नये सवाल डूँढ़े गये हैं जो आज जिन्दगी के, झूठेपड़ जाने के संदर्भ में, संवेदनशील व्यक्ति के अपने परिवेश से और कुछ सीमा तक अपने आप से ही कट जाने के संदर्भ में कुछ सार्थक संकेत दे सकें। किन्तु केवल परिवेश और व्यक्तित्व के अंश पर ही नहीं, यह कहानी मध्यवर्गीय पुरुष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लगा देता है।

‘मांस का दरिया’ (१९६५) शरीर विक्रय करने वाली औरतों की जिन्दगी का नग्न यथार्थ सामने ले आती है। साकेतिकता से पूरी कहानी का संक्राफन हुआ है और पूरी की पूरी कहानी एक संकेत है। यहाँ यथार्थ नग्न अवश्य हुआ है किन्तु उसके पीछे एक निश्चित उद्देश्यपरकता है और तैत्तिक उस गंदी प्रवृत्ति से हमेशा ही बचा रहा है जो ‘ऐसी नग्न स्थितियों’ में अनावश्यक रस लेती है और उद्देश्य को जलम फेंक देती है।

वेश्या-जीवन पर यों कई कहानियाँ लिखी गयी हैं। कभी समस्या के रूप में इनका चित्रण हुआ है, कभी सामाजिक कुरीति की आलोचना के रूप में, और कभी सामान्य व्यक्ति के रूप में। यह कहानी कूपरिन के ‘यमा दि पिट’ (यमा का कटारा) की फलक दे जाती है जिसमें इस जीवन पर परदा नहीं डाला गया है। यह बात सच है कि अब भी अमिबात-कुलीन समाज से बौकल मांस का दरिया बह रहा है और जो चुनौती के रूप में सामने आता है - अर्थात् यहाँ भी कमलेश्वर को वही सार्थक सवालों की तलाश है। वेश्या-समस्या को यहाँ बदले हुए कोण से देखा गया है - जिसमें ठोस बौद्धिक कहणा की व्याप्ति है और इस जीवन के प्रति सोचती हुई गहरी विवृण्णा है।

व्यक्ति इधर इतना प्रतिकूल जाता जा रहा है कि हमारे सामने इस समस्या का जाना आवश्यक था कि - हमारी 'हमोशनल लाइफ' का क्या होगा ? यह वाक्य की ज्वलंत समस्या है । प्रतिकूल होते होते क्या हम मानवीय तौर पर बिल्कुल ही मर जाएंगे ? क्या कोई कोना ऐसा बनेगा जिसमें मनुष्यता मरी होगी और जो जब-तब जीवन के बीहड़ पथ में हमें 'हां' और 'विश्राम' की सुविधा देगा । चाहे वह 'ग्लास टैंक' हो क्या 'फौलाद का आकाश' दोनों ही कहानियों में बात प्रसृत है । 'ग्लास टैंक' में यह बात महत्त्वियों के संदर्भ में कहा गया है ।

'ग्लास टैंक' (१९६३) में भी पति-पत्नी के बीच, पत्नी का प्रेमी - एक 'तीसरा आदमी' प्रवेश करता है । यह 'तीसरा व्यक्ति' अपनी उम्र के कारण ममी और पुत्री नीरू दोनों की ही सहानुभूति का पात्र बन जाता है । नीरू को ममी से भी सहानुभूति है । क्योंकि वह जानती है - ऐसा स्थिति उसके भी जीवन में आ सकती है - और नारी की यह बेकसी और घुटन तब पुत्री नीरू को सहानुभूति से और जागे सह-अनुभूति से भर देती है । यह पुत्री जब मां के प्रति भी सहानुभूति रखती है और मां के प्रेमी - 'तीसरे आदमी' के प्रति भी । स्पष्ट है कि पुत्री, पुत्र की मांति विद्रोही नहीं हो सकती और वह आर्थिक और सामाजिक कारणों से अपने आपको 'ममी' से बंधा हुआ पाती है । नये जमाने की यह पुत्री अपनी मां की बेकसी और किसी अन्य के प्रति भुकाव को बहुत उदारता और क्षेपन से लेती है । 'ग्लास टैंक' में भी 'तीसरा' - स्थिति मात्र बन कर रह जाता है, वर्ण्य या कथ्य नहीं बनता । क्योंकि वहां मां और पुत्री वाली समस्या ही प्रधान रहती है ।

'फौलाद का आकाश' कहानी में भी 'तीसरा आदमी' ही प्रसृत है । नायिका भी रा अपने सहपाठी राजकृष्ण को मूल नहीं सकी, यद्यपि यह 'तीसरा आदमी' राजकृष्ण 'फूटे आदर्शवाद' से में पड़कर उसे और अपने की इत्ता रहा है । यानी वह भी रा से विवाह नहीं करता और मंत्री बन जाता है । और भी रा का विवाह स्टील प्रोजेक्ट के लेबर सहायक - रवि से हो जाता है । यह रवि ऐसा ही कि भीरा को लगता है कि - 'उससे प्यार करते वक्त भी वह मन ही मन चुंबनों की गिनती करता होगा ।' और जागे यही त्रिकोण बार बार सारी कहानी में घूमता रहता है ।

आधुनिक-समाज भी, फौलाद की भांति ही कठोर हो गया है और उसकी मानुष्यता तथा सौन्दर्यप्रियता धीरे-धीरे मरती जा रही है - यह मूल बात है जो कहानी से ध्वनित होती है। नगर जीवन की व्यर्थता यहां भरी भांति चित्रित हुई है। प्रतीक बड़ा स्पष्ट है और व्यापक स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है।

‘फौलाद का आकाश’ की भी मुख्य समस्या है कि सुलाते ताम्बई आकाश के नीचे हमारा ‘स्मोल्ड लाइफ’ का क्या होगा? रवि एक पुंसत्वहीन नायक है। अपने स्टीत प्लांट में हुई स्ट्राइक का फगड़ा सुलझाने के लिए वही अपनी पत्नी को शहर में बाये हुए उसके प्रेमा के पास - मिनिस्टर राजकृष्ण के पास - भेज देता है। यह रवि यांत्रिक तो है ही, साथ ही पुंसत्वहीन भी हो गया है। प्रगति के लिए अपनी पत्नी का ‘उपयोग’ करता है।

‘जस्म’ (१९६४) में मोहन राकेश ‘टूटे हुए’ आदमी को मदिरा पीताकर सांत्वना दिलाने की चेष्टा करते हैं।^१ सांकेतिकता से यहां भी पूरी कहानी का संगुफन हुआ है और प्रतीक योजना आरोपित और दुरुह लगने लगी है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से ही यह कहानी परिचित लगती है। स्थिति को तोड़ने की बात तो इसमें है किन्तु वह मात्र डोल पीठ कर उभले में रह जाती है। कभी इसमें मानव की अनिश्चित नियति का संकेत मिलता है, तो कभी स्थिति तनाव बन जाती है - यह सब आधुनिकता के ‘जार्नल’ है - ‘इसमें उस व्यक्ति का बेहरा केन्द्रित है जो जीवन को अपने तौर पर पीता है और परिवेश में स्वयं को अकेला पाता है।’

‘एक ठहरा हुआ बाकू’ (१९६६) में राकेश जी शहरी जीवन के अपराध-पेक्षा गिरोहों की जिन्दगी को सामने लाये हैं। आज की अराजक स्थिति में हममें जीवन की असुरक्षा का भाव आ गया है - हर वक्त यह भय लगता है कि एक-बाकू हमारे लिये ठहरा हुआ है। यहां व्यक्ति ‘सही’ होता हुआ भी फिटने को और अपने जीवन को समाप्त कर देने का ‘खतरा’ फैलता है क्योंकि वह ‘कमजोर’ है, और समाज के अराजक तत्वों का सामना करने में असमर्थ है। वही से नायक बाकू अपने

१. डा० लक्ष्मीशामर बाबू : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६), स्ताहाबाद, पृ० १०३।

२. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६७), दिल्ली, पृ० ११८।

को जकेला जोर वरक्षित पाता है। वह गुण्डे से वरक्षित है, उससे ज्यादा पुलिस से वरक्षित है, गौंकि बार बार पुलिस उसे सुरक्षा की गारंटी देती है किन्तु यह गारंटी मात्र फूठी सांत्वना भर है क्योंकि आजकल गुण्डों से पुलिस भी डरती है। किन्तु इस कहानी में वास्तव्य तब होता है जब हम पाते हैं कि इतने संकट-बोध के समय भी नायक की मिन्नी के प्रति रोमैण्टिक दिव्यवस्मी कम नहीं होती।

फिर भी आज की सामाजिक अव्यवस्था का 'रिपोर्टर' ने सुलासा चित्रण किया है और अपने को नग्न करने के साथ-साथ उसने अपने समाज को भी नग्न कर दिया है।

'कई एक जकेले' अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन से प्रभावित कहाती है। कथानक का ड्रास यहां कथा-सूत्रों की विस्तृता के रूप में लक्षित होता है। 'साती' (१९६७) में हर पात्र मानसिक रूप से इतना ऊबा हुआ है, हर स्थान पर अपने को 'साती' पाता है। चाहे वह सम्बन्ध हों, चाहे स्थितियां हर जगह आज के ऊबे हुए व्यक्ति को कस सक रिक्तता भर ही मिलती हैं।

इन सभी कहानियों में परिवेश हमेशा ही राकेश के ऊपर हावी हो गया है और वस्तु कैलेंडरमेंट का अंदाज़ भी उनका वही पुराना है। वह सांकेतिक शैली का प्रयास करते हैं किन्तु पाठक पाता है कि शैली स्वभावतः ही इतिवृत्तात्मक हो गयी है। प्रतीकों को होजने का भी कष्ट पाठक को नहीं करना पड़ता - वह कह-कह कर कहानी में पिराये गये हैं - जंगला, ग्लास टैंक, सेफ्टीफिन, फौलाद का वाकाश, जलम, एक ठहरा हुआ चाकू आदि... प्रतीकों की तो मरमार है। साठोचरी कहानी में बहुत ही सूक्ष्मता आती गयी है किन्तु राकेश जो आज भी उसी स्थूल शैली से अपना पीछा नहीं छोड़ा सके हैं - वही सपाट 'सिमलीज़' उनके यहां आज भी मिलती है - 'जैसे वह पुरमरी रास रवि के व्यक्तित्व का हो एक हिस्सा हो जैसे लगता सिगरेट पीने से रवि का शरीर अंदर से बेसा ही हो गया हो।' (फौलाद का वाकाश)।

एक रिक्तता, मन का एक दर्द ही मन्सू मंडारों से कहानियां जिलवाता है ।

‘जुंवाई’ (१९६३) की नायिका परम्परागत नैतिक मूल्यों का उल्लंघन ही नहीं करती अपितु अपनेपति के सामने स्पष्ट शब्दों में उसे स्वीकारने का दुःसाहस भी करती है । वस्तुतः उसके और उसके पति के जीवन-मूल्यों में बहुत अधिक अंतर है । उसके मूल्यों के अनुसार यदि कोई नारी परिस्थितिबल कुछ क्षणों के लिये किसी पुरुष को अपना शरीर समर्पित कर भी देती है, तब भी उसके हृदय की जिस जुंवाई पर उसके पति की प्रतिमा स्थापित होती है, वहां कोई नहीं जा सकता । इसीलिए वह झूठा पश्चाताप दिखाकर कामा याचना द्वारा अपने भविष्य को सुरक्षित रखने के स्थान पर यही बेहतर समझती है कि यदि वैवाहिक सम्बन्धों का आधार इतना हिलता और कमजोर है कि एक हलके से फटके को भी सम्हाल नहीं सकता, तो सर्वमुच उसे टूट जाना चाहिए । मूल्यों का यह अन्तर ही उनके संघर्ष का कारण बन जाता है ।

सेक्स इसमें अपने स्थूल रूप में घटित होता है - पति पत्नी के सम्बन्ध में यदि शरीर दूसरे को दे देने पर ही टूट सकते हैं, तब वे सही माने में सम्बन्ध हैं ही नहीं । उनका आधार कच्चा है, और वे शायद शारीरिक सम्बन्धों के आधार पर ही बने हैं, इससे इतर कुछ नहीं, तब यह सम्बन्ध किसी से भी हो सकते हैं, बनाये जा सकते हैं, फिर पति-पत्नी का ही सम्बन्ध क्यों हो ? पति-पत्नी के शारीरिक सम्बन्ध तो हैं ही, किन्तुसारे सम्बन्ध बस यही सेक्स ही नहीं हैं । सेक्स के अलावा पति-पत्नी के सम्बन्ध बहुत कुछ सामाजिक और मनो-वैज्ञानिक हैं । लेखिका ने यह बात काफी साफ़ तौर पर सामने रखा है कि प्रेम के क्षेत्र में शरीर का लेना-देना बहुत महत्वपूर्ण नहीं है । प्रेम उससे जुंवा है, वह शारीरिक सम्बन्ध मात्र नहीं है अर्थात् यौन पवित्रता न होने पर भी प्रेम अपने ही स्थान पर बना रहता है । यौन अपवित्रता का कारण मानवीय कमजोरी भी हो सकती है । नायिका की पीड़ा को यहां मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है और शिशिर और शिवानी के सम्बन्ध सर्वमुच नहीं टूटते क्योंकि जब से जागे के सम्बन्ध नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्वीकृति और पारस्परिक समझदारी का सुदृढ़ आधार पा लेते हैं । पति-पत्नी की माननात्मक जुंवाई का निवारण इसमें हुआ है ।

‘बंदरराजों’ का साथ (१९६७) में भी यही बात स्पष्ट हुई है कि आज के समाज में पारिवारिक सुरक्षा और स्त्री का व्यक्तित्व दो विरोधी चीजें हैं, जो एक साथ नहीं रह सकतीं। मंजरी की यह बात जैसे सब है कि - इस युग में जाश करना ही मुश्किल है क्योंकि आज विन्द्या का हर पहलू, हर स्थिति और सम्बन्ध एक समाधानहीन समस्या होकर ही जाता है जिसे सुलझाया नहीं जा सकता, केवल मोगा जा सकता है, जिसमें जादवी निरन्तर बिसरता और टूटता चलाता है^१। इसमें दरारों के प्रतीक द्वारा सण्डित-गृहस्थी का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है।

000

‘एक और विदाई’ (१९६४) में उन्मा प्रियंवदा का ध्यान भी बस नारी-पुरुष के सम्बन्धों पर ही अटका है। इसमें स्त्री घर बनाती तो है किन्तु भीतर हमेशा कोलाहल मचा रहता है कि यह घर कहाँ है ? घर पति से होता है, बच्चों से होता है, घर आपस के सम्बन्धों से होता है किन्तु ऐसा ‘घर’ कब वह झुंडती ही रह जाती है।

‘महलियां’ में जटिलता की स्थिति अत्यधिक है। इस जटिलता को पांच स्तरों पर बांका गया है - विजी-मनीश, विजी-नटराजन, मुकी-नटराजन, मनीश-मुकी और विजी-मुकी। इनके आपसी सम्बन्धों की जटिलता ही कहानी का आधार है। पहले कहानी के केन्द्र में विजी है और अन्त में उसका स्थान नटराजन ले लेता है। कहानी का परिवेश विदेशी - अमेरिका में वाशिंगटन है। मनीश बादि से अंत तक मेक्सीको में रहता है - कभी मेक्सिको में, तो कभी कनाडा में। विजी उसकी मोतार है और मनीश से विवाह करने के लिये (असंभव सी बात लगती है!) भारत से, अमेरिका पहुंच जाती है। मनीश का मित्र नटराजन ही उसे हवाई अड्डे पर लेने जाता है और अन्ततः भारत वापस आते समय व विदाई के लिये छोड़ने भी नटराजन ही जाता है। इस बीच विजी-मुकी और नटराजन के सम्बन्धों में जटिलता बाने

लगती है। अन्त में विजी इसे सह नहीं पाती और मुकी के जीवन में एक 'बाग' लगाकर मुकी-नटराजन के पवित्र विवाह पर एक प्रश्न-चिन्ह लगाकर भारत वास चली जाती है।

विजी का स्वभाव उसकी सबसे बड़ी बाधा है। मनीश की आशा समाप्त हो जाने के बाद वह नटराजन को पा सकती थी, किन्तु वह पाना नहीं चाहती। और जब वह देखती है कि वही मुकी जिसने उससे मनीश को छीना था, वही अब नटराजन के साथ सुखी होना चाहती है तो वह यह 'सुख' फल नहीं पाता। चले समय वह मुकी से अपनी और नटराजन की बात सोच कर बता जाती है। अब मुकी से नटराजन वैसे ही छिन गया है जैसे विजी से मनीश छिन गया था - मुकी ने छिन लिया था। अन्त में छोटी महला (विजी) ही बड़ी महला (मुकी) को निगल लेती है। चले समय मुकी से नटराजन को छिनकर विजी ऐसा ही बार करती है। पूरी की पूरी कहानी ही एक संकेत है। संवेदना में भी बहुत गहरे स्तर पर जा कर ही अभिव्यक्त हुई है। अमरातीय परिवेश रसास्वादन में कोई विशेष बाधा नहीं डालता।

'महलियां' मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की संयमित एवं संतुलित अभिव्यक्ति है - मन की विषमताओं में एवं समताएं सभी बड़ी ईमानदारी से चित्रित हुई हैं। दूसरे नगर, समाज, लोगों में अपने अजनबी होने की भावना भी इसमें मरी हुई है। आधुनिकता के बहाने यथार्थ जीवन एवं मानव-मृत्यों के विघटन की गाथा भी यहां वंक्ति की गयी है। अत्यधिक साकेतिकता के कारण कहानी कुछ अधिक ही बौद्धिक हो गयी है।

000

सातवें दशक के कहानीकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम सुरेश सिनहा का निर्विवाद रूप से लिया जा सकता है। जहां मतवादों का आग्रह एवं सेक्सजनित दृष्टिकोण इतना प्रबल हो गया हो कि समूची नई कहानी के घुंक्तके में हो जाने का इतरा पैदा हो गया हो, वहां सुरेश सिनहा कदाचित् सातवें दशक के अकेले कहानीकार हैं जिनका व्यक्ति न 'रक्तपात' करता है, न 'रीश्' करता है, न 'हलांग' लगाता है, बरन् जीवन से निरन्तर जुक्त रहता है। संघर्षों से कतराता नहीं, बरन् साक्षात्कार

करता है। लड़की, शराब, सेक्स और पलायन ही उसके जीवन का सत्य नहीं है, वरन् भविष्य के प्रति वास्था और संकल्प भरी जिंदाजिवा जिसकी धरोहर है। 'कुछ दिन पहले कहानी' रूग्ण यौन विकृतियों का पैम्फलेट बन गई थी। नैतिक यथार्थ के नाम पर काफी लेखकों ने अपने मानसिक दावातियेफ का परिचय दिया... फिर फिर कुछ रचनाएं सामने आई हैं जिनमें समाजवादी यथार्थ की बंजर पड़ी भूमि पर नए अंकुर दिखाई दे रहे हैं। इन रचनाओं के लेखकों के न दाहिने हाथ में अस्तित्ववाद है न बाएं में मार्क्सवाद। उनका नया बादमा हिन्दुस्तान का अपना बादमी है जो थकी हुई जलती बांतों से स्थिति की पहचान कर रहा है।^१ और अन्यत्र वे सुरेश सिनहा की कहानियों के सम्बन्ध में कहती हैं, 'ये कहानियां बाब के जीवन के बहुत निकट हैं। उनमें हमारा यथार्थ झलकता है। उनमें सार्व, कामू या काफू का नहीं, हमारे समाज का बादमी झलकता है। उनमें कहीं आरोपण नहीं लगता।'

एक अन्य विद्वान् समीक्षक के अनुसार '१९६० के पश्चात् नई कहानी में व्यापक सामाजिक सन्दर्भों के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में अमिनव अर्थवत्ता प्रदान करने का बहुत बड़ा भेद्य सुरेश सिनहा को है। १९६० में जहां पिछले दशक के लगभग सभी कहानाकार और आत्मपरक दृष्टिकोण को आत्मसात् कर कहानियां लिखने लगे थे और १९६० के पश्चात् समूची नई उमरने वाली पीढ़ी उसी आत्मपरकता का अनुसरण करने में लगी हुई थी, वहां प्रातिक्षीत दृष्टिकोण लेकर समष्टिगत चिन्तन के आधार पर सामाजिक दायित्व का निर्वहण करने की ओर प्रवृत्त होना एक महत्वपूर्ण बात थी और इसमें अकेले होने पर भी सुरेश सिनहा सफल रहे हैं।' सुरेश सिनहा में 'इस पीढ़ी में औरों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ सामाजिक दृष्टि मिलती है। ये कहानियां साफ-सुथरी हैं।' सुरेश सिनहा की कहानियां नवीनतम यथार्थ को झूती हैं। 'बाब के परिवेश में सम्बन्धों की समस्या मुख्य है। जहां तक मानवीय मूल्यों का सम्बन्ध

१. डा० सावित्री सिनहा : दो दशक क्या यात्रा (१९७०) दिल्ली, पृष्ठ ३१

२. डा० लक्ष्मीशानर बाबर्गीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६), इलाहाबाद, पृष्ठ १५२।

३. डा० देवीशंकर अवस्था : कई आवाजों के बीच (१९६८) इलाहाबाद, मुक्तपृष्ठ।

है, यह प्रश्न महत्व का है। ... उनकी कुछ कहानियाँ इस बोध को गहराई में उजागर करती हैं।^१ 'जाव' के सामाजिक यथार्थ को व्यापक सन्दर्भों में स्पष्ट करने में सुरेश सिनहा को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उनकी सामाजिक चेतना बड़ी प्रसर है जो मन को गहराई से स्पर्श करती है।^२ 'जाव' के संवास को सुरेश सिनहा ने सफलता से पेश किया है।^३ उनका दृष्टि केवल कोवड़ में ही नहीं रखा है। उनसे ऊपर उठकर उन्होंने जावन की विषमताओं को पहचाना है और उसे सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'ये सारे प्रवास एक बड़ी नदी का आमास देते हैं।' अपनी सामाजिक दृष्टि के कारण ही उनकी पीढ़ी में उनका स्वर अधिक सशक्त एवं विशिष्ट बन जाता है।

सुरेश सिनहा की कहानियों की प्रमुख मावभूमि है सर्वांगीण मानवीय विघटन की चुनौतियों का सामना करने का। भौतिक दृष्टि से विकास की बरम सीमा स्पर्श करने पर भी मनुष्य में प्रबल नैतिक निष्ठा विकसित नहीं होने पाई। वह भीतर से कहीं टूट गया और बुरी तरह बिखर गया। ऐसे सुरेश सिनहा ने गहराई से पहचाना है और अनेक कहानियों में बड़ी सशक्तता से उमारा है। 'हालत', 'नया जन्म', 'सीढ़ियों से उतरता सूरज', 'मीड़ का बादमी', 'कुछ मरे हुए और' तथा 'एक अपरिचित दायरा' आदि कहानियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि आधुनिक कसेले एवं विघटनपूर्ण वातावरण में भी सुरेश सिनहा के द्वारा बोध अप्रतिहत रहा और मानव मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा निरन्तर विकसित होती गई। वे बराबर आधुनिक मनुष्य के इस बिखराव को पराजित कर मानवीयता को पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रति बागदशील रहे।

१. डा० बच्चनसिंह : कम्युन (१० नवम्बर, १९६८), बम्बई, पृष्ठ २३।

२. नरेश मेहता : १३ दिसम्बर १९६८ को लिखे गए एक पत्र से उद्धृत।

३. उपेन्द्रनाथ अश्व : हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिक्रम (१९६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४७।

४. डा० इन्दुनाथ मदान : कई आवाजों के बीच (१९६८) इलाहाबाद, मुखपृष्ठ

‘कई बाबाजों के बीच’ (१९६८) उनका पहला कहानी संग्रह है। इन कहानियों में बाज के मनुष्य की गहन आन्तरिक समस्या को उठाया गया है। रोज़मर्रा की जानी पहचानी स्थितियाँ सुरेश सिन्हा को अपूर्व कलात्मक दायता के कारण इतिहास की विराट नियति बन जाती हैं। ‘कई कुहरे’ (१९६६) में बाज का नया व्यक्ति अपनी पूरी मर्यादा और यथार्थ परिवेश के साथ उभरा है। ‘जाने क्यों’ उसे बहसास होता है कि व्यक्ति अब रेडियो की तरह हो गया है। बातों की सूझाँ घुमाते जाइए, विविध टोन सुनाई पड़ते रहेंगे। पल-क्षण में अपने को खोजस्ट कर लेने में इतना व्यस्त व्यक्ति शायद ही कभी रहा हो, पर वह इसे अधिक नहीं सोचता क्योंकि इतिहास में उसकी रुचि नहीं है।^१ ऐतिहासिक नियति की विराटता के सम्मुख सड़ा व्यक्ति सहसा अपने को असाधारण रूप से अकेला पाता है और वह स्वयं में एक युग-व्यापी प्रश्न बन जाता है।

वस्तुतः बाधुनिक मावबोध एवं संकटबोध को सातवें दशक के कुछ ही कहानीकारों ने अपनी कहानियों में ईमानदारी से और गहराई में जाकर उभारा है। ‘बाज के परिवेश में अलगाव, बेगानापन, एलिनिस्शन, गुमशुदा पहचान आदि को बाधुनिक मावबोध के भीतर रखा जा सकता है, पर यह संकट बोध वस्तुतः बोध का संकट है... इस दृष्टि से ‘कई कुहरे’ दृष्टव्य हैं।’^२ इस कहानी के विनय की त्रासदी बाज के किसी भी व्यक्ति की हो सकती है। ‘पल्लवी और विमा बाधुनिक जीवन के वे दो बायाँ हैं जो अतीत और वर्तमान के बीच बाज के मनुष्य को कुचल रहे हैं और वह झुक रहा है उस केन्द्रबिन्दु पर पहुंचने के लिए, जहाँ वह अपने को ठीक से पहचान सके, स्थिर हो सके। ‘कई कुहरे’ रचनात्मक मूल्यों की दृष्टि से अत्यधिक सम्बद्ध है। ‘अन्तर्प्रेरित और अन्तःगृथित इस कहानी में कुहासे-जैसी धूमिलता के बावजूद भी अभिव्यक्ति की बाधा है। सुरेश सिन्हा के उज्ज्वल विनय आकर्षित करते हैं।’^३ वह कहानी जेरे की बीस नहीं, जेरे से निकलने की अकुलाहट है।

१. सुरेश सिन्हा : कई बाबाजों के बीच (१९६८) इलाहाबाद, पृष्ठ २७।

२. डा० बच्चनसिंह : अलगाव, बेगानापन, ‘एलिनिस्शन’, गुमशुदा की पहचान, संकट का बोध और बोध का संकट : धर्मियुग, १० नवम्बर १९६८, सम्बर्ध, पृ० २२-२३।

३. डा० कलाश नारद : नई सदी, अप्रैल १९६६, दिल्ली, पृ० ६०।

‘जाले’ (१९६६) में मानव सम्बन्धों का यही निर्ममता स्पष्ट हुई है। यह ‘पूर्व-स्मृति’ के अन्तर्संघर्ष से जूझते स्वं बिखर रहा मनःस्थितियों का एक बहुत ही यथार्थ चित्र है। एक निश्चित बिन्दु पर जाकर नायक का मन बार-बार बिखर जाता है और उसी बिखराव के जाले में उलझता हुआ वह कुछ मां निर्णय नहीं कर पाता। कहानी समाप्त कर लेने के बाद नायक के अनिर्णय की स्थिति पाठक को क्वोटती है।^१ किन्तु एक समीक्षक के अनुसार ‘जाले’ में प्रणीत मनोज का सम्बन्ध मां वसा ही निर्मम है, जो टूट नहीं पाता। किन्तु ‘कई कुहरे’ का निर्ममता यथार्थ है तो ‘जाले’ की रोमेंटिक अर्थात् भावुकतापरक।^२ इस मत से सहमत होना कठिन है। मां का चरित्र और मनोज की साय भावनात्मक स्तर पर जो उत्प्राव है वह आधुनिक सन्दर्भों को नया अर्थ देता है।

‘मृत्यु और...’ (१९६६) एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहानी है। एक सुविज्ञ ने इसे उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी स्वीकार का है। डा० बच्चनसिंह मां इसे सम्बन्धों की कहानी स्वीकारते हैं। इसी प्रकार ‘हालत’ (१९६७) में अनात का हृदयस्पर्शी गाथा है, जो बाज के समाज की विराट विमोक्षिका को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ध्वनित करती है। ‘यह’ ‘हालत’ शाब्दिक नहीं, अस्तित्वगत है। इसका मृत्युबोध और आतंक स्थितियों से उपजा है, अपने दुःख मूलों से जुड़ा है, मनोविज्ञान से नहीं और वह उस यातना और संशय को ‘जड़ोरे’ नहीं करता, उसके कारणों की जेतना को ध्वनित करता है। अब इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह लेखक का मोगा हुआ यथार्थ है या नहीं। यदि वह केवल संवेदना का ही यथार्थ है तो भी मोगे हुए यथार्थ से अधिक सार्थक है।^३

१. निवेदिता : प्रवेशक जनवरी १९६८, कलकत्ता, पृष्ठ ३६।

२. डा० बच्चनसिंह : धर्मयुग : १० नवम्बर १९६८, बम्बई, पृष्ठ २३

३. डा० धर्मवीर भारती : १६ नवम्बर १९६७ को लिखे गए एक पत्र से उद्धृत।

४. कथाकृत : नई कहानियाँ : (नवम्बर १९६७), दिल्ली, पृष्ठ ११५।

मृत्यु बोध, संन्यास, अकेलापन, यातना, आतंक और विसंगति - शब्दों के बनकोर पूरे आकाश में उड़ रहे हैं, लेकिन इन शब्दों का जहाँ अस्तित्व है, उसकी चुनौती से लगभग हर लेखक अनिराक्षर कर रहा है ; कमरे में बैठा हुआ अपनी सेक्स कुण्ठा से मृत्यु-बोध और संन्यास को 'मौने हुए यथार्थ' की सीढ़ी में पेश किया जा रहा है । लेकिन जहाँ मृत्यु हो रहा है, संन्यास है, वहाँ से वहाँ फेरकर उसे राजनीति समझा जा रहा है और मला एक कलाकार को राजनीति से क्या लेना-देना ? कहने की जरूरत नहीं कि इस राजनीति-हानता को एक अपना राजनीति है जिसके चलते कलावादी रुख अपनाकर तटस्थता और निर्व्यक्तिकता का आध्यात्मिक मंगिमा अपनायी जा रहा है । उस मौने हुए यथार्थ की क्या अहमियत यदि उसने अपना एक नज़रिया न दिया, दृष्टि की सीमारं न खोलीं । 'हालत' कहानी का मूल्यांकन इसी सन्दर्भ में किया जा सकता है । कहानी पढ़ने के बाद बहुत देर तक तन-मन में कंपकपाहट का रहती है । यह उन कहानियों में से है, जो मन पर अपनी छाप छोड़ जाती हैं ।^१

'सुरेश सिन्हा की 'हालत' में भी राजनीतिक नेताओं पर चोट की गई है जो भाषणों से हर समस्या को हल करने की कोशिश करते हैं । इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में सूखे से उत्पन्न अकाल का व्यापक प्रभाव है । कामतानाथ के परिवार के संदर्भ में अनेक परिवारों की छटपटाहट है जबकि राजनीतिक दल केवल अपने 'स्वार्थों' से जुड़े हैं ।... अकाल से उत्पन्न हर हालत को कामतानाथ जैसे लोग कैलते हैं । संघर्ष करते हैं और काबू पाने की कोशिश में लगे रहते हैं ।... यह स्थिति यथार्थ को खोलती है ।^२ आज के युग का चलता हुआ यथार्थ अपने व्यापक घरातल पर इस कहानी में बैठ गया है और हमें गहन अनुभूतियों में डूबो देता है । 'एक अपरिचित दायरा', 'कुछ मोरे हुए और', 'हत्याएँ', 'सामना करने के लिये', 'नया जन्म' तथा 'फातू बादमा' में भी आधुनिक जीवन की विसंगतियों को नर प्रतीकों, बिम्बों के साथ यथार्थ घरातल पर अभिव्यक्ति दी गई है । 'एक कमजोर शास्त्र' में महानगरीय परिवेश

१. से० रा० यात्री : सारिका : जनकरी १९६८ : बम्बई, पृष्ठ ५ ।

२. डा० रामचंद्र मिश्र : सम्पा० - दो दशक का यात्रा (१९७०),

में प्रेम सम्बन्धों की अनिश्चितता और पति-पत्नी में परस्पर समर्पण की जगह महज एक उल्लेखनात्मक रोमैंटिक फाल्सिफ का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है और पाठक मन में ऐसी जिन्दगी के प्रति सच्ची सह-अनुभूति जगाती है ।^१

वास्तव में सुरेश सिनहा कहानी में भी कविता करते हैं और अपनी काव्यमय अनुभूतियों के कारण ही आज के युग-बोध की जटिलता एवं यथार्थ की कटुता को अत्यन्त सहज-स्वाभाविक ढंग से सम्प्रेषित करने में सफल हो जाते हैं । उनका पीढ़ी में उनका यह कलात्मक वैशिष्ट्य ही उन्हें उल्लेखनीय बनाता है । समकालीन संकट की उत्पत्तियों से भरी हुई जटिलता में मानव-मूल्य और मर्यादा को स्थापित तथा विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वाकृति सुरेश सिनहा की कहानियों में स्पष्टतया देखा जा सकती है । मय, संक्रास, कुण्ठा तथा अनास्था के कृत्रिम साहित्यिक वातावरण में भी उन्होंने एक नया स्वस्थ परिवेश दिया है और एक दृष्टि निर्मित करने की चेष्टा की है, जो इतिहास-निर्माण के दायित्व से गहनतम रूप में सम्पृक्त है । मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वाकृति और निष्ठा-पूर्ण वाचरण के कारण ही सातवें दशक के कहानीकारों में ही नहीं, नई कहानी की परम्परा में वे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । सुरेश सिनहा ने प्रेमचन्द की यथार्थ-परम्परा का पूर्ण ईमानदारी से निवाह किया है और बदले हुए कल्प एवं कथन को लेकर उसी मानवीय संवेदनशीलता, यथार्थपरक परिवेश में मानव-मूल्यों की पहचानने तथा विकसित करने की क्षमता एवं विराट जीवन-बोध को यथार्थ तथा सहानुभूतिपरक संस्पर्श देने की प्रयत्नशाली प्रकृति की है ।^२ मानव-गरिमा और आधुनिक संकट के संदर्भ में मानवीय आत्मा के अन्वेषण की दृष्टि से सुरेश सिनहा की कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं ।

०००

ज्ञानरंजन की कहानियों की मुख्य विशेषता व्यंग्य है । ऊबड़-खाबड़ सी लगने वाली

१. डा० रामदरश मिश्र : सम्पा० - दो दशक कथा यात्रा (१९७०), दिल्ली, पृष्ठ ११५ ।

२. डा० लक्ष्मीशानर बाबूजी : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६) बलाहाबाद पृष्ठ १५० ।

बिना तराही भाषा से वे कई बार गम्भीर जीवन ध्वनियां दे जाते हैं और बाज के कटु यथार्थ को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सफल होते हैं। इस दृष्टि से 'फेंस' के 'धर-उधर', 'शेष होते हुए' तथा 'पिता' कहानियां दृष्टव्य हैं। 'शेष होते हुए' में मध्यवर्गीय परिवारों में टूट रहे मानवाय सम्बन्धों को चित्रित किया गया है, जिसके मूल में वार्षिक विडम्बना है। 'पिता' में पीढ़ियों का संघर्ष और व्यक्तित्व की टकराहट है, जो करुणा उपजाती है। 'फेंस' के 'धर उधर' में मानव-मनोवृत्ति का विश्लेषण है। इसी क्रम में 'सीमारं' तथा सम्बन्ध कहानियों को भी रखा जा सकता है। इन कहानियों में, जिनका उत्तम ऊपर किया गया है, तटस्थता के साथ आधुनिक युग-बोध को अभिव्यक्त करने में ज्ञानरंजन सफल रहे हैं। इन कहानियों में दृष्टि साफ और सुथरी है तथा आधुनिकता के जागनों से बने हुए बाज के वान्तरिक संकट को पहचानने का प्रयत्न लक्षित होता है।

किन्तु अगर 'क्षलांग' बादि उनकी जो कहानियां आई हैं, वे बालू फामूलों को लेकर लिखी गई कहानियां हैं, जो केशीय भावुकता और प्रीड़हीनता को ही दर्शाती हैं। इन कहानियों में बीज एक है, जो रूप बदल-बदल कर कही गई है। न उनमें आधुनिक संकट को फेलने की क्षमता है और संघर्ष से साक्षात्कार करने की शक्ति।

ज्ञानरंजन की कहानियों की यह विशेषता स्वीकार की जायगी कि एक जैसी स्थितियां होते हुए भी वे बाज के जीवन को भिन्न-भिन्न कोणों से प्रस्तुत करती हैं। बाज का मध्यवर्ग जिस तरह टूटा है, अनिश्चित भविष्य, सेक्सजनित कुण्ठा तथा सम्बन्धों का विच्छिन्न होना - वार्षिक दबावों से व्यक्ति का बिसरना - यह सब ज्ञानरंजन की कहानियों में सफल ढंग से चित्रित हुआ है, पर उनकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि उनकी परिधि बड़ी संकीर्ण है। उनमें ज़िन्दगी का वह फेलाव नहीं मिलता, जो कि एक कहानीकार की अनिवार्यता होती है।

000

सुरेश सिन्हा और ज्ञानरंजन से भिन्न दुष्कायसिंह की कहानियां एक बला तसबीर प्रेष करती हैं। उनकी कहानियों का मूल विषय सेक्स है। कुंठित, शक्तिहीन, घुटते हुए और गलीब चारणाबों वाला एक व्यक्ति उनकी हर कहानी में उभरता है।

उस पर बाधुनिष्ठा के सभी जागृनि - मय-संवास, वजनबीधन, अलगव और कम्पन - लाव दिए जाते हैं, जिसमें उसका रहा-सहा व्यक्तित्व भी लो जाता है । 'रीछ', 'रक्तपात', 'बासुकर' तथा 'प्रतिज्ञा' बादि कहानियां प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं ।

'सपाट बेहरे वाला बाधमी' की कहानियां पढ़कर लगता ही नहीं कि बाध की अटिक्ता का क्षेत्र कितना व्यापक हो गया है । वान्तरिक संकट में बाध का मनुष्य कुनता जा रहा है - सेक्स या पत्नी या प्रेमिका के लिए नहीं, वरन् अस्तित्व रक्षा की बुनियादी आवश्यकताएं पूरा करने की प्रक्रिया में । भूत, प्यास, बेकारी, राजनीतिक प्रष्टाचार बादि में व्यक्ति विम्पान्त है और वह कितना ही किसी बिन्दु पर लड़े होने की प्रष्टा करता है, उतना ही दजदल में फंसता जाता है । दूधनाथ सिंह की कहानियां इस यथार्थ स्थिति से बड़ी कुशलता से कतरा जाती हैं और रचनाकार अपने कमरे में शब्दों के जाल में एक उत्प्लाव मरी 'फंटेसी' रचता है, जिससे प्रम यह उत्पन्न होता है कि बाध का युग-बोध शायद यही है । लेकिन अगर इन कहानियों के बारीक रेश उमारकर देखे जाएं, तो बसली मुसोटा धुलने में देर नहीं लगती ।

दूधनाथसिंह अपूर्व कलात्मक जामता वाले कहानीकार हैं, पर उनकी कहानियां देखकर निराशा होती है । एक प्रकार से वे निहायत बासी कहानियां लगती हैं । उनमें एक स्वस्थ दृष्टि का जमाव बराबर लटक्ता रहता है । बाकि यही उनकी एक सीमा बन जाती है जहां बाधुनिक संकट को स्पष्ट करने के नाम पर लेखक ने बाध के व्यक्ति को सलीबों पर टांग दिया है और वह कृत्रिम बनता जाता है । उनकी कहानियों में हमें बाध का समाज नहीं मिलता, व्यक्ति की नितान्त निजी कुण्ठारं और ऊब और अनास्था मिलती है । बाध की प्रष्ट सामाजिक संवेदना को अभिव्यक्त करने में वे असमर्थ रहे हैं । केवल कलात्मक संरचना किसी कहानीकार की सफलता नहीं स्वीकार की जा सकती । पिछली पीढ़ी में जो सीमा मोहन राकेश की थी, वही इस पीढ़ी में दूधनाथ सिंह की भी है । क दोनों ही बनेक सम्भावनाओं से पूरित होते हुए भी असमर्थ कहानीकार हैं ।

गिरिराज किशोर ने कुछ उल्लेखनीय राजनीतिक कहानियाँ लिखी हैं। 'मेपरवेट' और 'अलग-अलग कद के दो वादमा' इस दृष्टिसे दृष्टव्य हैं। उन्होंने आज के समाज की विषम स्थिति को कड़ी गहराई से पहचाना है और उसे यथार्थ धरातल पर स्पष्ट करने में सफल रहे हैं। 'पेरी तले दबी परदाइयां' तथा 'बानाने ठिब्बे में मर्द' जीवन की भिन्न स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ हैं।

गिरिराज किशोर की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उनकी दृष्टि स्वस्थ है। उनकी कहानियों में जीवन के विविध पक्ष प्राप्त होते हैं और उन्होंने आज के मनुष्य के वान्तरिक संकट को पहचानने और चित्रित करने का निरन्तर प्रयत्न किया है। सामाजिक संवेदना की दृष्टि से राजनीतिक एवं आर्थिक तनावों को चित्रित करने वाली उनकी कई कहानियाँ हैं, जिनमें आधुनिक जीवन के विभिन्न कोण प्राप्त होते हैं।

000

सुधा बरोड़ा की कहानियों में केशव माधुक्ता एक संघर्ष के बाद नीरस लगने लगती है। उनकी सभी कहानियों का विषय है एक कालेज लड़की, जिसके पीछे दुम हिलाता हुआ एक प्रेमी है, जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। दोनों अनिश्चय की स्थिति में रहते हैं और घुटते रहते हैं। 'मरी हुई शाम', 'एक अविवाहित पृष्ठ', 'एक मेली सुबह', 'बंगर तराई हुर' तथा 'चरित्रहीन' आदि जितनी भी कहानियाँ हैं, इस कथन को स्पष्ट करती हैं।

आधुनिक नारी मन को बूने और उजागर करने का प्रयत्न सुधा बरोड़ा का रहा है, पर उसे प्रौढ़ स्तर पर अभिव्यक्त करने में वे असमर्थ रही हैं। उनमें जीवन का विस्तार नहीं, जीवन का एक लघु सण्ड भी नहीं, बल्कि एक कटा हुआ तिकोना टुकड़ा प्राप्त होता है, जो पूरी तरह कुंठित होता है, अनिश्चित और अंधेरे में डूबा हुआ है। इस अंधकार को चीरने का प्रयत्न भी उनमें लक्षित नहीं होता, हालाँकि उनके पास सहज शक्ति है, जो मन को आकर्षित करता है।

संतोष 'संतोष' मूलतः एक चित्रकार हैं जोर उनका यही कला कहानियों में भी व्यक्त सुस्पष्टता प्रतिबिम्बित हुई है। उनमें सामाजिक जीवन की संवेदनशील विभिन्न स्तरों पर अपनी पूरी विविधता के साथ चित्रित हुई है। एक जोर जहाँ समाज सत्य का उद्घाटन है, वहाँ दूसरी जोर व्यक्ति के अन्तरमन का भी। उन्होंने व्यक्ति और समाज के मध्य नए सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। उनका कहानियों का मूल स्वर वैयक्तिक स्वातन्त्र्य है, जो व्यक्ति को कुंठित या निष्क्रिय नहीं बनाता, बल्कि अपनी निजता एवं वैयक्तिकता की रक्षा करते हुए व्यापक परिप्रेक्ष्य में समाज से जुड़ने की प्रेरणा व्यक्ति को देता है।

'डिफेंस का काम' में राजनीतिक व्यवस्था का पदार्थाश्रय है, तो 'जंग' में व्यक्ति की आर्थिक विवशता एवं दयनीयता का मार्मिक चित्रण है। 'होटा मार्कर' में भी मानवीय घुटन एवं बेवसी को अंकित किया गया है। 'ठहराव' तथा 'अपमान' में वैयक्तिक गंधियों की टकराहट एवं केतना की सूक्ष्म तहरों को उद्घाटित करते हुए लेखक ने आज के युग-बोध को बड़ी कुशलता से उभारा है। 'लेण्ड मास्टर' में मध्यवर्ग की विहम्बना है जोर पुनः लेो समाज का सोलतापन यथार्थ धरातल पर स्पष्ट हुआ है।

वास्तव में संतोष 'संतोष' की वास्तव मानव-मूर्तियों के प्रति गहन रही है। उन्होंने जीवन पर छाये घुंघराके को उकेर कर नकली मुलौटों को चोरने का निरन्तर प्रयत्न किया है, इसीलिए उनकी कहानियों में हमें आज का समाज अपनी विशेषताओं एवं विकृतियों के साथ दिखाई पड़ता है। उनकी सामाजिक प्रतिक्रिया बहुत स्पष्ट है। एक जोर उन्होंने सत्य को सज्जित करने का प्रयत्न नहीं किया है, तो दूसरी जोर आधुनिकता के सभी फूटे जानीनों से बचते हुए व्यक्ति को भीतर से पहचानने और उसके अपने सही सन्दर्भों में परखने का प्रयास किया है और यही उनका कहानियों की सफलता है।

इन कतिपय कहानीकारों के अतिरिक्त सन्तर्वे दशक में कहानीकारों की एक बहुत बड़ी पीढ़ी है, जिनमें अधिकांश का तो कोई व्यक्तित्व भी नहीं बन पाया और वे

कहानीयारा से कट गए । इसका कारण यही रहा है कि विदेशों की नकल की गई संस्कृति या सार्व, कामू तथा काफू का से उधार ले गई शब्दावली पर कोई कहानीकार व्यक्तित्व निर्मित नहीं होता । सातवें दशक की यदि कोई वासदी रही है तो यही कि अधिकांश कहानीकारों ने अपने परिवेश को न तो पहचानने की कोशिश की, न भारतीय सन्दर्भों से जुड़ने का हा । फलतः वे बमत्कार उत्पन्न कर ताण-दोताण के लिए बोंकाने में तो सफल रहे, पर जीवन का विसंगतियों को फेल कर यथार्थ धरातल पर उन्हें स्थापित करने में नितान्त असमर्थ रहे ।

डा० सावित्री सिनहा ने एक स्थान पर ठीक लिखा है कि इन कहानीकारों की मानसिक दृष्टि के फातिज पर जो अनेक तथाकथित नैतिक पात्र सामाजिक सन्दर्भों के साथ उमर रहे हैं परम्परावादी नैतिकता उन्हें निषिद्ध और हेय घोषित कर देगी क्योंकि इन नर मूल्यों और स्थितियों को स्वीकार करने में हमारे संस्कार बाधक बन जाते हैं ।

नर यथार्थवादी मूल्यों एवं नैतिकता के नर मानदण्डों की सोच करने का अभिप्राय संस्कृति की हत्या नहीं होती और न ही परम्परा का अस्वाकृति । नर मानव-मूल्यों को गरिमा देते हुए परम्परा एवं वायुनिकता के बीच सन्तुलन अपने परिवेश और भारतीय सन्दर्भों में ही स्थापित किया जा सकता है । इसका सम्बन्ध दायित्व बोध से है और इसे न पहचान सकने के कारण बड़े उत्साह से जाने वाले सातवें दशक के अधिकांश कहानीकारों का जो हज्र हुआ है, उसे दुहराने की यहां आवश्यकता नहीं है ।

६. उपसंहार

स्वतन्त्रता की स्थापना के साथ ही हमारे जीवन-मूल्य और संदर्भ भी परिवर्तित हो गये। ऐसा कि पिछले बय्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि विभाजन की इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हमारे जीवन पर हुई और हमारी समस्याएं इतनी विषम हो गयीं कि जीवन ही दूमर हो गया। इन कठिन परिस्थितियों का साक्षात्कार करने में तत्कालीन व्यक्तिवादी कहानीकार असमर्थ थे। वे इस काल में रहे और मात्र प्रेम, नारी-सम्बन्ध और अस्वस्थ पलायनवादी व्यक्ति की फूठी कहानियां लिख रहे थे। ऐसा कि पीछे कहा जा चुका है कि इन कहानियों में अन्तर्मुक्ति अत्यधिक गहरी बन चुकी थी। दीनता, हीनता, विवशता ही इन कहानियों का अंग बन चुकी थी। एक विशेष प्रकार की घुटन तथा एकरसता हर तरफ प्राप्त होती थी। उनकी भावुकता तथा वादशैवादिता वस्तुतः निष्क्रिय थी और यथार्थ से पलायन का साधन बन गयी थी। आत्म-विस्मरण तथा आत्म-घात जैसी भावनाएं इन कहानियों का संवादन करती थीं। सभी जैसे 'मानव-मृत्यु' की विवशता से विवश लगते थे। सामाजिक परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता किसी में न थी। आशा की रेखा अस्पष्ट तथा क्षीण, तथा निराशा की भावना गहन, गंभीर रही।

जेनेन्ड, अजेय एवं अन्य व्यक्तिवादी लेखकों की कहानियां सामाजिक समस्याओं तथा पुरुषों का उद्घाटन करने में सफल नहीं हो सकी। व्यक्ति को भी इन्होंने इतना अलग-थलग कर दिया कि उसका वास्तविक यथार्थ भी स्पष्ट नहीं हो सका। जीवन में निस्सारता तथा व्यर्थता का बोध ही अधिक रहा। इन कहानियों का व्यक्ति अपनी वह भावना को सुरक्षित रखने के लिए दार्शनिकता तथा सिद्धांतवादिता का फूटा लबावा ओढ़ लेता है, जो उसे और भी कृत्रिम बना देता है। दर्शन तथा सिद्धांत आत्मरक्षा के लिये केवल कवन का काम देते हैं। इन कहानियों में नारी को प्राचीन सामंती बंधनों से मुक्त करने पर बल तो दिया गया किन्तु यह 'मुक्ति' केवल भावात्मक स्तर पर ही रह गयी। यद्यपि अनेक कहानियों में विशेषतया अश्व और विष्णु प्रभार की कहानियों में मात्र अहं के घेरे से निकलकर निजी मानसिक गांठों को खोलने का प्रयास करते हैं और आत्मविकास के लिये सामाजिक परिवेश को आवश्यक मानते हैं। उनमें यह भावना मिलती है कि व्यक्ति-मानव

को सामाजिक परिवेश से सर्वथा अस्पृक्ष नहीं किया जा सकता । मात्र वैयक्तिक अनुभूतियों का कल्पना से 'नीलम लोके' गढ़ लेना अत्यंत सीमित एवं संछिन्न दृष्टि-कोण था । इससे व्यक्तित्व संकुचित, भावनाएं कुंठित, तथा विचार अस्पष्ट हो गये थे ।

इसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी । जिसने नये प्रजातांत्रिक मूल्यों का रूप निर्धारित किया । यह प्रतिक्रिया नयी कहानी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता में लक्षित होती है जिसने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को पुनर्स्थापित किया और साथ ही व्यक्ति की निष्ठा को भी बनाये रखा ।

व्यक्तिवाद और वैयक्तिक स्वातंत्र्य में अंतर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है । व्यक्तिवाद में व्यक्ति 'वाद' बन गया था । इसके विपरीत व्यक्ति-स्वातंत्र्य में उसकी स्वतन्त्रता और सीमा का विश्लेषण किया गया । नयी कहानी ने प्रजातांत्रिक मूल्यों को नया रूप दिया । इसमें वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर जो आग्रह किया गया वह उन्नीसवीं शताब्दी की कुर्जुवा व्यक्तिवादी विन्तनबारा से नितान्त पृथक् है । बिना वार्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक, वार्थिक या वैयक्तिक स्वातंत्र्य की बात करना अत्यन्त अप्रमूर्ण था । प्रसिद्ध पश्चिमी विचारक स्पेन्स का यह कहना कितावा सार्थक है कि हर महान् जन-क्रांति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-बीज के रूप में स्थित रही है । वास्तव में नयी कहानी जिस वैयक्तिक स्वातंत्र्य की बात करती है, उसका एक अनिवार्य प्रतिपरक सामाजिक महत्व है । पश्चिमी विचारकों ने - मूनियर, बर्देव, कोट्स मेरिटन ने अपने को व्यक्तिवाद से पृथक् करते हुए इसी विचार पर बल दिया है । इन्होंने व्यक्तिवाद को individualism और अपनी वैयक्तिकता को personalism कहा है । इन दोनों का अंतर स्पष्ट करते हुए बर्देव का कहना है कि व्यक्तिवादिता (individuality) वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है, जो असंस्कृत, असामाजिक, अन्ध-प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों तथा सीमाओं की ओर गतिशील करता है । वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आंतरिक धर्म है । विकासोन्मुख सूचनात्मक वृत्ति है, जो स्थायी व्यापक मानवीयमूल्यों को उनकी समग्र

संपूर्णता में पहचान कर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार कर अपने व्यवहार को मर्यादित करता है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है। क्योंकि वैयक्तिकता का स्फुरण मूल्य की समृद्धता की सोच और उसकी स्थापना में ही होता है। प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक से अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक से अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की सोच, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करने, उस शाश्वत को ज्ञान में बांधने और उस ज्ञान में प्रगति या विकास करने को स्वतंत्र रहते हैं।^१ प्रख्यात फ्रेंच अस्तित्ववादी नाट्यकार गेझीत मासेल का भी कहना है कि मरणोन्मुख संस्कृति से अर्थ होता है कि हमारी संस्कृति का आंतरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आंतरिक रुग्णता आ गयी है। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सतारें प्रगति की शत्रु हैं। अतः वे जानबूझ कर मनुष्य की आंतरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुंठित बना रही है। वैयक्तिक आंतरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के ढंग अत्यन्त विचित्र एवं भयावह हैं। व्यक्ति में मर का संचार किया जाता है, सूक्ष्मतम वैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जबर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है।^१

- ० अतः आज नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की मांग की गयी, जो कि वस्तुतः प्रगति की स्वतन्त्रता की मांग थी।
- ० संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखने की मांग भी नयी कहानी की ओर से हुई।
- ० वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ - मूल्यों की सोच, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और वाचरण में इसकी सक्रिय परिणति समझी गयी।
- ० मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बांध, डैम, बिजलीघर, या कारखानों का विकास ही नहीं है, वह मानव की आंतरिकता का विकास भी है। किन्तु

१. डा० धर्मेन्द्र भारती : मानव-मूल्य और साहित्य (१९६०), वाराणसी, पृ० १२
 २. गेझीत मासेल : मेन अगेन्स्ट ह्यूमैनिटी (१९५७), लन्दन, पृ० ६७।

इसे बराबर्ता, उच्चंशुता, निरंकुशता और दायित्वहीनता से सम्बद्ध नहीं किया जाना चाहिए। यह उसी सांस्कृतिक व्यवस्था में संभव है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को सौंज कर, उसके अपनत्व अनुभव कर, उसे अपना स्वधर्म मान कर उसी में अपने अस्तित्व की सार्थकता स्वीकारता है। मूल्यहीन वैयक्तिक स्वातंत्र्य कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार 'नयी कहानी' ने प्रजातांत्रिक मूल्यों का विश्लेषण करके अपनी एक नयी मान्यता सामने रखी और व्यक्ति की निजता को स्वीकारते हुए, समाज का भी उतना ही ध्यान रखा। नयी कहानी वस्तुतः व्यक्ति के आंतरिक विकास की ही अभिव्यक्ति है - उस व्यक्ति की, जो अपनी आंतरिक प्रगति कर गया है, कि अपने में समाज को देखता है और अपने को समाज में। 'समाज मुझमें है और मैं समाज में हूँ' - यह व्यापकता ही इस आंतरिक प्रगति की उपलब्धि है।

ऊपर जिन नये मूल्यों की क्वाँ हुई है, जो व्यक्तिवाद से असंपृक्त और वैयक्तिक स्वातंत्र्य से सम्बद्ध हैं, हिन्दी नव लेखन के मूलधार हैं। नयी कहानी ने सम्पूर्ण मानव विशिष्टता में विश्वास किया और व्यक्ति की निजता को सामाजिक दायित्व-बोध की मर्यादा के साथ सम्बद्ध किया। नव-लेखन ने जिस व्यक्ति को चुना, वह रुग्ण तथा मानसिक रूप से विकृष्ट नहीं है, बल्कि उसमें पीरुष तथा आत्मशक्ति भी है, और परिस्थितियों से झुझने एवं विषमताओं से साक्षात्कार करने की समर्थता भी है। स्वातंत्र्योत्तर काल के नये कहानीकारों ने जीवन की जटिलताओं को निकट से देखने का प्रयत्न किया। नये कहानीकारों ने यह प्रतिपादित किया कि जीवन की व्यापकता और उसका वास्तविक संदर्भ किसी आडम्बर या विशेष मत द्वारा दिखाया नहीं जा सकता। बल्कि वह स्वानुभूति स्वचेतना की वस्तु है। मानव विशिष्टता इसी स्वानुभूति की स्वतंत्रता और स्वचेतना की पवित्रता की जागरूक दृष्टि है, जो सामान्य मानव-वर्ग को समान स्वीकारती है और इसीलिए वह किसी आदर्श या मतवाद से भी अधिक मूल्यवान मानव मात्र के व्यक्तित्व की पवित्रता में विश्वास करती है।

इन नये कहानीकारों में व्यक्तिगत तथ्यों एवं अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को यथार्थ रूप से चित्रित करने की सामर्थ्य थी। इन्होंने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के माध्यम

से समस्त व्यापक जीवन और विश्रुतता को देखने की चेष्टा की, जो सर्वथा नयी दृष्टि थी। इन्होंने कहानियाँ लिखने के साथ-साथ अपनी कहानियों का स्वयं ही मूल्यांकन भी किया। स्वयं बाजोक्त भी होने के कारण यह कहानीकार अपनी कहानी को भी निष्पक्ष पर कस कर देखते और सही उतरने पर ही वह प्रकाशित हो पाती।

एक विद्वान् का कथन है - "बाज की नया पीढ़ी के कहानीकारों की रचनाओं से यह बात बड़ी स्पष्टता से लक्षित होती है कि मनुष्य एक भौतिक इकाई है। वह बाहर से तो सक्रिय रहता है, भीतर से भी सक्रिय रहता है। मनुष्य किसी भी दायण जड़ नहीं है। सामाजिक घात-प्रतिघात से मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रकट करता है। ये कहानियाँ यथार्थ प्रधान होती हैं। उनमें त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान-निरपेक्ष होती हैं। उनमें मानव-मन की गुंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि कुंठित और दमित व्यक्तित्व का चित्रण। मानव-मन की गुंथियों को खोलना एक प्रकार के मानसिक रेचन का उपयोग करना है। फलतः इन कहानियों का व्यक्ति विषमताओं और कुपवृत्तियों से पीड़ित होने पर भी स्वस्थ है। ये रचनाएँ समाज पर करारा व्यंग्य कसती हैं और समाज को अपनी ओर देखने के लिये बाध्य करती हैं। कहना चाहिए कि व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर, फलतः व्यक्ति और समाज में समन्वय उपस्थित कर, नव-सर्वन की उत्कंठा और जीवन परकता व्यक्त करता है। ये कहानियाँ युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहीं नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों की ओर संकेत अवश्य ही है। संकेत इसलिए, क्योंकि बाज की कहानी व्यंग्य प्रधान रहती है। उनका मूलधार मानवतावादी है। मनुष्य में मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी का मांगलिक रूप।"^१

एक अन्य सुवित्र के अनुसार, "साहित्यकार का अवसाद, उसका कुंठा, उसकी घुटन, उसकी निराशा क्या जनता के उद्बुद्ध मानस के अनुकूल है? मुझे तो नहीं लगता। यह दयनीय मनोभाव कष्टकर है। कदाचित् मविष्य के गर्भ में तेजस्वी साहित्य बा

गया है। यह अवसाद उसी का लक्षण है। महान् तेजस्वी जा रहा है। जाने दो, धवराने की आवश्यकता नहीं है।^१

सबमुच इस कुंठा, घुटन, पीड़ा, टूटनी, टेंशन, अंधकार, नीस, बेपनाह दर्द, और अंततः मृत्यु-भाव के पीछे अवश्य ही कुछ 'बच्चा' छिपा होगा, यही कह कर मविष्य के प्रति वास्ता बांधी जा सकती है। अन्यथा और क्या उपाय है? नयी कहानी के लिये नये पाठक की आवश्यकता है? यह शौर भी क्योंकर उठाया गया, समझ में नहीं आता। जब परिस्थितियां बदल रही हैं, परिवेश बदल रहा है, कहानी बदल रही है तो उसका पाठक ही क्यों नहीं बदलेगा? सबमुच पाठक भी आज बदल गया है और नयी कहानी की सम्प्रेषणीयता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। नगेन्द्र जी को भी आश्चर्य है कि 'नया वर्ग कहाँ है?' जिस वर्ग-विशेष के लिये यह साहित्य लिखा गया है--'नया साहित्य जिस विशेष वर्ग के लिये लिखा जा रहा है वह विशेष वर्ग कौन-सा है, इसका अनुसंधान किया जाना चाहिए। स्वतंत्रता के बाद यह कौन-सा नया वर्ग जन्मा है? अब तक का पाठक तो इतना सङ्कटग्रस्त रहा है कि उसने पंत, प्रसाद, निराला, बच्चन और अनेक सब को अपनाया है। इसलिए इस बात की तौज की जानी चाहिए कि नये वर्ग का अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो नये साहित्य की उपयोगिता है।^२ इस बात पर यही कहा जा सकता है कि वायुनिकता परम्परा का ही विकसित रूप है। वायुनिकता संदर्भहीन मूल्य है ही नहीं। वायुनिकता एक ऐसा मूल्य है जो व्यक्तीत को वास्तविक रूप में मविष्य के साथ जोड़ता है। नये कहानीकार ने वायुनिकता को समझा, अपने राष्ट्र को समझा, जनतंत्र को समझा, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक उत्कर्ष का जिम्मेदारी महसूस की और इन सब के बाद 'व्यक्ति' को एक 'नया अर्थ' देना चाहा। व्यक्ति को नये सिरे से परिमाणित करना चाहा। नयी कहानी की यह बेष्टा व्यर्थ नहीं कही जा सकती। हाँ, यह बात और है कि उसकी यह बेष्टा सफल कहाँ तक हुई?

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : बातचीत, अप्रेल-जून १९६७, पृ० ४३

२. डा० नगेन्द्र, धर्मयुग, २६ जनवरी १९६४, पृ० ११

नयी कहानी ने 'नये युग' के विस्तार को 'संभलने' की वांछपूर्ण चेष्टा की है। वस्तुतः विस्तार को सम्हालना और वापस संभल लेना ही नयी कहानी का न्यायन है और साथ ही यही इसकी कला। नयी कहानी संदर्भों, विस्तार के प्रति बहुत ही संवेत रही है। क्योंकि वेकत होती तो यह 'विस्तार' उसकी पकड़ में कभी भी नहीं जाता, छूट जाता और यहाँ वह असफल हो जाती। किन्तु नयी कहानी संवेत रही है और प्रयत्नों में काफी सीमा तक उसने सफलता प्राप्त की।

नयी कहानी ने विदेशी प्रभाव भी अवश्य ग्रहण किये हैं किन्तु अपने यहाँ की सामाजिकता और संस्कृति से भी वह बराबर जुड़ी रही है। फिर भी लोगों का यह कहना बहुत अनुचित नहीं है कि - 'नई कहानियों' में बहुत-से विदेशी अमूर्त प्रभाव हैं जिनमें विचारों और आदर्शों का अभाव नहीं तो उनकी अराजकता है, सामाजिक दायित्व से भाग कर और व्यक्तिवादिता की प्रतिष्ठा है, नवीनता के लिए नवीनता है, स्वाधीनता के नाम पर उग्र रूप से सेंसर के अश्लील, कुंठाग्रस्त चित्रण की परमार है, परम्परा की अवहेलना ही नहीं उसे बतपूर्वक भिन्न करने की प्रवृत्ति है, शिल्प की दृष्टि से अराजकता, विघटन, नीरसता, शुष्कता तथा दुरुक्ता को प्रश्रय देना, कहानी के साधारण पाठक के प्रति उपेक्षा ही नहीं पूर्णा है।

अभिव्यक्ति की सच्चाई, प्रामाणिकता, प्रयोगशीलता की निरंतरता, नये होते रहने की प्रक्रिया, भारतीयता का सार्थक संदर्भ, जीवन दृष्टि की महत्ता, कथ्य का कोण, यथार्थ बोध, अनुभूतिपरकता, जीवन को फेंककर या भाग कर तिसरे की बाह्यता, कथ्य के अपने शिल्प से उद्भूत होने की अनिवार्य स्थिति, टूटे सम्बन्धों के बीच नये मूल्यों की खोज, संवेदनात्मक अभिव्यक्ति, निरन्तर झूठ को हाँटते जाने की अकुलाहट और नयी भाषा की तलाश - ऐसे पन्नाओं का आधारभूत कोण हैं जिनका उत्प्रेत नयी कहानी में हुआ है।

नई कहानी पर इस तरह के लगाए जाने वाले आरोप ग़लत नहीं हैं। पिछले दशक में अधिकांश कहानीकारों ने अपने सामाजिक दायित्व की उपेक्षा की है, यह

निर्विवाद है। कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव जैसे कहानीकार, जिनकी रचनाओं में सामाजिक संवेदना निरन्तर प्राप्त होती थी, और आत्मपरक कहानियाँ लिखने लगे और उनकी कहानियों में तथा जेनेन्द्र, जेम्स एवं इलाबन्द्र जोशी की कहानियों में अन्तर स्पष्ट कर पाना कठिन हो गया। 'तलाश', 'जल्म', या प्रतीक्षा में तथा 'ब-विज्ञान', 'पेगोडा बुझा' तथा 'ढाँसी के नीरस पृष्ठ' में कोई अन्तर नहीं है।

सातवें दशक के भी अधिकांश कहानीकारों ने सेक्सजनित कुण्ठा, शराब और नग्नता को ही चित्रित किया है। देशवाद की राजनीति को स्पष्ट करने में उन्होंने 'कला'वा जो चमत्कार दिखाया है, उतना देश की राजनीति को समझने, आर्थिक विवशताओं में कुबले जा रहे व्यक्ति की दयनीयता को स्पष्ट करने या आधुनिक संकट को फैलने वाले व्यक्ति की मयाँदा अंकित करने में नहीं। पिछले अध्यायों में विस्तृत विश्लेषण से यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

निष्कर्ष यह है कि सामाजिक संवेदना के विविध रूप बहुत ही कम कहानीकारों की रचनाओं में पूरी ईमानदारी से बाज चित्रित हो रहा है। बमवीर भारती, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्म साहनी, सुरेश सिन्हा तथा मन्मू मण्डारी, संतोष 'संतोष' बादि कुछ ही ऐसे कहानीकार हैं, जो अपने सम्पूर्ण लेखन में समाज के लिए प्रतिबद्ध हैं। उनके लिए सण्डित सत्य कोई बर्ष नहीं रहता और अपनी पूरी रचना-प्रक्रिया में उन्होंने मानवाय मूल्य-मयाँदा को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मानव-मूल्य एवं मानव विशिष्टता के प्रति इन कहानीकारों का आग्रह कभी समाप्त नहीं हुआ। यही कारण है कि नई कहानी की जो कहानियाँ उपलब्धियों के रूप में स्वीकारी जाएंगी, वे इन्हीं लेखकों की हैं - बन्धु गली का आखिरी मकान (बम वीर भारती), 'बिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त), 'तीसरी कसम' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'नन्हीं' (शिवप्रसाद सिंह), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'हालत' (सुरेश सिन्हा), 'तीसरा बादमी' (मन्मू मण्डारी) तथा 'डिफेंस का काम' (संतोष 'संतोष') निस्सन्देह वे उपलब्धियाँ हैं, जो स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज की संवेदना को व्यापक चित्रफटक पर प्रस्तुत करती हैं।

अन्य लेखकों की कुछ कहानियां भी इसी संदर्भ में देखी जा सकती हैं। ये वे लेखक हैं, जो सामाजिकता का आग्रह करते आए, पर शीघ्र ही आधुनिकता, फैशन, चमत्कार, मृत्यु, संक्रास, मय एवं 'मेरा हमदर्द : मेरा दोस्त' की मूल-भूलिया में भटक गए और एक दो अच्छी कहानियां लिखने के बाद, जो सामाजिक संवेदना को स्पष्ट करती हैं, घोर आत्मपरकता में लीन हो गए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे चुक गए, पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि विम्बान्त अवश्य हो गई है। 'मलवे का मातिक' (मोहन राकेश), 'तन्दन की एक रात' (निर्मल वर्मा), 'बिरादरी-बाहर' (राजेन्द्र यादव), 'बापसी' (उषा प्रियंवदा), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरंजन) तथा 'नीली फात' (अमलेश्वर) ऐसी ही कहानियां हैं, जिनके रचनाकारों से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं, पर वे आज जो कुछ भी लिख रहे हैं, उस पर किसी भी प्रकार की कोई टिप्पणी देने की आवश्यकता नहीं है।

१. अमृतलाल नागर : पीपल की पत्ती
मेरी प्रिय कहानियाँ (१९७०) दिल्ली ।
पाँचवाँ दस्ता तथा अन्य कहानियाँ (१९७०) इलाहाबाद ।
२. अज्ञेय : अमरवल्ली तथा अन्य कहानियाँ
अयदोल
जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ
पेगोडा वृक्ष तथा अन्य कहानियाँ
ये तेरे प्रतिरूप (१९६६) दिल्ली ।
३. इलाचन्द्र जोशी : डायरी के नीचे पृष्ठ (१९४७) इलाहाबाद ।
मेरी प्रिय कहानियाँ (१९७०) दिल्ली ।
दीवाली और होली (१९७०) इलाहाबाद ।
४. उषा प्रियंवदा : जिन्दगी और गुलाब के फूल (१९६३) दिल्ली ।
एक कोई दूसरा तथा अन्य कहानियाँ (१९६६) दिल्ली ।
५. कमलेश्वर : राजा निरबंशिया (१९५६) इलाहाबाद ।
तोयी हुई दिसाहं (१९६२) दिल्ली ।
श्रेष्ठ कहानियाँ (१९७०) दिल्ली ।
मांस का दरिया (१९६८) दिल्ली ।
६. गिरिराज किशोर : पेपरबैट (१९६८) दिल्ली ।
रिश्ता तथा अन्य कहानियाँ (१९७०) दिल्ली ।
७. जेनेन्द्र कुमार : जेनेन्द्र की कहानियाँ (दसों भाग) दिल्ली ।
८. दुषमाय सिंह : सपाट पेहरे वाला बाबमी (१९६७) दिल्ली ।
९. धर्मवीर भारती : बान्ध और टूटे हुए लोग (१९४७) इलाहाबाद ।
बन्ध गली का बाहिरी मकान (१९६८) बनारस ।

१०. नरेश मेहता : तथापि (१९६१) बम्बई ।
एक समर्पित महिला (१९६८) बनारस ।
११. निर्मल वर्मा : परिन्दे (१९६०) दिल्ली ।
बत्ती फाड़ी (१९६४) दिल्ली ।
१२. कण्णेश्वरनाथ रेणु : ठुमरी (१९६५) दिल्ली ।
जादिम रात्रि की महक (१९६८) दिल्ली ।
१३. भीष्म साहनी : भटक्की रास (१९६७) दिल्ली ।
१४. मन्मू मण्डारी : यही सब है तथा अन्य कहानियां (१९६७) दिल्ली ।
श्रेष्ठ कहानियां (१९६७) दिल्ली ।
एक प्लेट सेलाब (१९६७) दिल्ली ।
तीन निगाहों का एक तस्वीर (१९६८) दिल्ली
१५. मोहन राकेश : बाब के साये (१९६७) दिल्ली ।
रायें रेशे (१९६८) दिल्ली ।
एक-एक दुनिया (१९६८) दिल्ली ।
मिले-जुले चेहरे (१९६८) दिल्ली ।
१६. यशपाल : उतराधिकारी (१९५१) लखनऊ ।
उत्पी की मां (१९५५) लखनऊ ।
सब बोले की मूल (१९६२) लखनऊ ।
फूलों का कुत्ता (१९४६) लखनऊ ।
१७. राजेन्द्र यादव : वहां लक्ष्मी फेद है (१९५०) बनारस ।
सेल-सिलोने (१९५४) बनारस ।
टूटना (१९६७) दिल्ली ।
श्रेष्ठ कहानियां (१९६७) दिल्ली ।
बफे पार (१९६८) दिल्ली ।
किनारे से किनारे तक (१९६८) दिल्ली ।
छोटे-छोटे ताजमहल, दिल्ली ।
१८. विष्णु प्रसाद : बरती अब भी घूम रही है (१९६६) दिल्ली ।

१९. शिवप्रसाद सिंह : उन्हें भी इंतजार है, बनारस ।
 कर्मनाशा की हार (१९६८) बनारस ।
 मुदा सराय (१९६६) बनारस ।
२०. संतोष 'संतोष' : जंग (१९७०) दिल्ली ।
२१. सुधा बरोड़ा : बंगर तराशे हुए (१९६८) इलाहाबाद ।
२२. सुरेश सिनहा : कई आवाजों के बीच (१९६८) इलाहाबाद ।
२३. जानरंजन : फेन्स के इधर-उधर (१९६७) दिल्ली ।

००

वनकुमणिका २ :

| सहायक पुस्तकों की सूची

१. अश्वेय : आत्मनेपद (१९६०) काशी ।
२. अल्बेयर कामू : द मिथ वाफ सिमिफस ।
३. अल्बेयर लेम्ब : क्राइसिस इन कश्मीर (१९६६) लन्दन ।
४. डा० इन्दुनाथ मदान : हिन्दी कहानी (१९६७) दिल्ली ।
५. उपेन्द्रनाथ अक्षर : हिन्दी कहानियां और फेसल (१९६४) इलाहाबाद ।
६. उपेन्द्रनाथ अक्षर : सचर प्रेष्ठ कहानियां (१९५८) इलाहाबाद ।
७. ए० कैम्पबेल जानसन : मिशन विद माउण्टकेटेन (१९५१) लन्दन ।
८. ए० बी० शाह : सम्पा० ट्रेडिशन एण्ड माडर्निटी इन इण्डिया (१९६७) दिल्ली ।
९. एच० गोर्डन गार्बोडियन : अल्बर्ट आइन्स्टीन (१९३९) न्यूयार्क ।
१०. एन० सी० चौधरी : द वाटोबायग्राफी आफ़ सन अननोन इण्डियन (१९५१) लन्दन ।
११. एरिक फ्राम : मार्क्स कान्सेप्ट आफ़ मैन (१९५०) लन्दन ।
१२. एल० एफ० रसबुक : द ग्रेट मैन आफ़ इण्डिया (१९५७) लन्दन ।

१३. कमलेश्वर : नई कहानी की भूमिका (१९६६) दिल्ली ।
१४. कार्ल मार्क्स : कैपिटल, प्रथम भाग ।
१५. क्रिस्टोफर काठवेत : फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर (१९४९) लन्दन ।
१६. ग्रीथ कैलड : पाकिस्तान : ए पोलिटिकल स्टडी (१९५७) लन्दन ।
१७. के० एम० पन्निकर : द फाउण्डेशन्स आफ द न्यू इण्डिया (१९६३) लन्दन ।
१८. ग्रेजील मार्सेल : मेन वगेन्स्ट ह्यूमैनिटी (१९५७) न्यूयार्क ।
१९. चौधरी सलीकुज्जमा : पाथ-वे टू पाकिस्तान (१९५२) लन्दन ।
२०. ज्यां-पाल सार्त्र : एग्जिस्टेन्सियलिज़्म एण्ड ह्यूमैनिज़्म (१९५४) न्यूयार्क ।
२१. ज्यां पाल सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगनेस (१९५६) न्यूयार्क ।
२२. ज्यां पाल सार्त्र : व्हाट इज़ लिटरेचर (१९५८) न्यूयार्क ।
२३. ज्यां-पाल सार्त्र : सिचुएशन्स (१९६५) न्यूयार्क ।
२४. ज्यां-पाल सार्त्र : द्रबुल्ल स्ताप (१९६८) न्यूयार्क ।
२५. जगदीश पाण्डेय : कहानीकार जेनेन्ड ।
२६. जवाहरलाल नेहरू : एन आटोबायोग्राफी (१९३६) लन्दन ।
२७. जान मेण्डर : राइटर एण्ड द कमिटमेन्ट (१९६२) लन्दन ।
२८. जार्ज ल्यूकाच : स्टडीज़ इन यूरोपियन रियालिज़्म (१९५०) लन्दन ।
२९. जे० पी० दातवी : हिमालयन बलण्डर (१९६८) दिल्ली ।
३०. ट्राट्स : सोसल टीचिंग ।
३१. टी० एच० ग्रीन : स्टडीमेन्ट आफ द वेल्थ एण्ड इन्फ्लुएंस आफ द आर्थ आफ फिक्शन इन माडर्न टाइम्स ।
३२. डेनियल डेफो : राबिन्सन क्रूसो ।
३३. डा० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनीषिज्ञान (५० सं०) अलाहाबाद ।
३४. डा० देवीशंकर अवस्थी : सम्पा० नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति (१९६६) दिल्ली ।
३५. डा० कर्नवीर भारती : मानव-मूल्य और साहित्य (१९६०) वाराणसी ।
३६. डा० नगेन्द्र : बालोचक की वास्था (१९६६) दिल्ली ।
३७. डा० नगेन्द्र : वास्था के चरण (१९६७) दिल्ली ।

३८. डा० नामवरसिंह : कानी : नई कहानी (१९६६) इलाहाबाद ।
३९. परसिवल गिफिथ : माडर्न इण्डिया (१९६५) लन्दन ।
४०. पेण्डेरत मून : डिवाइड एण्ड क्विट (१९६१) लन्दन ।
४१. फ्रान्सिस टूकर : व्हास्त मेमोरी सर्व्ज (१९६०) केसले ।
४२. फ्रैंक मोरेत : इण्डिया टूडे (१९६०) बम्बई ।
४३. डा० बच्चनसिंह : समकालीन साहित्य आलोचना की चुनौती (१९६८) बनारस ।
४४. बट्टेण्ड रसेल : द इम्पैक्ट ऑफ साइन्स ऑन सोसायटी (१९५२) लन्दन ।
४५. बी० एम० कौल ६ : अनटोल्ड स्टोरी (१९६७) दिल्ली ।
४६. बेबर : एसेज इन सोशियोलॉजी ।
४७. माइकेल ब्रेजर : नेहरू (१९५९) वाक्सफोर्ड ।
४८. मानकेकर : गिल्टी मेन ऑफ १९६२ (१९६८) दिल्ली ।
४९. मैक्सवेल : इण्डिया चायना वार (१९७०) लन्दन ।
५०. मोहन राकेश : परिवेश (१९६७) काशी ।
५१. मोलाना अबुल कलाम आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम (१९६०) लन्दन ।
५२. राजेन्द्र यादव : एक दुनिया समानान्तर (१९६६) दिल्ली ।
५३. राजेन्द्र यादव : नई कहानी : स्वल्प और संवेदना (१९६८) दिल्ली ।
५४. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा (१९५३) इलाहाबाद ।
५५. डा० राममनोहर लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमाएँ ।
५६. रिचार्ड्स साइमण्ड्स : द मैकिंग ऑफ पाकिस्तान (१९५०) लन्दन ।
५७. रिचार्ड हैयर : रशियन लिटरेचर (१९४७) लन्दन ।
५८. राधाकमल मुखर्जी : द वे ऑफ ह्यूमनिज्म (१९६८) लन्दन ।
५९. डा० लक्ष्मीसागर बाबूजीय : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व (१९६६) इलाहाबाद ।
६०. डा० लक्ष्मीसागर बाबूजीय : हिन्दी साहित्य का इतिहास (द्विटा सं०) इलाहाबाद ।
६१. डा० लक्ष्मीसागर बाबूजीय : बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य - नए सन्दर्भ (१९६७) इलाहाबाद ।
६२. लियोनार्ड मोन्ते : द लास्ट डेज ऑफ द ब्रिटिश राज (१९६१) लन्दन ।
६३. लेविलीन पावीत्र : द ग्लोरी ऑफ लाइफ (१९३८) शिकागो ।

६४. बी० पी० मेनन : द ट्रान्सफर आफ पावर इन इण्डिया (१९५७) तन्दन ।
६५. डा० बीरेन्द्रकुमार कसूबाजा : विधापति विमा (१९७१) दिल्ली ।
६६. डा० विजयेन्द्र स्नातक : सम्पा० कहाना : अनुभव और शिल्प (१९६८) दिल्ली ।
६७. सच्चिदानन्द वात्सायन : हिन्दी साहित्य : एक वास्तविक परिदृश्य (१९६८) दिल्ली ।
६८. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : समाजशास्त्र के मूल स तत्व ।
६९. डा० सावित्री सिनहा : तुला और तारे (१९६७) दिल्ली ।
७०. सी० जा० जुंग : माडर्न मेन इन सर्व बाफ ए सोल (१९३२) न्यूयार्क ।
७१. सी० डी० लेविस् : ए होम फार पोयट्री (१९५४) न्यूयार्क ।
७२. सिगमंड फ्रायड : ब्रिगंड द प्लेजर प्रिंसिपल ।
७३. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास (१९६६) दिल्ली
७४. डा० सुरेश सिनहा : नई कहाना की मूल संवेदना (१९६६) दिल्ली
७५. डा० शशिपूषण सिंहल : हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ (१९७०) वागरा ।
७६. शिवदानसिंह चौहान : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं (१९६३) दिल्ली ।
७७. डा० शिवप्रसाद सिंह : शिखरों का सेतु (१९६८) काशी ।
७८. हजारिप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य (१९५३) दिल्ली ।
७९. ह्यूज टिंकर : एक्सपेरिमेंट विद फ्रीडम : इण्डिया एंड पाकिस्तान (१९६७) तन्दन ।
८०. हेरी के० वेल्स : सिगमंड फ्रायड ।

अनुक्रमिका : ३ ।

। पत्र - पत्रिकाएं

१. सारिका ।
२. निवेदिता ।
३. नई सदी ।
४. अणिमा ।
५. आलोचना ।
६. धर्मयुग ।
७. ज्ञानोदय ।
८. माध्यम ।
९. नवभारत टाइम्स (दिल्ली) ।
१०. दिनमान ।
११. टाइम्स आफ इण्डिया (बम्बई) ।
१२. नई कहानियां ।
१३. लहर ।
१४. कहानी ।